समसामयिक हिंदी कहानियां

अंतर्भारतीय पुस्तकमाला

समसामयिक हिंदी कहानियां

संकलनकर्ता

धनंजय वर्मा

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-1489-0

पहला संस्करण : 1988 (शक 1909)
दूसरी आवृत्ति : 1999 (शक 1920)

Samsamayik Hindi Kahaniyan (*Hindi*)
रू. 35.00
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क,
नई दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित ।

अनुक्रम

समसामयिक कहानी की पहचान

समसामयिक कहानी की प्रामाणिकता की जांच का एक सीधा तरीका यह हो सकता है कि हम उसमें से उभरने वाले आदमी की तस्वीर का जायजा लें और यह तय करें कि वह समकालीन मनुष्य की तस्वीर है या नहीं। समसामयिक कहानी के जरिये सही आदमी की पहचान या उस पहचान के जरिये समसामयिक कहानी की प्रामाणिकता की पड़ताल जितनी आसान, ऊपर से, नजर आती है, उसमें उतने ही खतरे भी हैं, क्योंकि इस रास्ते हमको-आपको बहुत सारी उलझी हुई बातों और मुद्दों को साफ करना है।

सबसे पहले यही तय किया जाय कि समसामयिक कहानियों में से जिस आदमी की तस्वीर उभरती है वह कौन और कैसा है? वह समकालीन वास्तविक मनुष्य के रूपों से कितना मिलता-जुलता या कि अलग है? अव्वल तो आप कह सकते हैं कि लेखक ही वह आदमी होता है जो अपनी रचनाओं में से उभरता है। जो लेखक अपनी रचनाओं में से खुद को उभारते, रचते और बुनते हैं वो आत्म-अभिव्यक्तिवादी कहे जाते हैं। वे खुद को व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अलमबरदार भी कहते हैं, लेकिन वे समकालीन और सामान्य मनुष्य को इतनी भी स्वतंत्रता देना नहीं चाहते कि वह इनकी रचनाओं में से झांक सके। उसे याने अपनी रचना को तो वे अपनी ही मूर्ति घड़ने और फिर-फिर कर घड़ने का माध्यम मानते हैं जोकि मानव मूल्य और नियति की चिंता की मुद्रा उनकी भी होती है। बहरहाल, अब हममें से अधिकांश इस बात की ताईद नहीं करेंगे कि कहानी को इतना आत्म-सीमित और व्यक्तिवादी बना दिया जाय। कहानी इस रूप और नजरिये को काफी पहले छोड़ चुकी है। अब तो वह अपने माध्यम से समय, समाज, परिस्थिति और पूरे परिवेश को मूर्त करने, उसके आमने-सामने आने और उसमें शामिल होकर उसकी चुनौतियों को स्वीकार करने और उनसे टकराने का हथियार हो गयी है। इस दिशा में वह लगातार विकसित हुई और हो रही है। अपने समय, अपने आज, अपनी चौतरफा और जद्दोजहद करती दुनिया के उभरनेवाले अक्स से ही अब कहानी की प्रामाणिकता की जांच हो सकती है। लेखक ने जो भी यथार्थ देखा-भोगा है, उसका अनुभव कितना ही प्रामाणिक हो हम उसकी जांच-परख समकालीन और सामान्य मनुष्य के भोगे

जाते यथार्थ और अनुभव के समानांतर ही करेंगे। इस बहाने हम कोई निर्देश देना नहीं चाहते, वह तो आपको समय देता है और देगा, हम तो उसे सिर्फ रेखांकित ही कर सकते हैं,···फिर यह अक्स ही काफी नहीं होता। जरूरी यह भी है कि उसके प्रति आपका एप्रोच, आपका रुख-नजरिया क्या है और आप उसके जरिये जुड़े किससे हैं।····

यह बात खासी अहम है और समसामयिक कहानीकार इस मामले में खासा चौकस भी है। वह अपनी हैसियत और दर्जा एक साधारण नागरिक से अलग नहीं मानता। हर दिन और हर क्षण होने वाले अंतर्वाह्य अनुभव उसे बार-बार और लगातार एक भयावह युद्ध के बीच ला पटकते हैं। उसकी कोशिश है कि उसकी बात केवल उसकी न रहकर उसके चारों तरफ के उन सब लोगों की हो जिनके बीच वह रहता और रचता है। इसीलिए आप गौर करें समसामयिक कहानी में जो बदलाव आया है उसका बुनियादी आधार ही यह है कि उनमें कहानीकार स्थितियों का महज चश्मदीद गवाह नहीं है, उससे आगे बढ़कर वह उनमें शामिल है और उससे उपजी विसंगतियों और त्रासदियों का वह सहभोक्ता है। समकालीन संदर्भों में प्रामाणिक कहानी वही हो सकती है जो समकालीन आदमी की ही तरह आज की स्थितियों में शामिल और उनसे जूझते हुए पाये गये अनुभव को रचे। मानव अभिव्यक्ति की सारी विधायें जो नयी ताकत और सार्थकता पाती हैं, वह सामान्य मनुष्य की जिंदगी की जमीन पर आकर ही पा सकती है। हम जो जी रहे हैं यदि उसका बिंब-प्रतिबिंब उनमें न हुआ तो किसी भी व्यवस्था के षड्यंत्र को तोड़ा नहीं जा सकता। वह चाहे संबंधों की जड़ता हो या मूल्यों का अवमूल्यन हो, यह सब हवा में नहीं हो रहा है। उसके साफ साफ कारण और जड़ें व्यवस्था में हैं।

समसामयिक प्रामाणिक कहानी इस बात से वाकिफ लगती है। उनमें विरोध की राजनीति और राजनीति-हीनता के अवसरवाद का नकाब भी उलटा हुआ मिलेगा। चीजों और संबंधों के बदले हुए सरगम को उभारकर उनमें समकालीन जिंदगी की केन्द्रीयता भी मिलेगी। उनमें खासी तीखी और तल्ख तकरार है, सामान्य मनुष्य की खीझ, बदहवासी और आक्रामकता भी उनमें है। समसामयिक कहानी प्रतिवाद और प्रतिरोध की कहानी है।···उसका प्रतिवाद और प्रतिरोध हर उस चीज से है जो समकालीन मनुष्य के संकट का कारण है। ऐसा नहीं कि इसके पहले असहमति की कहानियां नहीं लिखी गयीं, लेकिन समसामयिक असहमति की मानसिकता भी बदली हुई है। पहले इन्कार की मुद्रा थी और उसके पीछे था अतीत से लगाव का संस्कार और उससे एक अजब सी दुविधा पैदा हो गयी थी। उसने कृत्रिम द्वंद्वों और विरोधों को भी जन्म दिया

था। परिवेश के माध्यम से व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से परिवेश को पाने या सामयिक यथार्थ के बीच व्यक्ति को प्रतिष्ठित करने की पुरानी प्रतिज्ञा से क्या यह नहीं लगता कि इसमें परिवेश और व्यक्ति को अलग-अलग मान लिया गया है और सामाजिक यथार्थ और वैयक्तिक यथार्थ को दो खानों में बांट दिया गया है। इसी का तो नतीजा है कि लोकप्रिय और साहित्यिक कहानी के भी खाने खिच गये और फिर साहित्य की राजनीति में वक्तव्यों की खासी दिलचस्प लड़ाई भी छिड़ गयी। यथार्थ की अभिव्यक्ति के कायल लोग रूपक से अभिव्यक्ति के यथार्थ की शरण चले गये।……लेकिन वह दौर भी गुजर गया। अब न तो अतीत से लगाव का कोई मोह रह गया है कि किसी का मोह भंग हो और न यथार्थ को सामाजिक और वैयक्तिक के खानों में बांट कर देखा जा सकता है। उनमें एक संश्लिष्टता और आंगिकता का नजरिया विकसित हुआ है और कहानी की चेतना सारी सामाजिक चेतना का अंग और अंश होकर अभिव्यक्त हो रही है।

समसामयिक कहानी में कृत्रिम द्वंद्वों और विरोधों से मुक्ति का एक और स्तर व्यक्त हुआ है : वह है व्यापक छद्म से संघर्ष। यह छद्म है विद्रोह, आक्रामकता और आक्रोश का। अभी बहुत दिन नहीं हुए जबकि सारा वातावरण संवादहीनता, अकेलेपन, अजनबीयत और संत्रास के शब्दोच्चारों से गूंज रहा था। कुछ तो अभी भी उसी की माला जप रहे हैं। इस जाप के साथ एक आक्रोश और आक्रामकता की मुद्रा भी इस बीच कहानी में उभरी और उसका केन्द्र था सिर्फ स्त्री-पुरुष संबंध। इन संबंधों में आये तनाव और ठंडेपन को लेकर कहानियां धीरे-धीरे टूटती हुई एक भयावह दुनिया में उतरने का दावा लेकर आयीं और उनके लेखकों की सारी कोशिश अपनी खोई हुई अस्मिता की तलाश थी। उनका दावा था कि वे ही सही मायनों में समसामयिक हैं लेकिन सच तो यह है कि वे थीं सिर्फ उन लेखकों की नितांत निजी दुनिया की, उनके अपने अंधेरे लोकों की या फिर एक विशेष काट और सांचे में ढले आदमियों की जो आदमी नहीं सिर्फ 'व्यक्ति' होता है और काफी जल्दी यह मालूम हो गया कि चीजों और संबंधों और स्थितियों की बदलाहट या वर्तमान की क्रूरता और भयावहता का नाम लेकर इन कहानियों में लेखकों के सपाट चेहरे ही अधिक उभर रहे थे। ऐसे चेहरे जिन पर जीवन की सीधी रगड़ के निशानात तो गायब थे, था सिर्फ एक बौद्धिक पोज। हम नहीं कहते कि अकेलापन, अजनबीयत या संत्रास परिवेश में कभी-कहीं नहीं रहा; लेकिन सवाल यह है कि उसे आप कहां केन्द्रित कर रहे हैं? किस परिप्रेक्ष्य में उसे देख रहे हैं? उसके प्रति आपका एप्रोच और रुख क्या है?……मजे की बात तो यह है कि जहां यह सब हो रहा है

वहां से तो वो कहानियां और उनके लेखक कटे हुए थे और अपनी व्यक्तिवादी खोल में दुबके एक रहस्यमय और अनाम संत्रास का जाप कर रहे थे या फिर उस सबको आध्यात्मिक और दार्शनिक जामा पहना रहे थे। वो समझना ही नहीं चाहते थे कि आधुनिक स्थितियों में हो रहे समसामयिक अमानवीयकरण, अजनबीयत, अलगाव, अकेलेपन और संत्रास के पीछे एक व्यवस्था है और यह सब पूंजीवादी देशों में अपनी चरम स्थिति पर है क्योंकि वहां बावजूद औद्योगीकरण और यांत्रिक प्रगति के सामान्य मनुष्य की भागीदारी नहीं है। वह तो वहां अपने ही श्रम से कटा हुआ और अजनबी है।

हमारे यहां तो सामान्य मनुष्य चौराहों, बसों, ट्रामों, कारखानों, आफिसों, झुग्गी-झोपड़ियों, फुटपाथों और राशन की लम्बी-लम्बी कतारों में आर्थिक अभावों से जूझता, पारिवारिक संकट झेलता रहा लेकिन इसे लेखकों ने 'भीड़' समझा और उससे सम्बद्धता को राजनीति कह कर अपनी नाक भौं सिकोड़ी। उसकी नियति को अपनी नियति से अलग मानकर वो अपनी अस्मिता की तलाश करते रहे—कला के सुरक्षित लोक में। उन्होंने विद्रोह किया—अपने बूढ़े मां-बाप से या फिर प्रेमिका से, वे आक्रामक हुए—सूने बिस्तरों पर और उनका आक्रोश निकला—पत्नियों पर। मध्यम वर्ग से आये इन लेखकों की वर्गचेतना को लकवा मार गया और वर्ग संघर्ष की एवज में उन्होंने वर्ग सामन्जस्य और सह-अस्तित्व को चुन लिया। अनुभव और लेखन के धरातल पर उनकी मानसिकता में इसीलिए एक खाई आयी जिसे वे कलाकार की तटस्थता या भोक्ता रचनाकार और सर्जक मनीषा के अलगाव की कलावादी धारणा का नाम लेकर छिपाते रहे। जिन्दगी के खांटी तीखे और तल्ख अनुभवों से गुजरने वाला कथाकार अपनी चौतरफा क्रूरताओं से सिर्फ विचार के स्तर पर ही नहीं, जीवन के स्तर पर भी लड़ता है। वह तटस्थ नहीं रह सकता। फिर आखिर तो विचार के स्तर पर लड़ने की ताकत भी तो जीवन के स्तर पर लड़ी जाने वाली लड़ाई से ही आती है।

समसामयिक कहानी के इस परिदृश्य में एक अर्से तक जिस 'समांतर कहानी' का आंदोलन चला उसका परचम लहराते हुए एक लेखक महोदय ने कहा था—'आज का लेखक कलावादी-सौन्दर्यवादी मूल्यों के लिए नहीं लड रहा है। वह लड़ रहा है अपने विचारों के लिए क्योंकि यह नहीं भूलना चाहिए कि सामान्य जन की नियति का निर्णय अभी होना है और इसके लिए आज का लेखक मोर्चे पर सबसे आगे है।'...

यह खासी सामरिक शब्दावली है और किसका मंशा नहीं होगा कि ऐसा हो और यदि यही समसामयिक कहानी की पहचान है तो फिर हम-आपमें इतना साहस और ईमानदारी होनी चाहिए कि वह सीधे-साधे यह घोषित करे कि जो

कहानियां सामान्य जन की नियति और उसके निर्णायक संघर्ष में शामिल नहीं हैं वो समसामयिक कहानियां नहीं हैं। आज भी जो लेखक कलावादी और सौन्दर्यवादी मूल्यों की रक्षा में छाती पीट रहे हैं और भूख और अकाल जैसे व्यापक भारतीय अनुभव और वास्तविकता को कविता की अमूर्त और थरथराती भाषा में पेश करना चाहते हैं उन्हें आप किस हद तक समसामयिक कह सकते हैं ? क्या आप इस बात से इंकार कर सकते हैं कि आज का आदमी विचारों के लिए नहीं, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लड़ रहा है। आज उसका संघर्ष दार्शनिक नहीं, मूलतः आर्थिक है और फिर ऊपर से जो लड़ाई विचारधारा की, आइडियालाजी की और विचारों की नजर आती है उसके पीछे भी तो वर्ग-हित सक्रिय हैं। चुनांचे जो लोग दार्शनिक और वैचारिक संघर्ष को शब्द की प्रथम प्रतिश्रुति मानते हैं उनकी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विचारधारात्मक सम्बद्धताओं को भी हमें समझना होगा। लेखन में से नुमायां होते उनके वर्ग-हितों को भी देखना होगा। क्या अब भी वक्त नहीं आ गया है कि लेखक अपनी सम्बद्धतायें और प्रतिबद्धतायें घोषित करें और लेखन में अपनी रचनात्मक प्रतिश्रुतियां साफ करें।

अभी बहुत अर्सा नहीं हुआ जब 'लेखक तो लेखन के प्रति प्रतिबद्ध है' और कि 'उसकी प्रतिश्रुति तो रचना है' कहकर सह-अस्तित्व और समझौतावादी नीति अख्तियार की जाती रही थी और रोमान और रहस्य के कवियों और लेखकों को अपने साथ लेकर चलने का खतरा साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन ने उठाया था। उसका बहुत सारा खमियाजा हमें रचनात्मक स्तर पर भी भुगतना पड़ा है। यह तो ठीक है कि आप अपने लेखन और अपनी रचना के प्रति प्रतिबद्ध और प्रतिश्रुत हैं लेकिन आपका लेखन और आपकी रचना किसके प्रति प्रतिबद्ध और प्रतिश्रुत है ? वह किसकी पक्षधर है ? वह किसके पक्ष में जा रही है ? क्या यह सवाल भी पूछने का हक हमें और पाठकों को नहीं है ? आज जबकि सारी मानव नियति राजनीति की भाषा में सोची, समझी और तय की जा रही है तब लेखक की खुली या छद्म, चेतन या अचेतन राजनीतिक सम्बद्धता को हम क्योंकर भूल सकते हैं। फिर वह लेखक की जागरूकता ही कैसी जो राजनीति से बेखबर और असम्बद्ध हो ? लेखन और राजनीतिक सम्बद्धताओं को हम कब तक अलग-अलग खानों में रखे रहेंगे। 'लेखन कोई क्रांति नहीं कर सकता' का नारा उछाल कर लेखन के द्वारा परिवर्तन और क्रांति की मानसिकता तैयार करने और सामाजिक रद्दोबदल में उसकी भूमिका से कब तक इंकार किया जाता रहेगा। कहानी अपनी व्यापक संवेदनशीलता के कारण जिस बृहत्तर मानव समाज से जुड़ती है। क्या उसकी हम प्रतिक्रिया और

असर को भी नजरन्दाज किया जाता रहेगा। समसामयिक कहानी में ऐसी कोई गजदन्ती मीनार न तो कभी हो सकती है और न रही है—कम-अज-कम हिन्दी कहानी की अपनी जातीय परम्परा में तो नहीं ही रही है।

चुनांचे मूल मुद्दा है : समकालीन आदमी के संघर्ष से सम्बद्धता का, जीवन की समग्र चेतना का, सामाजिक वास्तविकता के व्यापक अनुभव का। मुक्तिबोध खासे साफ ढंग से कह चुके हैं कि "जो लोग शुद्ध साहित्य अथवा साहित्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बात करते हैं, वे रचना को उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक भूमि से काट देना चाहते हैं।"···कहना न होगा कि समसामयिक हिन्दी कहानी के परिदृश्य में भी ऐसे लोग मौजूद रहे हैं, हैं और रहेंगे लेकिन यहीं सही-गलत का विवेक, एक तीखा आलोचनात्मक विवेक जरूरी है। गौर करें तो ऐसे ही लोग शिल्प-चेतना और कलात्मकता की जोर-शोर से वकालत करते हैं लेकिन उनका शिल्प और उनकी कलात्मकता ही उनकी समग्र मानसिकता समसामयिकता से बेमेल होती है। बदली हुई समसामयिक स्थितियों पर उनकी नजर भी जाती जरूर है, वे उनका किसी हद तक यथार्थवादी चित्रण भी करते हैं लेकिन वे यह जानने की कोशिश नहीं करते कि वे बदली क्यों हैं ? उनके लिए जिम्मेदार कौन है ? कहानी में इस प्रकृतिवाद को मरे बहुत दिन हो गये। उसे अब फिर से नहीं जिलाया जा सकता। कुछ कहानीकार मानव सम्बन्धों में आये संकट को भी खूब उभारते हैं लेकिन उस संकट के पीछे निहित ताकतों को वे शायद समझना नहीं चाहते; क्योंकि ऐसा करते ही उन्हें सीधे-सीधे आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक साजिशों के विरोध में खड़ा होना पड़ेगा। इस सीधी टकराहट से बचकर वे अक्सर ही अपने विरोध का धरातल शाब्दिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक बना लेते हैं। अपने कथ्य में समकालीनता और वर्तमान से टकराहट की खामियों और कमियों को वे शिल्प और भाषा की चतुराई से छिपाना चाहते हैं लेकिन कोई भी चालाकी कथ्य की एवज में टिक नहीं सकती।

ऐसा नहीं कि समसामयिक हिन्दी कहानी शिल्प और भाषा के प्रति सजग नहीं है। नये प्रयोगों के प्रति उसकी जागरूकता में अब अधिक समग्रता आयी है। जिंदगी के सीधे संघर्ष से जो मुहावरा और सहजता आयी है, वह कथ्य की प्रामाणिकता और अनुभव की तात्कालिकता का तकाजा है, जिसे सहज ही पहचाना जा सकता है। जिस अनुभव को पहले लोग विचार या चिंतन की राह भटका कर पेश करते थे उसे समसामयिक कहानीकार अपनी चौतरफा जिंदगी के किसी न किसी हिस्से में होने वाली प्रतिक्रिया का जरूरी हिस्सा और

जुज बनाकर पेश करता है। वह व्यवस्था और राजनीतिक साजिशों पर सीधी चोट करता है।

समसामयिक कहानी और उसकी भाषा में आया जुझारू तेवर और प्रखर प्रत्यक्षता सिर्फ ऊपरी बदलाव नहीं है। उसके पीछे सामान्य मनुष्य के रोजमर्रा अनुभवों का दहकता संसार है। कहानी में यह उसी की भाषा, तेवर और प्रतिक्रियाओं का सीधा प्रतिबिम्ब है। कहानीकार के अपने आसपास के होते-हुए अनुभव संसार में यह वापसी, दरअसल, कहानी की अपनी मूल मानसिकता की ओर वापसी है जहां अनुभव की समकालीनता और उसके दिपदिपाते वर्तमान की अहमियत होती है। समसामयिक कहानी का कथ्य और उसकी दृष्टि भी समकालीन मनुष्य की दुनिया और उसके जद्दोजहद से उपजी है और उसमें उसकी जिंदगी के निर्णायक संघर्ष और उसके अनुभव व्यक्त हो रहे हैं। समसामयिक कहानी अपने समय और परिवेश को व्यक्तिवादी गवाक्ष से नहीं देखती वह तो उन्हें एक खुली और वस्तुपरक जमीन के विस्तार में देखती है और उसमें से उभरता हुआ आदमी अपने समय और संघर्ष का सिर्फ प्रतिनिधि और गवाह नहीं, जुझारू पक्षधर भी होता है। उसका तीखा राजनीतिक और सामाजिक प्रतिवाद, समसामयिक स्थितियों में उसकी खीझ, बौखलाहट और गुस्सा, आज का दहकता हुआ अनुभव है। समसामयिक कहानियां उसे अपने सहज और सीधे कथ्य के जरिए पाठकों तक पहुंचाती है और उनकी अनायास भागीदारी लेकर उनसे सीधे संवाद करती और अपनी सामाजिक व्याख्या देती हैं। उनका अंदाजे-बयां सादा लेकिन सतर्क है। यथार्थ का अन्वेषण या समकालीन मनुष्य को केन्द्रित करने की कोशिश में वे सीधे यथार्थ और केन्द्रीय मनुष्य को रेखांकित करती हैं। वे समसामयिक क्रूर और भयावह वर्तमान को तटस्थ ढंग से पेश न करके मानव नियति पर गहराते इस संकट की घड़ी में एक निश्चित पक्षधरता के साथ क्रांति की आकांक्षा को व्यक्त करती हैं। अपने समय की चुनौतियों से निपटने के लिए उसके तेवर तने हुए, भाषा सीधी चुभती हुई और अभिव्यक्ति एकदम प्रत्यक्ष हो गयी है। यही इनकी व्यापक अपील का बुनियादी कारण है। आज जबकि आदमी वर्गों में विभाजित कर दिया गया है, समसामयिक कहानीकार स्वीकार करता है कि एक सामान्य मनुष्य के रूप में रोजमर्रा जिंदगी के अनुभवों के दौरान आये तमाम खतरों को कहानी के जरिए पेश करने और अपने आसपास के अपने ही जैसे अनगिनत आदमियों में एक बेचैनी और हलचल पैदा करना ही उसका मकसद है।

यों समसामयिक हिन्दी कहानी के अनेक स्तर और आयाम हैं। उसकी रचनात्मकता अनेक वादी और संवादी अन्तःस्वरों से झंकृत है और अनेक

प्रवृत्तियों और धाराओं की यह बहुध्वन्यात्मकता ही उसकी समृद्धि की भी सबूत है।

यह संकलन

यह संकलन नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया के पिछले प्रकाशन 'हिन्दी कहानी' का अगला और पूरक संकलन है। पिछला संकलन हिन्दी कहानी की यात्रा के लगभग आरम्भिक बिंदु से शुरू हुआ था और उसमें चंद्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, रांगेय राघव, फणीश्वरनाथ रेणु, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, अमरकांत, निर्मल वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, ज्ञानरंजन और काशीनाथ सिंह तक की कहानियां संकलित थीं। इसके बावजूद उससे हिन्दी कहानी का परिदृश्य पूरी तरह नहीं उभरता था। उसमें हिन्दी कहानी के विकास और रचनात्मक समृद्धि का प्रतिनिधित्व करने वाले कई महत्वपूर्ण कहानीकार शामिल नहीं किये जा सके थे। न सिर्फ पुरानी और बीच की पीढ़ी बल्कि युवा पीढ़ी के भी कई प्रतिनिधि नाम उसमें छूट गये थे। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी कहानी में आये अनेक आंदोलनों—नयी कहानी, अकहानी, वायु कहानी, अचेतन कहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी आदि—के रचनात्मक प्रतिनिधियों को भी उसमें शामिल नहीं किया जा सका था। यह शायद सम्भव भी नहीं था। किसी भी संकलन की अपनी अपनी सीमायें होती हैं। कुछ और न सही तो आकार और पृष्ठसंख्या का बंधन भी कई-कई सीमा रेखाएं खींच देता है। बहरहाल···

इस संकलन में स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध से लेकर मंजूर एहतेशाम तक की कहानियां एकत्र हैं। एक ओर यहां हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी, अमृतराय, कामतानाथ, रमाकान्त और स्वयं प्रकाश हैं, वहीं दूसरी ओर धर्मवीर भारती, रामकुमार, कृष्ण बल्देव वैद, महीप सिंह, राजी सेठ, रमेश बक्षी, गोविन्द मिश्र और सत्येन कुमार हैं। समसामयिक हिन्दी कहानी की विविधता को उसकी मुमकिन समग्रता में पेश करने की इस कोशिश में इसीलिए वैचारिक सम्बद्धता और विचारधारात्मक प्रतिबद्धता और रचनात्मक ताजगी, समृद्धि और संभावना को ध्यान में रखा गया है। न केवल रूपात्मक विविधता बल्कि हिन्दी कहानी की अपनी जातीय विशेषता को रेखांकित करने के लिए ही कुछ ऐसे कहानीकारों की कहानियां भी शामिल हो गयी हैं जो वैचारिक मतभेद के बावजूद 'यथार्थवाद की विजय' की सबूत हैं।

समसामयिक हिन्दी कहानी के अब तक के विकास के जायजे के लिए 'नयी कहानी' के बाद के कुछ महत्वपूर्ण आंदोलनों के प्रतिनिधि कहानीकारों को भी इसमें शामिल किया गया है और वो कहानीकार भी यहां मौजूद हैं जो इन सारे आंदोलनों, चर्चा, परिचर्चाओं से लगभग असम्पृक्त अपनी रचना निष्ठा को ही समर्पित रहे है।

हमारी भरसक कोशिश रही है कि यथासम्भव वस्तुपरक ढंग से हिन्दी कहानी के समसामयिक परिदृश्य को उसकी मुमकिन समग्रता में प्रस्तुत किया जाय। अपनी इस कोशिश में हमें फिर कुछ प्रतिनिधि और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कहानीकारों का सहयोग प्राप्त नहीं हो पाया। यदि वह हो पाता तो इस संकलन को कुछ और समग्रता और समृद्धि शायद मिल जाती। लेकिन जो नहीं हो पाया, उसका गम क्या, वह नहीं हो पाया।...

—धनंजय वर्मा

एम-433, ई-7, अरेरा कालोनी,
भोपाल–462016

अकाल उत्सव

हरिशंकर परसाई

दरारों वाली सपाट सूखी भूमि नपुंसक पति की संतानेच्छु पत्नी की तरह बेकल नंगी पड़ी है।

अकाल पड़ा है।

पास ही एक गाय अकाल के समाचार वाले अखबार को खाकर पेट भर रही है। कोई 'सर्वे' वाला अफसर छोड़ गया होगा। आदमी इस मामले में गाय-बैल से भी गया-बीता है। गाय तो इस अखबार को भी खा लेती है, मगर आदमी उस अखबार को भी नहीं खा सकता जिसमें छपा है कि अमेरिका से अनाज के जहाज चल चुके हैं। एक बार मैं खा गया था। एक कालम का 6 पंक्तियों का समाचार था। मैंने उसे काटा और पानी के साथ निगल गया। दिन भर भूख नहीं लगी। आजकल अखबारों में आधे पृष्ठों पर सिर्फ अकाल और भुखमरी के समाचार छपते हैं। अगर अकालग्रस्त आदमी सड़क पर पड़ा अखबार उठाकर उतने पन्ने खा ले, तो महीने-भर भूख नहीं लगे। पर इस देश का आदमी मूर्ख है। अन्न खाना चाहता है। भुखमरी के समाचार नहीं खाना चाहता।

हर साल बसंत आता है। हर साल मंगल वर्षा आती है। हर साल शरदोत्सव आता है।

हर साल अकाल आता है जैसे हर साल स्वाधीनता दिवस और गणतंत्र दिवस आते हैं। ये मंगल-उत्सव अपने आप आते हैं। शरद में कोई चांद की प्रार्थना नहीं करता कि हे अमृतघट, उत्सव के लिए अमृत बरसा।

मगर अकाल के लिए बड़ी प्रार्थनाएं, बड़े अनुष्ठान करते हैं। अकाल के लिए इन्द्र-पूजा होती है। पहले इन्द्र-पूजा वर्षा के लिए होती थी। मगर अब अवर्षा के लिए इन्द्र-पूजा होती है। कृष्ण का गोवर्द्धन पर्वत कुछ दिनों में धूल होकर बिखर जायेगा। इंद्र का कोप अब भीषण वर्षा में नहीं अवर्षा में प्रगट होता है। गोवर्द्धन को तस्कर यूरोप में बेच डालेंगे।

बड़ी प्रार्थना होती है। जमाखोर और मुनाफाखोर साल-भर अनुष्ठान कराते हैं। स्मगलर महाकाल को नरमुंड भेंट करता है। इंजीनियर की पत्नी भजन गाती है—'प्रभु, कष्ट हरो सबका।' भगवन, पिछले साल अकाल पड़ा था तब सक्सेना और राठौर को आपने राहत-कार्य दिलवा दिया था। प्रभो, इस साल भी इधर अकाल कर दो और 'इनको' राहत कार्य का इंचार्ज बना दो। तहसीलदारिन, नायबिन, ओवरसीअरन सब प्रार्थना करती हैं। सुना है विधायक-भार्या और मंत्री-प्रिया भी अनुष्ठान कराती हैं। जांच कमीशन के बावजूद मैं ऐसा पापमय विचार नहीं रखता। इतने अनुष्ठानों के बाद इन्द्र देव प्रसन्न होते हैं और इलाके की तरफ से नल का कनेक्शन काट देते हैं।

हर साल वसंत !
हर साल शरद !
हर साल अकाल !

फिर अकाल-उत्सव क्यों न हो जाये ? इसे मनाने की एक निश्चित विधि होती है जैसे दूसरे उत्सवों की होती है। गणतंत्र दिवस पर परेड होती। अकाल में सस्ते गल्ले की राशन दुकान पर भी परेड होती है और ज्यादा जोश से होती है। गणतंत्र परेड कुछ घंटे होती है, अकाल परेड महीने में हर रोज होती है। राशन दुकान पर खाली झोला लिये खड़ी फौज में उन फौजियों से ज्यादा जोश होता है।

साल में 10 महीने पहलवान ऐलान करता है—इस साल वो रियाज किया है कि कोई अखाड़े में मुकाबले में नहीं उतर सकता। चुनौती देता हूं – कोई अप्रैल-मई में लड़ ले। मगर पहलवान को अप्रैल में टाइफाइड हो जाता है और वह कहता है—अब मैं लाचार हूं। टाइफाइड ने सारी बादाम उतार दी।

मंत्री लोग ऐसे ही पहलवान हैं···नौ महीने ताल ठोंकते हैं···अन्न का अभाव सामने आने की हिम्मत नहीं कर सकता। इतने लाख क्विंटल का स्टाक होगा ! 'लेव्ही' ली जायेगी। लड़ ले कोई जमाखोर·· पछाड़ दिया जायेगा।

मगर मई आते ही उसे भी टाइफाइड हो जाता है। कहता है—क्या करूं ? जमाखोरी का 'टाइफाइड' सरकार को हो गया। विरोधी तो विरोधी, अपनी पार्टी के लोग भी रोग के कीटाणु लिये हैं। दवा लेने अमेरिका भेजा है आदमी। मई में वीर मंत्रियों की भी बादाम उतर जाती है।

इधर मैंने देखा, उलटी 'लेव्ही' ली जाने लगी है। एक शहर में भारतीय निगम के गोदाम से गलत नम्बर प्लेट के ट्रक में लदकर 150 बोरे गेहूं जा रहा था कि फाटक पर चौकीदार ने पकड़ लिया। उसने पूछा—यह 'लेव्ही' का गेहूं

कहां जा रहा है ? विभाग के आदमी ने कहा—तुम्हें नया कानून नहीं मालूम ? नये कानून के मुताबिक खाद्य निगम खुद लेव्ही देगा। वही लेव्ही है यह, जो जमाखोर को दी जा रही है। नये आर्डर पूछ लिया करो।

मैं एक विधायक से पूछता हूं—अकाल की स्थिति कैसी है ?

वह चिंतित होता है। मैं समझता हूं, यह अकाल से चिंतित है।

मुझे बड़ा संतोष होता है।

वह जवाब देता है—हां, अकाल तो है, पर ज्यादा नहीं है। कोशिश करने से जीता जा सकता है। सिर्फ 11 विधायक हमारी तरफ आ जायें, तो हमारी मिनिस्ट्री बन सकती है।

हर आदमी का अपना अकाल होता है। इनका अकाल दूसरा है। इन्हें सिर्फ 11 'क्विंटल' विधायक मिल जायें, तो अकाल-समस्या हल हो जाये···सत्ता की।

दिन में यह सब सोचता हूं और रात को मुझे विचित्र सपने आते हैं।

एक रात सपना आया—राष्ट्र ने अकाल-उत्सव मनाना तय कर लिया है। कई क्षेत्रों में हो रहा है। एक क्षेत्र में अकाल-उत्सव मैंने सपने में देखा।

आस-पास के 4-5 गांवों के किसान, स्त्रियां, बच्चे इकट्ठे थे।

पंडाल सजाया गया था। मंत्री अकाल-समारोह का उद्घाटन करने आने वाले थे। पटवारी ने भूखों से चंदा करके गुलाबों की मालाएं कस्बे से बुलवा ली थीं।

स्त्रियां खाली मंगल घटों में सूखे नाले के किनारे की घास रखकर कतार में चल रही थीं। वे गा रही थीं—

'अबके बरस मेघा फिर से न बरसो, मंगल पड़े अकाल रे।'

ओवरसीयर और मेट उनमें से अपने लिए छांट रहे थे...

—साब, उसे देखो कैसी मटकती है।

—अरे, मगर इस सामने वाली को तो देख! दो बार पूरी रोटी खा ले तो परी हो जाये।

—मगर साब, सुना है, तहसीलदार साब भी तबीयत फेंक देते हैं।

—अरे, तो 'थ्रू प्रापर चैनल'! सरकारी नियम हम थोड़े ही तोड़ेंगे।

हड्डी ही हड्डी! पता नहीं किस गोंद से इन हड्डियों को जोड़कर आदमी के पुतले बनाकर खड़े कर दिये गये हैं।

यह जीवित रहने की इच्छा की गोंद है। यह हड्डी जोड़ देती है। आतें जोड़ देती है।

सिर मील-भर दूर पड़ा हो तो जुड़ जाता है।

जीने की इच्छा की गोंद बड़ी ताकतवर होती है।

पर सोचता हूं ये जीवित क्यों हैं।

ये मरने की इच्छा को खाकर जीवित हैं। ये रोज कहते हैं—इससे तो मौत आ जाये तो अच्छा!

पर मरने की इच्छा को खा जाते हैं। मरने की इच्छा में पोषक तत्व होते हैं।

जीने की इच्छा गोंद होती है जो शरीर जोड़े रखती है।

मरने की इच्छा में पोषक तत्व होते हैं।

अकाल-उत्सव शुरू हुआ।

उत्सव में कवि जरूरी होते हैं। वह उत्सव का 'मूड' बनाते हैं। वहां दो कवि भी थे जो समयानुकूल कविता बना लाये थे।

विधायक ने संक्षिप्त भाषण दिया—बड़े सौभाग्य का विषय है कि मंत्री महोदय हमारे बीच पधारे हैं। उन्हें कई उत्सवों का निमंत्रण था, पर इस क्षेत्र के अकाल से उन्हें विशेष प्रेम है, इसलिये वे यहां पधारे। हम उनका स्वागत करते हैं।

माला पड़ी और तालियां पिटीं।

सबसे खूबसूरत तालियां पीटीं मंत्रीजी के आसपास बैठे जमाखोर, मुनाफाखोर, चोरबाजारिये और इनके सरकारी मौसेरे भाइयों ने। तब मंत्रीजी ने भाषण दिया—

"मैं आपका आभारी हूं कि इस अकाल-उत्सव के उद्घाटन के लिए आपने मुझे आमंत्रित किया। अकाल भारत की पुरानी परंपरा है। आप जानते हैं कि भगवान राम के राज्य में भी अकाल पड़ा था। हमारे राज में भी अकाल पड़ता है। हम गांधीजी के आदेश के अनुसार राम-राज ला रहे हैं। अकाल राम-राज का आधार है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम राम-राज का स्वर्ग नहीं ला सकते थे, यदि अकाल न पड़ता। इसलिए अकाल का स्वागत करना चाहिए। अकाल के बिना राम-राज नहीं आ सकता। मेरे विपक्षी मित्र जो भारतीय संस्कृति के पूजक हैं, मुझसे सहमत होंगे कि अकाल हमारी महान् भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख तत्व है। द्रोणाचार्य जैसे वीर तक भूखे मरते थे।

"मेरी इच्छा है, आप खूब खुशी के साथ अकाल-उत्सव मनायें। हम घोर संकट में भी प्रसन्न रहते हैं। आप जानते हैं, प्रियजन की मौत के बाद हम श्राद्ध करते हैं तब हाथ पर मल कर शुद्ध घी की परीक्षा करते हैं और उसका लड्डू खाते हैं।

"मैं अधिक समय नहीं लूंगा क्योंकि रेस्ट हाउस में मेरा मुर्गा पक गया होगा। मेरी कामना है कि उत्सव सफल हो।"

वे बैठ गये।

इसके बाद दो कविताएं हुई—एक गंभीर और दूसरी हास्य रस की।

गम्भीर कवि ने पढ़ा—

स्वागत अकाल ! स्वागत अकाल !
भारत के गौरव के प्रतीक,
गांधी के सपने के प्रतीक
गोदामों में रखी सुरक्षित
हरित क्रांति के प्रिय प्रतीक
मनु भी करते बैठे जुगाल !
स्वागत अकाल ! स्वागत अकाल !

फिर हास्य रस की कविता कवि 'मामा' ने पढ़ी—

मामी बोली मामा से देखो
रोटी तो बिल्ली निगल गयी
मामा बोले रोटी वापस लेने को
तुम निगलो बिल्ली को तुरन्त !

इसके बाद थोड़ी और औपचारिकता के बाद समारोह समाप्त हुआ क्योंकि रेस्ट हाउस में मुर्गे पक कर बांग देने लगे थे। दूसरे दिन से राहत कार्य शुरू हो गये।

मुझे सपने बहुत आते हैं।

मैं देखता हूं—भूखे बिलबिला रहे हैं। मजदूरी पूरी नहीं मिलती। मिलती है तो दाना नहीं मिलता। मिलता है तो महंगा मिलता है। महंगा मिलता है, तो उसमें न जाने क्या-क्या कचरा मिला रहता है।

भूखे और अधमरे चिल्लाते हैं—रोटी नहीं तो उत्सव काहे का ! उत्सव फेल हो गया !

मुझे एक सपना और आता है। कुछ दूसरी पार्टियों के लोग सेठों, जमाखोरों, सूदखोरों, मुनाफाखोरों को लेकर जाते हैं और लोगों से कहते हैं—

तुम्हें रोटी नहीं मिलती। रोटी नहीं मिलती क्योंकि गल्ला नहीं मिलता। गल्ला क्यों नहीं मिलता, क्योंकि ये लोग जो आये हैं, इनका गल्ला सरकार ने दबा लिया है। जबरदस्ती दबा लिया है।

आप लोग बताओ—पीढ़ियों से गल्ला तुम किन्हें बेचते थे ?

लोग बोले—इन आपके साथ के लोगों को। मगर ये लोग···

नेता लोग बोले—'मगर' बंद करो अब। इस सरकार ने इनका खरीदना बंद कर दिया है। फिर बताओ—गल्ला तुम किस से लेते थे ?

लोग बोले—इन्हीं से। मगर···

नेता बोले—पर सरकार ने इनका बेचना भी बंद कर दिया है।

लोगों ने कहा—तो हम लोग क्या करें ? किसके ईमान पर भरोसा करें ?

नेता बोले—अब हमारी बात मानो। इस सरकार का अकाल-उत्सव तुम लोग भुगत चुके। इस सरकार को बदलो। अब हमें वोट दो। हमें विधान सभा और संसद में भेजो। हमारी सरकार बनवाओ। तुम देखोगे कि तुम सब सुखी हो जाओगे। खरीदने वाले खरीदेंगे और बेचने वाले बेचेंगे। यही आदि-काल से चला आ रहा है। यही सनातन धर्म है। हमारे अकाल-उत्सव से तुम्हें कोई शिकायत नहीं होगी।

लोग बोले - मगर····

नेता बोले—तुम बार-बार 'मगर' क्यों बोलते हो ?

मगरमच्छ बोलो न !

मुझे फिर सपना आता है। मैं सपनों से परेशान हूं। वे कितने सुखी हैं, जिन्हें सपने नहीं आते। मुझे लगने लगा है कि वही सुख की गहरी नींद सोता है, जिसे सपने नहीं आते। मेरा पहले ख्याल था कि सूअर और कुत्ता ऐसे प्राणी हैं जिन्हें सपने नहीं आते। पर अब अन्न का दाना न मिलने से चूहे को भी सपने आते हैं।

सपने में देखता हूं कि भूखे लोग तरह-तरह की सरकारें बनाते हैं। अकाल-उत्सव भी मनाते हैं। बड़ा आनन्द है। पर रोटी नहीं मिलती। अन्न नहीं मिलता।

"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा !" मैं दार्शनिक हो जाता हूं। ऋषि शिष्य से ब्रह्म के रूप के बारे में चिंतन करने को कहता है। जिज्ञासु शिष्य उपवास करके चिंतन करता है और भूखा ब्रह्मचारी आकर कहता है—गुरू अन्नं ब्रह्म। अन्न ही ब्रह्म है, गुरू ! अन्न ! अन्न ! इसके बाद ही आनंद ब्रह्म है।

इधर हलचल बढ़ रही है।

न जाने कौन इन लोगों को समझाते हैं कि जो सरकार अकाल को उत्सव मानेगी, रोटी नहीं देगी।

मगर लोगों को उत्सव मनाने की आदत पड़ गयी है।
उत्सव का रूप चाहे बदले, ये उत्सव मनायेंगे।

मुझे भयंकर सपना आता है।

देखता हूं कि अकाल-उत्सव के मूड में ढोलक बजाकर नाचते-गाते भूखे, अधमरे राजधानी में आ गये हैं और बड़ा भयकारी दृश्य मुझे दिखता है।

एक विधायक पहचान का मिलता है। उसका एक हाथ ही नहीं है। आस्तीन से खून टपक रहा है।

मैं पूछता हूं—यह क्या हो गया ?

वह कहता है—वहां अकाल-उत्सव वाले लोग मेरा हाथ खा गये।

किसी विधायक की टांग खा ली गयी है। किसी मंत्री की नाक चबा ली गयी है, किसी का कान !

भीड़ बढ़ती जाती है।

विधायक और मंत्रीगण भाग रहे हैं।

एकाएक सैकड़ों जमाखोरों और मुनाफाखोरों को लोग पकड़ लाते हैं और उन्हें भून रहे हैं। कहते हैं—तुम्हारी भूख इतनी विकट है कि अपना ही भुना गोश्त खाये बिना तुम्हारा पेट नहीं भरेगा।

हमें खाओगे तो भूखे रह जाओगे। हम में खाने लायक कितना कम है।

अब वे पुलिस और रायफल की राह देख रहे हैं।

सारे विधायक भवनों में सन्नाटा !

संसद और उसके अहाते में सन्नाटा !

अब ये भूखे क्या खायें ? भाग्य-विधाताओं और जीवन के थोक ठेकेदारों की नाक खा गये, कान खा गये, हाथ खा गये, टांग खा गये। वे सब भाग गये। अब क्या खायें ?

अब क्या खायें ! आखिर वे विधान-सभा और संसद की इमारतों के पत्थर और ईंटें काट-काट कर खाने लगे।

भयंकर सपना ! मेरी नींद टूट गयी। मैं पसीने से लथपथ हो जाता हूं। घबड़ाहट होती है। क्या करूं ? सपना ही तो है—यह सोचकर शांत होना चाहता हूं।

मगर चैन नहीं मिलती। मानस चतुश्शती वर्ष है, इसलिए मैं 'रामचरित-

मानस' श्रद्धापूर्वक फिर से पढ़ रहा हूं । मैं 'रामचरितमानस' उठा लेता हूं । इससे शांति मिलेगी ।

यों ही कोई पृष्ठ खोल लेता हूं ।

संयोग से 'लंका-कांड' निकल पड़ता है ।

मैं पढ़ता हूं । अशोक वाटिका में त्रिजटा सीताजी को धीरज बंधाती है ।

त्रिजटा को भी मेरी तरह सपना आया था ।

त्रिजटा मुझसे अधिक देखती और समझती थी । उसे बहुत आगे दिखता था । वह कहती है—

यह सपना मैं कहौं विचारी ।
हुइहै सत्य गये दिन चारी ॥

गुलकी बन्नो

धर्मवीर भारती

"ऐ मर कलमुंहे !" अकस्मात् घेघा बुआ ने कूड़ा फेंकने के लिए दरवाजा खोला और चौतरे पर बैठे मिरवा को गाते हुए देखकर कहा, "तोरे पेट में फोनोगिराफ उलियान बा का, जौन भिनसार भवा कि तान तोड़ै लाग ? राम जानै, रात के कैसन एकरा दीदा लागत है !" मारे डर के कि कहीं घेघा बुआ सारा कूड़ा उसी के सर पर न फेंक दे, मिरवा थोड़ा खिसक गया और ज्यों ही घेघा बुआ अंदर गयीं कि फिर चौतरे की सीढ़ी पर बैठ, पैर झुलाते हुए उसने उलटा-सुलटा गाना शुरू किया, "तुमें बछ याद कलते अम छनम तेली कछम !" मिरवा की आवाज सुनकर जाने कहां से झबरी कुतिया भी कान-पूंछ झटकारते आ गयी और नीचे सड़क पर बैठकर मिरवा का गाना बिलकुल उसी अन्दाज में सुनने लगी जैसे हिज मास्टर्स वायस के रिकार्ड पर तसवीर बनी होती है।

अभी सारी गली में सन्नाटा था। सब से पहले मिरवा (असली नाम मिहिर-लाल) जागता था और आंख मलते-मलते घेघा बुआ के चौतरे पर आ बैठता था। उसके बाद झबरी कुतिया, फिर मिरवा की छोटी बहन मटकी और उसके बाद एक-एक कर गली के तमाम बच्चे—खोंचे वाली का लड़का मेवा, ड्राइवर साहब की लड़की निरमल, मनीजर साहब के मुन्ना बाबू—सभी आ जुटते थे। जब से गुलकी ने घेघा बुआ के चौतरे पर तरकारियों की दूकान रखी थी तब से यह जमावड़ा वहां होने लगा था। उसके पहले बच्चे हकीम जी के चौतरे पर खेलते थे। धूप निकलते गुलकी सट्टी से तरकारियां खरीद कर अपनी कुबड़ी पीठ पर लादे, डण्डा टेकती आती और अपनी दूकान फैला देती। मूली, नींबू, कद्दू, लौकी, घिया-बण्डा, कभी-कभी सस्ते फल ! मिरवा और मटकी जानकी उस्ताद के बच्चे थे जो एक भयंकर रोग में गल गल कर मरे थे और दोनों बच्चे भी विकलांग, विक्षिप्त और रोगग्रस्त पैदा हुए थे। सिवा झबरी कुतिया के और

कोई उनके पास नहीं बैठता था और सिवा गुलकी के कोई उन्हें अपनी देहरी या दूकान पर चढ़ने नहीं देता था।

आज भी गुलकी को आते देखकर सबसे पहले मिरवा गाना छोड़कर बोला, "छलाम गुलकी !" और मटकी अपने बढ़ी हुई तिल्ली वाले पेट पर से खिसकता हुआ जांघिया सम्हालते हुए बोली "एक ठो मूली दै देव ! ए गुलकी !" गुलकी पता नहीं किस बात से खीजी हुई थी कि उसने मटकी को झिड़क दिया और अपनी दूकान लगाने लगी। झबरी भी पास गयी कि गुलकी ने डण्डा उठाया। दूकान लगाकर वह अपनी कुबड़ी पीठ दुहरा कर बैठ गयी और जाने किसे बुड़बुड़ा कर गालियां देने लगी। मटकी एक क्षण चुपचाप खड़ी रही, फिर उसने रट लगाना शुरू किया, "एक मूली ! ए गुलकी ! एक...." गुलकी ने फिर झिड़का तो चुप हो गयी और अलग हटकर लोलुप नेत्रों से सफेद धुली हुई मूलियों को देखने लगी। इस बार वह बोली नहीं। चुपचाप उन मूलियों की ओर हाथ बढ़ाया ही था कि गुलकी चीखी, "हाथ हटाओ। छूना मत। कोढ़िन कहीं की ! कहीं खाने पीने की चीज देखी कि जोंक की तरह चिपक गयी, चल उधर !" मटकी पहले तो पीछे हटी पर फिर उसकी तृष्णा ऐसी अदम्य हो गयी कि उस ने हाथ बढ़ाकर एक मूली खींच ली। गुलकी का मुंह तमतमा उठा और उसने बांस की खपच्ची उठाकर उसके हाथ पर चट से मारी ! मूली नीचे जा गिरी और "हाय ! हाय ! हाय !" कर दोनों हाथ झटकती हुई मटकी पांव पटक-पटक कर रोने लगी। "जावो अपने घर रोवो ! हमरी दूकान पर मरने को गली भर के बच्चे हैं—" गुलकी चीखी ! 'दूकान दैके हम बिपता मोल लै लिया। छन भर पूजा-भजन में भी कचरघांव मची रहती है !" अन्दर से घेघा बुआ ने स्वर मिलाया। खासा हंगामा मच गया कि इतने में झबरी भी खड़ी हो गयी और लगी उदात्त स्वर में भूकने। "लेफ्ट राइट ! लेफ्ट राइट।" चौराहे पर तीन चार बच्चों का जलूस चला आ रहा था। आगे आगे दर्जा ब में पढ़ने वाले मुन्ना बाबू नीम की सण्टी को झण्डे की तरह थामे जलूस का नेतृत्व कर रहे थे, पीछे थे मेवा और निरमल। जलूस आकर दूकान के सामने रुक गया। गुलकी सतर्क हो गयी। दुश्मन की ताकत बढ़ गयी थी।

मटकी सिसकते सिसकते बोली, "हमके गुलकी मारिस है। हाय ! हाय ! हमके नरिया में ढकेल दिहिस। अरे बाप रे !" निरमल, मेवा, मुन्ना सब पास आकर उसको चोट देखने लगे। फिर मुन्ना ने ढकेल कर सब को पीछे हटा दिया और सण्टी लेकर तन कर खड़े हो गये, "किस ने मारा है इसे !"

"हम मारा है !" कुबड़ी गुलकी ने बड़े कष्ट से खड़े होकर कहा, "का करौगे ? हमें मारौगे !" "मारेंगे क्यों नहीं ?" मुन्ना बाबू ने अकड़ कर कहा।

गुलकी इसका कुछ जवाब देती कि बच्चे पास घिर आये। मटकी ने जीमी निकाल कर मुंह बिराया, मेवा ने पीछे जाकर कहा, "ए कुबड़ी, ए कुबड़ी, अपना कूबड़ दिखाओ !" और एक मुट्ठी धूल उसकी पीठ पर छोड़ कर भागा। गुलकी का मुंह तमतमा आया और रूंधे गले से कराहते हुए उसने पता नहीं क्या कहा। किन्तु उसके चेहरे पर भय की छाया बहुत गहरी हो गयी थी। बच्चे सब एक एक मुट्ठी धूल ले कर शोर मचाते हुए दौड़े कि अकस्मात् घेघा बुआ का स्वर सुनाई पड़ा, "ए मुन्ना बाबू, जात हौ कि अबहिन बहिन जी का बुलवाय के दुई चार कनेठी दिलवायी !" "जाते तो हैं !" मुन्ना ने अकड़ते हुए कहा, "ए मिरवा, बिगुल बजाओ !" मिरवा ने दोनों हाथ मुंह पर रख कर कहा, "धुतु-धुतु-धू।" जलूस चल पड़ा और कप्तान ने नारा लगाया—

अपने देस में अपना राज !

गुलकी की दूकान बाईकाट !

नारा लगाते हुए जलूस गली में मुड़ गया। कुबड़ी ने आंसू पोंछे, तरकारी पर से धूल झाड़ी और साग पर पानी के छींटें देने लगी।

गुलकी की उम्र ज्यादा नहीं थी। यही हद से हद पचीस-छब्बीस। पर चेहरे पर झुर्रियां आने लगी थीं और कमर के पास से वह इस तरह दोहरी हो गयी थी जैसे अस्सी वर्ष की बुढ़िया हो। बच्चों ने जब पहली बार उसे मुहल्ले में देखा तो उन्हें ताज्जुब भी हुआ और थोड़ा भय भी। कहां से आयी ? कैसे आ गयी ? पहले कहां थी ? इसका उन्हें कुछ अनुमान नहीं था। निरमल ने जरूर अपनी मां को उसके पिता ड्राइवर से रात को कहते हुए सुना "यह मुसीबत और खड़ी हो गयी। मरद ने निकाल दिया तो हम थोड़े ही यह ढोल गले बांधेंगे। बाप अलग हम लोगों का रुपया खा गया। सुना चल बसा तो डरी कि कहीं मकान हम लोग न दखल कर लें और मरद को छोड़कर चली आयी। खबरदार जो चाभी दी तुमने।"

"क्या छोटेपन की बात करती हो। रुपया उसके बाप ने ले लिया तो क्या हम उसका मकान मार लेंगे ? चाभी हमने दे दी है। दस पांच दिन का नाज-पानी भेज दो उसके यहां।"

"हां-हां, सारा घर उठा के भेज देव। सुन रही हो घेघा बुआ।"

"तो का भवा बहू, अरे निरमल के बाबू से तो एकरे बाप की दांत काटी रही।" घेघा बुआ की आवाज आयी—"बेचारी बाप की अकेली सन्तान रही। एही के बियाह में मटियामेट हुई गवा। पर ऐसे कसाई के हाथ में दिहिस कि पांच बरस में कूबड़ निकर आवा।"

"साला यहां आवे तो हण्टर से खबर लूं मैं।" ड्राइवर साहब बोले, "पांच बरस बाद बाल-बच्चा हुआ। अब मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ तो उस में इस का क्या कसूर। साले ने सीढ़ी से ढकेल दिया। जिन्दगी भर के लिए हड्डी खराब हो गयी न। अब कैसे गुजारा हो उसका ?"

"बेटवा एको दुकान खुलवाय देव। हमरा चौतरा खाली पड़ा है। यही रुपया दुइ रुपया किराबा दै देवा करै, दिन भर अपना सौदा लगाय ले। हम का मना करित हैं ? एत्ता बड़ा चौतरा मुहल्लेवालन के काम न आयी तो का हम छाती पर धै लै जाब ! पर हां, मुला रुपया दै देवा करै।"

दूसरे दिन यह सनसनीखेज खबर बच्चों में फैल गयी। वैसे तो हकीम जी का चबूतरा बड़ा था, पर वह कच्चा था, उस पर छाजन नहीं थी। बुआ का चौतरा लंबा था, उस पर पत्थर जड़े थे। लकड़ी के खंभे थे। उस पर टीन छायी थी। कई खेलों की सुविधा थी। खंभों के पीछे किलकिल कांटे की लकीरें खींची जा सकती थीं। एक टांग से उचक-उचक कर बच्चे चिबिड्डी खेल सकते थे। पत्थर पर लकड़ी का पीढ़ा रख कर नीचे से मुड़ा हुआ तार घुमा कर रेलगाड़ी चला सकते थे। जब गुलकी ने अपनी दुकान के लिए चबूतरों के खंभों में बांस बांधे तो बच्चों को लगा कि उनके साम्राज्य में किसी अज्ञात शत्रु ने आकर किलेबंदी कर ली है। वे सहमे हुए दूर से कुबड़ी गुलकी को देखा करते थे। निरमल ही उसकी एकमात्र संवाददाता थी और निरमल का एकमात्र विश्वस्त सूत्र था उसकी मां। उससे जो सुना था उसके आधार पर निरमल ने सबको बताया था कि यह चोर है। इसका बाप 100 रुपया चुरा कर भाग गया। यह भी उसके घर का सारा रुपया चुराने आयी है। "रुपया चुरायेगी तो यह भी मर जायेगी।" मुन्ना ने कहा, "भगवान् सबको दण्ड देता है।" निरमल बोली, "ससुराल में भी रुपया चुराये होगी।" मेवा बोला, "अरे कूबड़ थोड़े है। ओही रुपया बांधे है पीठ पर। मनसेधू का रुपया है।" "सचमुच ?" निरमल ने अविश्वास से कहा। "और नहीं क्या। कूबड़ थोड़े है। है तो दिखावै !" मुन्ना द्वारा उत्साहित होकर मेवा पूछने ही जा रहा था कि देखा साबुन वाली सत्ती खड़ी बात कर रही है गुलकी से—कह रही थी, "अच्छा किया तुमने ! मेहनत से दुकान करो। अब कभी थूकने भी न जाना उसके यहां। हरामजादा, दूसरी औरत कर ले, चाहे दस और कर ले। सब का खून उसी के मत्थे चढ़ेगा। यहां कभी आवे तो कहलाना मुझसे। इसी चाकू से दोनों आंखें निकाल लूंगी।"

बच्चे डर कर पीछे हट गये। चलते-चलते सत्ती बोली, "कभी रुपये पैसे की जरूरत हो तो बताना बहिना।"

कुछ दिन बच्चे डरे रहे। पर अकस्मात् उन्हें यह सूझा कि सत्ती को यह कुबड़ी डराने के लिए बुलाती है। इसने उनके गुस्से में आग में घी का काम किया। पर कर क्या सकते थे। अन्त में उन्होंने एक तरीका इजाद किया। वे एक बुढ़िया का खेल खेलते थे। उसको उन्होंने संशोधित किया। मटकी को लैमजूस देने का लालच देकर कुबड़ी बनाया गया। वह उसी तरह पीठ दोहरी कर के चलने लगी। बच्चों ने सवाल-जवाब शुरू किये—

"कुबड़ी-कुबड़ी का हेराना ?"
"सुई हिरानी।"
"सुई लैके का करबे ?"
"कंथा सीबै !"
"कंथा सी के क्या करबे ?"
"लकड़ी लाबै !"
"लकड़ी लाय के क्या करबे ?"
"भात पकइबे !"
"भात पकाय के का करबे ?"
"भात खाबै !"
"भात के बदले लात खाबे ?"

और इसके पहले कि कुबड़ी बनी हुई मटकी कुछ कह सके, वे उसे जोर से लात मारते और मटकी मुंह के बल गिर पड़ती, उसकी कोहनियां और घुटने छिल जाते, आंख में आंसू आ जाते और होठ दबाकर वह रुलाई रोकती। बच्चे खुशी से चिल्लाते "मार डाला कुबड़ी को। मार डाला कुबड़ी को।" गुलकी यह सब देखती और मुंह फेर लेती।

एक दिन जब इसी प्रकार मटकी को कुबड़ी बना कर गुलकी की दुकान के सामने ले गये तो इसके पहले कि मटकी जबाब दे, उन्होंने अनचित्ते में उसे इतनी जोर से ढकेल दिया कि वह कुहनी भी न टेक सकी और सीधे मुंह के बल गिरी। नाक, होठ और भौंह खून से लथपथ हो गये। वह "हाय ! हाय !" कर इस बुरी तरह चीखी कि लड़के "कुबड़ी मर गयी !" चिल्लाते हुए भी सहम गये और हतप्रभ हो गये। अकस्मात् उन्होंने देखा कि गुलकी उठी। वे जान छोड़ कर भागे। पर गुलकी उठ कर आयी, मटकी को गोद में लेकर पानी से उसका मुंह धोने लगी और धोती से खून पोंछने लगी। बच्चों ने पता नहीं क्या समझा कि वह मटकी को मार रही है, या क्या कर रही है कि वे अकस्मात् उस पर टूट पड़े। गुलकी की चीखें सुनकर मुहल्ले के लोग आये तो उन्होंने देखा

कि गुलकी के बाल बिखरे हैं, दांत से खून बह रहा है, अघउघारी चबूतरे के नीचे पड़ी है, और सारी तरकारी सड़क पर बिखरी है। घेघा बुआ ने उसे उठाया, धोती ठीक की। और बिगड़ कर बोलीं, "औकात रत्ती भर नै, और तेहा पौवा भर। आपन बखत देख के चुप नै रहा जात। काहे लड़कन के मुंह लगत हो ?" लोगों ने पूछा तो कुछ नहीं बोली। जैसे उसे पाला मार गया हो। उसने चुप-चाप अपनी दुकान ठीक की और दांत से खून पोंछा, कुल्ला किया और बैठ गयी।

उसके बाद अपने उस कृत्य से बच्चे जैसे खुद सहम गये थे। बहुत दिन तक वे शांत रहे। आज जब मेवा ने उसकी पीठ पर धूल फेंकी तो जैसे उसे खून चढ़ गया पर फिर न जाने वह क्या सोच कर चुप रह गयी और जब नारा लगाते हुए जलूस गली में मुड़ गया तो उसने आंसू पोंछे, पीठ पर से धूल झाड़ी और साग पर पानी छिड़कने लगी। "लड़के का हैं गल्ली के राच्छस हैं !" घेघा बुआ बोलीं। "अरे उन्हें काहै कहो बुआ ! हमारा भाग ही खोटा है !" गुलकी ने गहरी सांस ले कर कहा।···

इस बार जो झड़ी लगी तो पांच दिन तक लगातार सूरज के दर्शन नहीं हुए। बच्चे सब घर में कैद थे और गुलकी कभी दूकान लगाती थी, कभी नहीं। राम राम करके छठवें दिन तीसरे पहर झड़ी बंद हुई। बच्चे हकीम जी के चौतरे पर जमा हो गये। मेवा बिलबोटी बीन लाया था और निरमल ने टपकी हुई निमकौड़ियां बीन कर दूकान लगा ली थी और गुलकी की तरह आवाज लगा रही थी, "ले खीरा, आलू, मूरी, घिया बण्डा !" थोड़ी देर में काफी शिशु-ग्राहक दूकान पर जुट गये। अकस्मात् शोरगुल को चीरता हुआ बुआ के चौतरे से गीत का स्वर उठा। बच्चों ने घूम कर देखा मिरवा और मटकी गुलकी की दूकान पर बैठे हैं। मटकी खीरा खा रही है और मिरवा झबरी का सर अपनी गोद में रखे बिलकुल उसकी आंखों में आंखें डालकर गा रहा है।

तुरन्त मेवा गया और पता लगाकर लाया कि गुलकी ने दोनों को एक-एक अधन्ना दिया है और दोनों मिलकर झबरी कुतिया के कीड़े निकाल रहे हैं। चौतरे पर हलचल मच गयी और मुन्ना ने कहा, "निरमल ! मिरवा-मटकी को एक भी निमकौड़ी मत देना। रहें उसी कुबड़ी के पास।" "हां जी !" निरमल ने आंख चमका कर गोल मुंह कर के कहा, "हमार अम्मा कहत रहीं उन्हें छुयो न। न साथ खायो, न खेलो। उन्हें बड़ी बुरी बीमारी है। आक थू !" मुन्ना ने उनकी ओर देखकर उबकाई जैसा मुंह बना कर थूक दिया।

गुलकी बैठी-बैठी सब समझ रही थी और जैसे इस निरर्थक घृणा में उसे कुछ रस-सा आने लगा था। उसने मिरवा से कहा, "तुम दोनों मिल के गाओ तो

एक अधन्ना दें। खूब जोर से !" भाई-बहन दोनों ने गाना शुरू किया—"माल कताली मल जाना, पल अकियां किछी से···" अकस्मात् फटाक से दरवाजा खुला और एक लोटा पानी दोनों के ऊपर फेंकती हुई घेघा बुआ गरजीं, "दुर कलमुंहे। अबहिन बित्तो भर के नाहीं ना और पतुरियन के गाना गावैं लगे। न बहन का खयाल, न बिटिया का। और ए कुबड़ी, हम तुहूं से कहे देइत हैं कि हम चकलाखाना खोलै के बरे अपना चौतरा नहीं दिया रहा। हुंह ! चली हुंआ से मुजरा करावैं।"

गुलकी ने पानी उघर छिटकाते हुए कहा, "बुआ, बच्चे हैं ! गा रहे हैं। कौन कसूर हो गया।"

"ऐ हां ! बच्चे हैं। तुहूं तो दूध पीयत बच्ची हौ। कह दिया कि जबान न लड़ायो हम से, हां ! हम बहुतै बुरी हैं। एक तो पांच महीने से किरावा नाहीं दियो और हियां दुनिया भर के अंधे-कोढ़ी बटुरे रहत हैं। चलो उठावो अपनी दूकान हियां से। कल से न देखी हियां तुम्हें। राम ! सब अधरम की संतान राच्छस पैदा भये हैं मुहल्ले में ! धरतियो नाहीं फाटत कि मर बिलाय जांय।"

गुलकी सन्न रह गयी। उसने किराया सचमुच पांच महीने से नहीं दिया था। बिक्री नहीं थी। मुहल्ले में कोई उससे कुछ लेता ही नहीं था, पर इसके लिए बुआ निकाल देंगी यह उसे कभी आशा नहीं थी। वैसे ही महीने में बीस दिन वह भूखी सोती थी। धोती में दस-दस पैबंद थे। मकान गिर चुका था। एक दालान में थोड़ी-सी जगह में वह सो जाती थी। पर दुकान तो वहां रखी नहीं जा सकती। उसने चाहा कि वह बुआ के पैर पकड़ ले, मिन्नत कर ले। पर बुआ ने जितनी जोर से दरवाजा खोला था उतनी ही जोर से बंद कर दिया। जबसे चौमासा आया था, पुरवाई बही थी, उसकी पीठ में भयानक पीड़ा उठती थी। उसके पांव कांपते थे। सट्टी में उस पर उधार बुरी तरह चढ़ गया था। पर अब होगा क्या ? वह मारे खीज के रोने लगी।

इतने में कुछ खटपट हुई और उसने घुटनों से मुंह उठा कर देखा कि मौका पाकर मटकी ने एक ताजा फूट निकाल लिया है और मरभुखी की तरह उसे हबर-हबर खाती जा रही है। एक क्षण वह उसके फूलते-पचकते पेट को देखती रही, फिर खयाल आते ही कि फूट पूरे दस पैसे का है, वह उबल पड़ी और सड़ासड़ तीन चार खपच्ची मारते हुए बोली, "चोट्टी ! कुतिया ! तोरे बदन में कीड़ा पड़े !" मटकी के हाथ से फूट गिर पड़ा पर वह नाली में से फूट के टुकड़े उठाते हुए भागी। न रोयी, न चीखी, क्योंकि मुंह में भी फूट भरा था। मिरवा हक्का-बक्का इस घटना को देख रहा था कि गुलकी उसी पर बरस पड़ी।

सड़सड़ उसने मिरवा को मारना शुरू किया, "भाग, यहां से हरामजादे" मिरवा दर्द से तिलमिला उठा, "हमला पइछा देव तो जाई।" "देते हैं पैसा, ठहर तो।" सड़ ! सड़ ! रोता हुआ मिरवा चौतरे की ओर भागा।

निरमल की दुकान पर सन्नाटा छाया था। सब चुप उसी ओर देख रहे थे। मिरवा ने आकर कुबड़ी की शिकायत मुन्ना से की। मुन्ना चुप रहा। फिर मेवा की ओर घूम कर बोला, "मेवा बता दो इसे !" मेवा पहले हिचकिचाया, फिर बड़ी मुलायमियत से बोला, "मिरवा, तुम्हें बीमारी हुई है न ! तो हम लोग अब तुम्हें नहीं छुएंगे। साथ नहीं खिलायेंगे। तुम उधर बैठ जाओ।"

"हम बिमाल हैं मुन्ना ?"

मुन्ना कुछ पिघला, "हां, हमें छुओ मत। निमकौड़ी खरीदना हो तो उधर बैठ जाओ, हम दूर से फेंक देंगे। समझे !" मिरवा समझ गया, सर हिलाया और अलग जाकर बैठ गया। मेवा ने निमकौड़ी उसके पास रख दी और वह चोट भूल कर पकी निमकौड़ी का बीजा निकाल कर छीलने लगा।

इतने में ऊपर से घेघा बुआ की आवाज आयी, "ऐ मुन्ना ! तई तू लोग परे हो जाओ ! अबहिन पानी गिरी ऊपर से।" बच्चों ने ऊपर देखा। तिछते पर घेघा बुआ कछोटा मारे पानी में छप-छप करती घूम रही थीं। कूड़े तिछत्ते की नाली बंद थी और पानी भरा था। जिधर बुआ खड़ी थीं उसके ठीक नीचे गुलकी का सौदा था। बच्चे वहां से दूर थे पर गुलकी को सुनाने के लिए बात बच्चों से कही गयी थी। गुलकी कराहती हुई उठी। कूबड़ की वजह से वह तनकर तिछत्ते की ओर देख भी नहीं सकती थी। उसने धरती की ओर देख कर ऊपर बुआ से कहा, "इधर की नाली काहे खोल रही हो ? उधर की खोलो न !"

"काहे उधर की खोली ! उधर हमार चौका है कि नै !"

"इधर हमारा सौदा लगा है।"

"ऐ है !" बुआ हाथ चमका कर बोलीं, "सौदा लगा है रानी साहब का ! किरावा देय के दाईं हियाव फाटत है और टर्राय के दाईं नटई में गामा पहिलवान का जोर तो देखौ ! सौदा लगा है तो हम का करी। नारी तो इहै खुली !"

"खोलो तो देखें।" अकस्मात् गुलकी ने तड़प कर कहा। आज तक किसी ने उसका वह स्वर नहीं सुना था—"पांच महीने का दस रुपया नहीं दिया बेसक, पर हमारे घर की धन्नी निकाल के बसंतू के हाथ किसने बेचा ? तुम ने ! पश्चिम ओर का दरवाजा चिरवा के किसने जलवाया ? तुमने। हम गरीब हैं। हमारा बाप नहीं है। सारा मुहल्ला हमें मिलके मार डालो।"

"हमें चोरी लगाती है। अरे कल की पैदा हुई।" बुआ मारे गुस्से के खड़ी बोली बोलने लगी थीं।

बच्चे चुप खड़े थे। वे कुछ कुछ सहमे हुए थे। कुबड़ी का यह रूप उन्होंने कभी नहीं देखा था, न सोचा था।

"हां! हां! हां! तुमने, ड्राइवर चाचा ने, चाची ने सब ने मिल के हमारा मकान उजाड़ा है। अब हमारी दुकान बहाय देव। देखेंगे हम भी। निरबल के भी भगवान् हैं!"

"ले! ले! ले! भगवान् हैं तो ले!" और बुआ ने पागलों की तरह दौड़ कर नाली में जमा कूड़ा लकड़ी से ठेल दिया। छह इंच मोटी गंदे पानी की धार धड़-धड़ करती हुई उसकी दुकान पर गिरने लगी। तरोइयां पहले नाली में गिरीं, फिर मूली, खीरे, साग, अदरक उछल-उछल कर दूर जा गिरे। गुलकी आंख फाड़े पागल-सी देखती रही और फिर दीवार पर सर पटक कर हृदय-विदारक स्वर में डकरा कर रो पड़ी, "अरे मोर बाबू! हमें कहां छोड़ गये! अरे मोरी माई! पैदा होते ही हमें क्यों नहीं मार डाला! अरे धरती मैया हमें काहे नहीं लील लेती!"

सर खोले बाल बिखेरे छाती कूट-कूट कर वह रो रही थी और तिछत्ते का पिछले नौ दिन का जमा पानी धड़-धड़ गिर रहा था।

बच्चे चुप खड़े थे। अब तक जो हो रहा था उनकी समझ में आ रहा था। पर आज यह क्या हो गया यह उनकी समझ में नहीं आ सका। पर वे कुछ बोले नहीं। सिर्फ मटकी उधर गयी और नाली में बहता हुआ एक मोटा हरा खीरा निकालने लगी कि मुन्ना ने डांटा, "खबरदार! जो कुछ चुराया।" मटकी पीछे हट गयी। वे सब किसी अप्रत्याशित भय, संवेदना या आशंका से जुड़-बटुर कर खड़े हो गये। सिर्फ मिरवा अलग सर झुकाये खड़ा था। झींसी फिर पड़ने लगी थी और वे एक एक कर अपने घर चले गये।

दूसरे दिन चौतरा खाली था। दुकान का बांस उखड़वा कर बुआ ने नांद में गाड़ कर उस पर तुरई की लतर चढ़ा दी थी। उस दिन बच्चे आये पर उनकी हिम्मत चौतरे पर जाने की नहीं हुई। जैसे वहां कोई मर गया हो। बिलकुल सुनसान चौतरा था और फिर तो ऐसी झड़ी लगी कि बच्चों का निकलना बंद। चौथे या पांचवें दिन रात को भयानक वर्षा तो हो ही रही थी, पर बादल भी ऐसे गरज रहे थे कि मुन्ना अपनी खाट से उठ कर अपनी मां के पास घुस गया। बिजली चमकते ही जैसे कमरा रोशनी से नाच नाच उठता था। छत पर बूंदों की पटर पटर कुछ धीमी हुई, थोड़ी हवा भी चली और पेड़ों का हरहर

सुनाई पड़ा कि इतने में धड़-धड़-धड़-धड़ाम ! भयानक आवाज हुई। मां भी चौंक पड़ी। पर उठी नहीं। मुन्ना आंखें खोले अंधेरे में ताकने लगा। सहसा लगा मुहल्ले में कुछ लोग बातचीत कर रहे हैं। घेघा बुआ की आवाज सुनाई पड़ी—"किस का मकान गिरा है रे ?" "गुलकी का !"—किसी का दूरागत उत्तर आया। "अरे बाप रे ! दब गयी क्या ?" "नहीं, आज तो मेवा की मां के यहां सोयी है !" मुन्ना लेटा था और उसके ऊपर अंधेरे में यह सवाल-जवाब इधर से उधर और उधर से इधर जा आ रहे थे। वह फिर कांप उठा, मां के पास घुस गया और सोते-सोते उसने साफ सुना—कुबड़ी फिर उसी तरह रो रही है, गला फाड़ कर रो रही है ! कौन जाने मुन्ना के ही आंगन में बैठकर रो रही हो। नींद में वह स्वर कभी दूर कभी पास आता हुआ ऐसा लग रहा है जैसे कुबड़ी मुहल्ले के हर आंगन में जाकर रो रही है पर कोई सुन नहीं रहा, सिवा मुन्ना के।

बच्चों के मन में कोई बात इतनी गहरी लकीर नहीं बनाती कि उधर से उनका ध्यान हटे ही नहीं। सामने गुलकी थी तो वह एक समस्या थी, पर उसकी दुकान हट गयी, फिर वह जाकर साबुन वाली सत्ती के गलियारे में सोने लगी और दो-चार घर से मांग-जांच कर खाने लगी, उस गली में दिखती ही नहीं थी। बच्चे भी दूसरे कामों में व्यस्त हो गये। अब जाड़े आ रहे थे, उनका जमावड़ा सुबह न होकर तीसरे पहर होता था। जमा होने के बाद जलूस निकलता था और जिस जोशीले नारे से गली गूंज उठती थी वह था—"घेघा बुआ को वोट दो।" पिछले दिनों म्युनिसिपैलिटी का चुनाव हुआ था और उसी में बच्चों ने यह नारा सीखा था। वैसे कभी-कभी बच्चों में दो पार्टियां भी होती थीं, पर दोनों को घेघा बुआ से अच्छा उम्मीदवार कोई नहीं मिलता था, अत: दोनों गला फाड़-फाड़ कर उनके ही लिए वोट मांगती थीं।

उस दिन जब घेघा बुआ के धैर्य का बांध टूट गया और नयी-नयी गालियों से विभूषित अपनी पहली एलेक्शन स्पीच देने ज्यों ही चौतरे पर अवतरित हुई कि उन्हें डाकिया आता हुआ दिखाई पड़ा। वह अचकचा कर रुक गयीं ! डाकिये के हाथ में एक पोस्टकार्ड था और वह गुलकी को ढूंढ़ रहा था। बुआ ने लपक कर पोस्टकार्ड लिया, एक सांस में पढ़ गयीं। उनकी आंखें मारे अचरज के फैल गयीं, और डाकिये को यह बताकर कि गुलकी सत्ती साबुन वाली के ओसारे में रहती है, वे झट से दौड़ी-दौड़ी निरमल की मां ड्राइवर की पत्नी के यहां गयीं। बड़ी देर तक दोनों में सलाह-मशविरा होता रहा और अंत में बुआ आयीं और उन्होंने मेवा को भेजा, "जा, गुलकी को बुलाय ला !"

पर जब मेवा लौटा तो उसके साथ गुलकी नहीं वरन् सत्ती साबुन वाली थी और सदा की भांति इस समय भी उसकी कमर से वह काले बेंट का चाकू लटक रहा था, जिससे वह साबुन की टिक्की काट कर दुकानदारों को देती थी। उसने आते ही भौंह सिकोड़ कर बुआ को देखा और कड़े स्वर में बोली, "क्यों बुलाया है गुलकी को? तुम्हारा दस रुपये किराया बाकी था, तुमने पंद्रह रुपये का सौदा उजाड़ दिया! अब क्या काम है!" "अरे! राम! राम! कैसा किराया बेटी! अंदर आओ, अंदर आओ!" बुआ के स्वर में असाधारण मुलायमियत थी। सत्ती के अंदर जाते ही बुआ ने फटाक से किवाड़े बंद कर लिये। बच्चों का कौतूहल बहुत बढ़ गया था। बुआ के चौके में एक झंझरी थी। सब बच्चे वहां पहुंचे और आंख लगाकर कनपटियों पर दोनों हथेलियां रख कर घण्टी वाला बाइसकोप देखने की मुद्रा में खड़े हो गये।

अंदर सत्ती गरज रही थी, "बुलाया है तो बुलाने दो। क्यों जाये गुलकी? अब बड़ा खयाल आया है। इसलिए कि उसकी रखैल को बच्चा हुआ है तो जाके गुलकी झाड़ू-बहारू करे, खाना बनाये, बच्चा खिलावे, और वह मरद का बच्चा गुलकी की आंख के आगे रखैल के साथ गुलछर्रे उड़ावे!"

निरमल की मां बोलीं, "अरे बिटिया, पर गुजर तो अपने आदमी के साथ करैगी न! जब उसकी पत्री आयी है तो गुलकी को जाना चाहिए। और मरद तो मरद! एक रखैल छोड़ दुई-दुई रखैल रख ले तो औरत उसे छोड़ देगी? राम! राम!"

"नहीं, छोड़ नहीं देगी तो जाय के लात खायगी?" सत्ती बोली।

"अरे बेटा!" बुआ बोलीं, "भगवान रहें न? तौन मथुरापुरी में कुब्जा दासी के लात मारिन तो ओकर कूबर सीधा हुई गवा। पती तो भगवान हैं बिटिया! ओको जाय देव!"

"हां-हां बड़ी हितू न बनिये! उसके आदमी से आप लोग मुफ्त में गुलकी का मकान झटकना चाहती हैं। मैं सब समझती हूं।"

निरमल की मां का चेहरा जर्द पड़ गया। पर बुआ ने ऐसी कच्ची गोली नहीं खेली थी। वे डपट कर बोलीं, "खबरदार जो कच्ची जबान निकाल्यो तुम्हारा चलित्तर कौन नै जनता! ओही छोकरा मानिक⋯।"

"जबान खींच लूंगी," सत्ती गला फाड़ कर चीखी, "जो आगे एक हरुफ कहा।" और उसका हाथ अपने चाकू पर गया⋯

"अरे! अरे! अरे!" बुआ सहम कर दस कदम पीछे हट गयीं—"तो का खून करबो का, कतल करवो का?"—सत्ती जैसे आयी थी वैसे ही चली गयी।

तीसरे दिन बच्चों ने तय किया कि होरी बाबू के कुएं पर चल कर बर्रे पकड़ी जायें। उन दिनों उनका जहर शांत रहता है, बच्चे उन्हें पकड़ कर उनका छोटा-सा काला डंक निकाल लेते और फिर डोरी में बांध कर उन्हें उड़ाते हुए घूमते। मेवा, निरमल और मुन्ना एक-एक बर्रे उड़ाते हुए जब गली में पहुंचे तो देखा बुआ के चौतरे पर टीन की कुरसी डाले कोई आदमी बैठा है। उसकी अजब शक्ल थी। कान पर बड़े-बड़े बाल, मिच-मिची आंखें, मोछा और तेल से चुचुआते हुए बाल। कमीज और धोती पर पुराना बदरंग बूट। मटकी हाथ फैलाये कह रही है, "एक डबल दै देव! ए दै देव ना!" मुन्ना को देख कर मटकी ताली बजा-बजाकर कहने लगी, "गुलकी का मनसेधू आवा है। ए मुन्ना बाबू! ई कुबड़ी का मनसेधू है।" फिर उधर मुड़ कर—"एक डबल दै देव।" तीनों बच्चे कौतूहल में रुक गये। इतने में निरमल की मां एक गिलास में चाय भरकर लायी और उसे देते-देते निरमल के हाथ में बर्रे देख कर उसे डांटने लगीं। फिर बर्रे छुड़ा कर निरमल को पास बुलाया और बोली, "बेटा, ई हमारी निरमल है। ए निरमल, जीजा जी हैं, हाथ जोड़ो! बेटा, गुलकी हमारी जात बिरादरी की नहीं है तो का हुआ, हमारे लिए जैसे निरमल वैसे गुलकी। अरे, निरमल के बाबू और गुलकी के बाप की दांत काटी रही। एक मकान बचा है उनकी चिन्हारी, और का!" एक गहरी सांस लेकर निरमल की मां ने कहा।

"अरे तो का उन्हें कोई इनकार है!" बुआ आ गयी थीं, "अरे सौ रुपये तुम दबे किये रहयू, चलो तीन सौ और दै देव। अपने नाम कराय लेव!"

"पांच सौ से कम नहीं होगा!" उस आदमी का मुंह खुला, एक वाक्य निकला और मुंह फिर बंद हो गया।

"भवा! भवा! ऐ बेटा दामाद हो, पांच सौ कहबो तो का निरमल की मां को इनकार है!"

अकस्मात् वह आदमी उठ कर खड़ा हो गया। आगे-आगे सत्ती चली आ रही थी पीछे-पीछे गुलकी। सत्ती चौतरे के नीचे खड़ी हो गयी। बच्चे दूर हट गये। गुलकी ने सर उठा कर देखा और अचकचा कर सर पर पल्ला डाल कर माथे तक खींच लिया। सत्ती दो-एक क्षण उसकी ओर एकटक देखती रही और फिर गरज कर बोली, "यही कसाई है! गुलकी, आगे बढ़ कर मार दो चपोटा इसके मुंह पर! खबरदार जो कोई बोला!" बुआ चट से देहरी के अंदर हो गयीं, निरमला की मां की जैसे घिग्घी बंध गयी और वह आदमी हड़बड़ा कर पीछे हटने लगा।

"बढ़ती क्यों नहीं गुलकी! बड़ा आया वहां से बिदा कराने!"

गुलकी आगे बढ़ी—सब सन्न थे—सीढ़ी चढ़ी, उस आदमी के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं। गुलकी चढ़ते-चढ़ते रुकी, मत्ती की ओर देखा, ठिठकी, अकस्मात् लपकी और फिर उस आदमी के पांव पर गिर के फफक-फफक कर रोने लगी, "हाय ! हमें काहे को छोड़ दियौ ! तुम्हारे सिवा हमारा लोक-परलोक और कौन है ! अरे, हमरे मरै पर कौन चुल्लू-भर पानी चढाई···"

मत्ती का चेहरा स्याह पड़ गया। उसने बड़ी हिकारत से गुलकी की ओर देखा और गुस्से में थूक निगलते हुए कहा, "कुतिया !" और तेजी से चली गयी। निरमल की मां और बुआ गुलकी के सिर पर हाथ फेर-फेर कर कह रही थीं, "मत रो बिटिया ! मत रो ! सीता मैया भी तो बनवास भोगिन रहा। उठो गुलकी बेटा ! धोती बदल लेव, कंघी चोटी करो। पति के सामने ऐसे आना असगुन होता है। चलो !"

गुलकी आंसू पोंछती-पोंछती निरमल की मां के घर चली। बच्चे पीछे-पीछे चले तो बुआ ने डांटा, "ऐ चलो एहर, हुंआ लड्डू बंट रहा है का !"

दूसरे दिन निरमल के बाबू (ड्राइवर साहब), गुलकी और जीजाजी दिनभर कचहरी में रहे। शाम को लौटे तो निरमल की मां ने पूछा, "पक्का कागज लिख गया ?" "हां-हां रे, हाकिम के सामने लिख गया।" फिर जरा निकट आकर फुसफुसा कर बोले, "मट्टी के मोल मकान मिला है। अब कल दोनों को बिदा करो !" "अरे, पहले सौ रुपये लाओ ! बुआ का हिस्सा भी तो देना है ?" निरमल की मां उदास स्वर में बोली, "बड़ी चण्ट है बुढ़िया। गाड़-गाड़ के रख रही है, मर के सांप होयगी।"

सुबह निरमल की मां के यहां मकान खरीदने की कथा थी। शंख, घण्टा-घड़ियाली, केले का पत्ता, पंजीरी, पंचामृत का आयोजन देख कर मुन्ना के अलावा सब बच्चे इकट्ठा थे। निरमल की मां और निरमल के बाबू पीढ़े पर बैठे थे, गुलकी एक पीली धोती पहने माथे तक घूंघट काढ़े सुपारी काट रही थी और बच्चे झांक-झांक कर देख रहे थे। मेवा ने पहुंच कर कहा, "ए गुलकी, ए गुलकी, जीजाजी के साथ जाओगी क्या ?" कुबड़ी ने झेंप कर कहा, "धत्त रे ! ठिठोली करता है !" और लज्जा-भरी जो मुसकान किसी भी तरुणी के चेहरे पर मनमोहक लाली बनकर फैल जाती, उसके झुर्रियोंदार, बेडौल, नीरस चेहरे पर विचित्र रूप से वीभत्स लगने लगी। उसके काले पपड़ीदार होंठ सिकुड़ गये, आंखों के कोने मिचमिचा उठे और अत्यंत कुरूचिपूर्ण ढंग से उसने अपने पल्ले से सिर ढांक लिया और पीठ सीधी कर जैसे कूबड़ छिपाने का प्रयास करने लगी। मेवा पास ही बैठ गया। कुबड़ी ने पहले इधर-उधर देखा, फिर फुसफुसा कर मेवा से कहा, "क्यों रे ! जीजाजी कैसे लगे तुझे ?" मेवा ने

असमंजस में या संकोच में पड़ कर कोई जवाब नहीं दिया तो जैसे अपने को समझाते हुए गुलकी बोली, "कुछ भी होय। है तो अपना आदमी ! हारे-गाढ़े कोई और काम आवेगा ? औरत को दबाय के रखना ही चाहिए।" फिर थोड़ी देर चुप रह कर बोली, "मेवा भैया, सत्ती हमसे नाराज है। अपनी सगी बहन क्या करेगी जो सत्ती ने किया हमारे लिए। ये चाची और बुआ तो सब मतलब के साथी हैं हम क्या जानते नहीं ? पर भैया अब जो कहो कि हम सत्ती के कहने से अपने मरद को छोड़ दें, सो नहीं हो सकता।" इतने में किसी का छोटा-सा बच्चा घुटनों के बल चलते-चलते मेवा के पास आकर बैठ गया। गुलकी क्षणभर उसे देखती रही फिर बोली, "पति से हमने अपराध किया तो भगवान् ने बच्चा छिना लिया, अब भगवान् हमें छमा कर देंगे।" फिर कुछ क्षण के लिए चुप हो गयी। "छमा करेंगे तो दूसरी सन्तान देंगे ?" "क्यों नहीं देंगे ? तुम्हारे जीजाजी को भगवान् बनाये रखे। खोट तो हमीं में है। फिर सन्तान होगी तब तो सौत का राज नहीं चलेगा !"

इतने में गुलकी ने देखा कि दरवाजे पर उसका आदमी खड़ा बुआ से कुछ बातें कर रहा है। गुलकी ने तुरंत पल्ले से सिर ढंका और लजा कर उधर पीठ कर ली। बोली, "राम ! राम ! कितने दुबरा गये हैं। हमारे बिना खाने-पीने का कौन ध्यान रखता ! अरे, सौत तो अपने मतलब की होगी। ले भैया मेवा, जा दो बीड़ा पान दे आ जीजा को !" फिर उसके मुंह पर वही लाज की वीभत्स मुद्रा आयी—"तुझे कसम है, बताना मत किस ने दिया है।"

मेवा पान ले कर गया पर वहां किसी ने उस पर ध्यान ही नहीं दिया। वह आदमी बुआ से कह रहा था, "इसे ले तो जा रहे हैं, पर इतना कहे देते हैं, आप भी समझा दें उसे—कि रहना हो तो दासी बनकर रहे। न दूध की न पूत की, हमारे कौन काम की, पर हां औरतिया की सेवा करे, उसका बच्चा खिलावे, झाड़ू-बुहारू करे तो दो रोटी खाय पड़ी रहे। पर कभी उससे जबान लड़ाई तो खैर नहीं। हमारा हाथ बड़ा जालिम है। एक बार कूबड़ निकला, अगली बार परान निकलेगा।"

"क्यों नहीं बेटा ! क्यों नहीं !" बुआ बोलीं और उन्होंने मेवा के हाथ से पान लेकर अपने मुंह में दबा लिये !

करीब तीन बजे इक्का लाने के लिए निरमल की मां ने मेवा को भेजा। कथा की भीड़-भाड़ से उनका "मूड पिराने" लगा था, अतः अकेली गुलकी सारी तैयारी कर रही थी। मटकी कोने में खड़ी थी। मिरवा और झबरी बाहर गुमसुम बैठे थे। निरमल की मां ने बुआ को बुलवा कर पूछा कि बिदा-बिदाई में क्या करना होगा, तो बुआ मुंह बिगाड़ कर बोलीं, "अरे कोई जात-

बिरादरी की है का ? एक लोटा में पानी भर के इकन्नी-दुअन्नी उतार के परजा-पजारू को दै दियो बस !" और फिर बुआ शाम की बियारी में लग गयीं।

इक्का आते ही जैसे झबरी पागल-सी इधर-उधर दौड़ने लगी। उसे जाने कैसे आभास हो गया कि गुलकी जा रही है, सदा के लिए। मेवा ने अपने छोटे-छोटे हाथों से बड़ी-बड़ी गठरियां रखीं, मटकी और मिरवा चुपचाप आकर इक्के के पास खड़े हो गये। सिर झुकाये पत्थर-सी चुप गुलकी निकली। आगे-आगे हाथ में पानी का भरा लोटा लिये निरमल थी। वह आदमी जाकर इक्के पर बैठ गया। "अब जल्दी करो !" उसने भारी गले से कहा। गुलकी आगे बढ़ी, फिर रुकी और टेंट से दो अधन्ने निकाले—"ले मिरवा, ले मटकी !" मटकी जो हमेशा हाथ फैलाये रहती थी, इस समय जाने कैसा संकोच उसे आ गया कि वह हाथ नीचे कर दीवार से सट कर खड़ी हो गयी और सिर हिला कर बोली, "नहीं !"—नहीं "बेटा ! ले लो !" गुलकी ने पुचकार कर कहा। मिरवा-मटकी ने पैसे ले लिये और मिरवा बोला, छलाम गुलकी ! ए आदमी छलाम !

"अब क्या गाड़ी छोड़नी है !" वह फिर भारी गले से बोला।

"ठहरो बेटा, कहीं ऐसे दामाद की बिदाई होती है !" सहसा एक बिलकुल अजनबी किंतु अत्यन्त मोटा स्वर सुनाई पड़ा। बच्चों ने अचरज से देखा, मुन्ना की मां चली आ रही हैं। "हम तो मुन्ना का आसरा देख रहे थे कि स्कूल से आ जाये, उसे नाश्ता करा लें तो आयें, पर इक्का आ गया तो हमने समझा अब तू चली। अरे ! निरमल की मां, कहीं ऐसे बेटी की बिदा होती है ! लाओ जरा रोली घोलो जल्दी से, चावल लाओ, और सेंदुर भी ले आना निरमल बेटा ! तुम बेटा उतर आओ इक्के से !"

निरमल की मां का चेहरा स्याह पड़ गया था। बोलीं, "जितना हम से बन पड़ा किया। किसी को दौलत का घमण्ड थोड़े ही दिखाना था !" "नहीं बहन ! तुमने तो किया पर मुहल्ले की बिटिया तो सारे मुहल्ले की बिटिया होती है। हमारा भी तो फर्ज था। अरे मां-बाप नहीं हैं तो मुहल्ला तो है। आओ बेटा !" और उन्होंने टीका करके आंचल के नीचे छिपाये हुए कुछ कपड़े और एक नारियल उसकी गोद में डाल कर उसे चिपका लिया। गुलकी जो अभी तक पत्थर-सी चुप थी सहसा फूट पड़ी। उसे पहली बार लगा जैसे वह मायके से जा रही है। मायके से···अपनी मां को छोड़ कर··· छोटे-छोटे भाई-बहनों को छोड़ कर···और वह अपने कर्कश फटे हुए गले से विचित्र स्वर से रो पड़ी।

"ले अब चुप हो जा ! तेरा भाई भी आ गया !" वे बोलीं। मुन्ना बस्ता

लटकाये स्कूल से चला आ रहा था। कुबड़ी को अपनी मां के कंधे पर सिर रख कर रोते देख वह बिलकुल हतप्रभ-सा खड़ा हो गया।—"आ बेटा, गुलकी जा रही है न आज! दीदी है न! बड़ी बहन है। चल पांव छू ले! आ इधर!" मां ने फिर कहा। मुन्ना···और कुबड़ी के पांव छुए? क्यों? क्यों? पर मां की बात! एक क्षण में उसके मन में जैसे एक पूरा पहिया घूम गया और वह गुलकी की ओर बढ़ा। गुलकी ने दौड़ कर उसे चिपका लिया और फूट पड़ी—"हाय मेरे भैया! अब हम जा रहे हैं! अब किससे लड़ोगे मुन्ना भैया? अरे मेरे बीरन, अब किससे लड़ोगे?" मुन्ना को लगा जैसे उसकी छोटी-छोटी पसलियों में एक बहुत बड़ा-सा आंसू जमा हो गया जो अब छलकने ही वाला है। इतने में उसे आदमी ने फिर आवाज दी और गुलकी कराह कर मुन्ना की मां का सहारा लेकर इक्के पर बैठ गयी। इक्का खड़-खड़ कर चल पड़ा। मुन्ना की मां मुड़ी कि बुआ ने व्यंग्य किया, "एक-आध गाना भी बिदाई का गाये जाओ बहन! गुलकी बन्नो ससुराल जा रही है!" मुन्ना की मां ने कुछ जवाब नहीं दिया, मुन्ना से बोलीं, "जल्दी घर आना बेटा, नाश्ता रखा है!"

पर पागल मिरवा ने, जो बंबे पर पांव लटकाये बैठा था, जाने क्या सोचा कि वह सचमुच गला फाड़ कर गाने लगा, "बेना डाले दुपट्टे का पल्ला, मुहल्ले से चली गयी राम!" यह उस मुहल्ले में हर लड़की की बिदा पर गाया जाता था। बुआ ने घुड़का, तब भी वह चुप नहीं हुआ, उलटे मटकी बोली, "काहे न गावें, गुलकी ने पैसा दिया है!" और उसने भी सुर मिलाया, "बन्नो तली गयी लाम! बन्नो तली गयी लाम! बन्नो तली गयी लाम!"

मुन्ना चुपचाप खड़ा रहा। मटकी डरते-डरते आयी—"मुन्ना बाबू! कुबड़ी ने अधन्ना दिया है, ले लें?"

"ले ले!" बड़ी मुश्किल से मुन्ना ने कहा और उसकी आंख में दो बड़े-बड़े डबडबा आये। उन्हीं आंसुओं की झिलमिली में कोशिश करके मुन्ना ने जाते हुए इक्के की ओर देखा। गुलकी आंसू पोंछते हुए परदा उठा कर मुड़-मुड़ कर देख रही थी। मोड़ पर एक धचके से इक्का मुड़ा और फिर अदृश्य हो गया।

सिर्फ झबरी सड़क तक इक्के के साथ गयी और फिर लौट आयी।

अंधी लालटेन

अमृत राय

गली के नुक्कड़ पर मैं सर झुकाये, कमर दोहरी किये खड़ी हूं। धूप कैसी, रोशनी की भी यहां कम ही गुजर है।

हर शाम एक आदमी छोटी-सी एक सीढ़ी लेकर आता है और दिया-बत्ती कर जाता है, ताकि लोग अपना रास्ता देख सकें। रास्ता तो, मैं सोचती हूं, लोग अपने पैरों के अभ्यास से देखते हैं, इतनी रोशनी मेरे अंदर कहां! हां, मैं इन अंधी आंखों की हलकी-सी रोशनी से जरूर अपनी गली को थोड़ा-बहुत देख लेती हूं। इतना ही मेरे लिए बहुत है!

सुना है, यह गली पहले कच्ची थी, अब तो यहां से वहां तक छोटे-बड़े पत्थर जड़े हैं। आगे जाकर यह गली बंद हो जाती है। दर्जनों कुत्ते भूंक रहे हैं। साइकिल पर सवार एक आदमी तेजी से उनके बीच से निकल जाना चाहता है। दो-तीन कुत्ते उसके पैरों पर लपकते हैं। वह घबराकर गिर पड़ता है और झपटकर एक पत्थर उठा लेता है। उसके पैर कांप रहे हैं। कुत्ते और भी जोरों से भूंकने लगते हैं। लड़कों का एक गोल, जो अभी चोर सिपाही खेल रहा था, अपना खेल बंद करके इस नये तमाशे का मजा ले रहा है। मिसिरजी के यहां सीतापुर से या रामपुर से, एक कोई बड़े कथा बांचने वाले आये हैं। हर रोज बारह-एक बजे तक रामायण की कथा होती है। भीड़ जमा होने लगी है। तखत तो आधी गली को घेरे यों ही बाहर पड़ा रहता है। उस पर एक मैली-सी चौंदनी बिछा दी गयी है। हरमोनियम लाकर रख दिया गया है। दो-एक बेले के हार भी दिखायी पड़ रहे हैं। गैस का एक हण्डा भी आ गया है। गली जगमग हो जाती है, जैसे दिन निकल आया हो। पता नहीं अभी और कितने दिन यह कथा होगी। अकसर गली के कुत्ते भी हरमोनियम के सुर से सुर मिलाकर···तब डण्डे से उनकी पूजा की जाती है। एक आदमी मोटा-सा एक डण्डा लेकर पहरा देता है। अच्छा है। ये कुत्ते इसी के काबिल हैं। जब देखो

तब आकर मुझे गंदा करते रहते हैं। एक रोज काट भी खाया बेचारे चंदू को। चंदू की मां मर गयी है। बाप ने पंद्रह दिन बाद दूसरी शादी कर ली। चंदू का हाल भी अब इन्हीं कुत्तों जैसा है। चाहे जिसके दरवाजे पड़ा रहता है। जो कुछ जहां मिल जाय, खा लेता है। कहीं से एक फटी-पुरानी पोथी उसके हाथ लग गयी है। दिन को चंदू शायद काम की खोज में निकलता है, या कौन जाने भीख मांगता हो दूसरे मुहल्ले में जाकर! और रात, हर दूसरे-तीसरे, अपनी पोथी लेकर आ जाता है और मुझसे सट कर बैठ जाता है। चार-छः गाय भैंसें भी बैठी रहती हैं मटमैली रोशनी के घेरे में। मुझे तो यह भी एक रामायनी मण्डली लगती है देखने में।

एक रोज चंदू ऐसे ही बैठा था कि उसका बाप आया। छोटे-छोटे बाल, लाल-लाल आंखें, पूरा कसाई दिखता था। शराब पी रखी थी। आते ही उसने चंदू को इतनी जोर का एक रहपट लगाया कि बेचारे ने खून फेंक दिया, और शेर की तरह गरजते हुए कहा—क्यों बे साले, हरामी के पिल्ले, तुझे अपने घर में जगह नहीं मिलती, जो यहां मरने आता है। मेरी नाक कटा कर रख दी दुनिया में! घर चल, फिर देख, मैं कैसे तेरी बोटी-बोटी…

चंदू शायद जानता था कि यह बात ही बात नहीं है। भाग निकला। बाप उसके पीछे दौड़ा। कुत्ते बाप के पीछे दौड़े। एक ने उसकी धोती पकड़ ली। बाप राम मुंह के बल गिरे। धोती खिंच गयी सो अलग।

फिर चंदू महीनों नहीं दिखायी दिया।

चंदू की नयी मां बहुत जवान है और बहुत खूबसूरत है। अपने आदमी से कुछ नहीं, तो पच्चीस बरस छोटी होगी। कितनी ही बार मैंने दोनों को साथ-साथ जाते देखा है। मस्त हथिनी की तरह चली जा रही थी। क्या समझती है वह इस बुड्ढे-ठेले चंदू के बाप को! अकड़कर चलने से ही क्या सब कुछ हो जाता है! चंदू का बाप शराबी है सही, पर क्या उससे बुड्ढा आदमी जवान हो जायेगा? झूठमूठ धौंस जमाता है उसके ऊपर। एक दिन बड़ा गुस्से में बिफरा चला जा रहा था। पता नहीं कहां से लौट रहे थे दोनों। देखी होगी कोई ऐसी-वैसी बात। कहने लगा—देख, चंपिया, तू मुझे जानती नहीं अभी, मैं तेरी मूड़ी काट लूंगा!

चंपिया ऐंठकर बोली—जबान संभालकर बात कर, बड़ा आया मूड़ी काटने वाला! सेंत-मेंत की मूड़ी है न, जो तुम काट लेगा!

चंदू का बाप तिलमिला गया, दांत पीसकर बोला—गुस्सा मत दिला, चंपिया, टांग पकड़कर चीर दूंगा!

चंपिया बड़े जोर से हसी। ऐसी हंसी मैंने पहले नहीं सुनी थी। मेरे रोंगटे खड़े हो गये। फिर चंपिया का चेहरा भी डाइन-चुड़ैल जैसा हो गया, धोती ऊपर जांघ तक खींचती हुई चिल्लाकर बोली—ले चीर टांग, चीर, अपने बाप का जना है तो !

चंदू के बाप का चेहरा फक हो गया। उस एक घड़ी में कितने ही रंग उसके चेहरे पर आये और गये। हिम्मत नहीं पड़ी कुछ भी करने की। कैसे पड़ती, बड़ी खतरनाक औरत है। एक से एक मुस्टण्डों से आसनाई है उसकी। दो को तो मैंने देखा भी है इसी चंपिया के साथ। बड़े कड़ियल जवान थे दोनों, सिल पर भांग की तरह घोटकर पी जायें इस चंदुआ के बाप को।

चंपिया इस बार और भी जोर से हंसी—बस···इतने ही गुर्दे पर टांग चीरने चला था ? नामर्द···!

चंदू के बाप ने दाहिना हाथ घुमाकर एक जोर का लप्पड़ चंपिया को मारा। चंपिया गिरने-गिरने को हुई, मगर सभल गयी और जंगली बिल्ली की तरह कूदकर उसने अपने आदमी का मुंह बकोट लिया और इसके पहले कि वह संभल सके, चंपिया के दांत उसके बायें कंधे के गोश्त में गड़ चुके थे। उसकी सारी तेजी, सारा गुस्सा हवा हो गया। शरीर ढीला पड़ गया। दांतों की पकड़ कसती गयी। छुड़ाना भी मुश्किल था, चंपा उसकी पीठ की तरफ थी।

आखिर चंपा की ही जीत हुई। अब वह आगे-आगे चल रही थी, चंदू का बाप पीछे-पीछे पूंछ दबाये चल रहा था। चंपा की त्योरियां अब भी चढ़ी थीं। फुफकारती हुई बोली—आज तूने मेरे ऊपर हाथ उठाया···ऐसी मजाल तेरी ! खाल न खिचवा लूं तो कहना····!

क्या कहता चंदू का बाप, कोर दबी थी। नेम-धरम की बातें करने लगा। बोला—चंपिया, यही धरम है तेरा ? तेरे पीछे मैंने चंदुआ को गंवाया····

चंपा तुनककर बोली—मैंने कब कहा था कि तुम उसे घर से निकाल दो।

—तू ही तो पड़ी रहती थी उसकी जान को।

—तुम्हारी आंखें फूट गयी थीं ?

फिर वह आगे बढ़ गये और मैं कुछ सुन नहीं सकी। घर जाकर दोनों में जरूर फिर जोर का झगड़ा हुआ होगा। भैया की बातें ! चंपिया अकेली काफी है उसके लिए। सरऊ बात ही करते रह जायेंगे, चंपिया सचमुच एक रोज हंसिया से उनकी मूड़ी काट लेगी।

चंदू पता नहीं कहां मर-बिला गया। महीनों पर महीने बीतते गये। सकीना की मां मर गयी। रायबहादुर हीरालाल का तोता मर गया। शंभू के घर में कोई मरी बिल्ली डाल आया। कामता के घर में चोर घुसे और जल्दी में अपनी

ही थैली भूल गये, जिसमें कहीं और का चुराया हुआ नौ सौ रूपैया था। राम संजीवन की बेटी किसी दूधवाले के साथ भाग गयी। नब्बे साल के अफीमची नन्हें मियां को एक सांप ने काट खाया और वहीं लोट गया। कुत्तों को भगाने के पीछे हेड-क्लर्क मथुरा बाबू का छाता टूट गया। बेचारे हाय-हाय करते घर पहुंचे और तीन महीने बिस्तर से नहीं उठ सके।

सब-सब हुआ। मैंने देखा, मैंने सुना। और तीसों दिन बारहों महीना, जाड़ा-गर्मी-बरसात, इसी तरह खड़ी रही। हां, मेरी गरदन अलबत्ता बुढ़ापे से थोड़ी झुक गयी है और ऐसा लगता है, जैसे ऊपर से नीचे तक मोर्चा लग गया हो।

एक दिन की बात है। रात के कोई ग्यारह बजे होंगे, कई दिन से झड़ी लगी हुई थी, उस बखत भी रिमझिम पानी गिर रहा था, मैंने चंदू को अपने पास से जाते देखा। चंदू ने मेरी तरफ ताका तक नहीं, जैसे कभी की जानपहचान न हो अपने साथी से बात करता चला जा रहा था। उसको पहचानने में थोडा समय लगा मुझे और जब पहचाना, तो मेरी हैरानी का अंत न रहा। वह रायबहादुर हीरालाल का बेटा सुनील था। सुनील और चंदू का क्या साथ ? रायबहादुर हीरालाल की ऊंची हवेली इस गली की शान है। उन्हीं के नाम से यह गली जानी जाती है। बहुत अमीर आदमी है। सरकार उनको बहुत मानती है। हर रोज एक-न-एक अंग्रेज, बड़ा हाकिम फिटन पर चढ़कर उनके यहां खाना खाने आता है। डाली पहुंचाने में भी रायबहादुर साहब कभी चूक नहीं करते। अंग्रेज बड़ा दिलदार आदमी होता है। जिसको अपना बना लेता है, बना लेता है। जिले में कहीं कोई ठेका हो, किसी चीज का ठेका हो, सबसे पहला हक उस पर रायबहादुर हीरालाल का है, वह छोड़ दें, तभी दूसरे को मिल सकता है। तभी तो इतनी लच्छमी है घर में। उनका बेटा है सुनील। उसका और चंदू का क्या साथ, जिसके खाने का भी ठिकाना नहीं। पर लगता है, दोनों में बड़ी दोस्ती है। बहुत घुल-घुलकर बातें करते चले आ रहे थे दोनों।

फिर तो कितनी ही बार मैने दोनों को साथ देखा। अपने घर में तो चंदू रहता नहीं, फिर यहां क्या करने आता है ? लगता है, कहीं किसी हीले से लग गया है। शरीर भी अब वैसा चिमिर्खी जैसा नहीं है, कुछ-कुछ अपने बाप का बेटा हो चला है। एक दिन मैंने उसके हाथ में एक काली-काली-सी चमकती हुई चीज देखी। पिस्तौल होगी। अपने बाप को मारना चाहता है क्या ? मगर बाप को मारकर क्या करेगा, वह तो यों ही दोनों एक-दूसरे के लेखे मर चुके। कौन जाने किसी से आसनाई हो। आसिकी-मासूकी का मामला टेढ़ा होता है।

गली में आजकल बड़ी हलचल है। न दिन देखें न रात, बड़ा शोर मचता है। आसपास की गलियों से और जाने कहां-कहां से लोग बटुर आते हैं। औरत भी, मर्द भी। झण्डा लेकर निकल पड़ते हैं सब। दो-दो सौ, चार-चार सौ। बड़े जोर से चिल्लाते हैं सब, गला भी नहीं फटता ! हर तीसरे-चौथे। एक दिन बड़े जोर की होली जली। मैं समझी, आग लग गयी कहीं, ऐसी ऊंची लपट उठ रही थी। पीछे पता चला, वह भी सुराजी लोगों का बखेड़ा था। विलायती कपड़ा सबके घर से निकालकर आग लगा दी। रायबहादुर साहब की लड़कियों ने भी अपने कपड़े दे दिये। उनको ऐसा नहीं करना था—कम से कम बाप का खयाल करके। गोरों से उनकी ऐसी दांत-काटी रोटी है। बिगड़ जायेंगे, तो फिर कहां से बरसेगा ये हुन ! मैं तो देखती हूं, सब पगला गये हैं। अच्छा मंतर फूंका है इन सुराजियों ने ! चंदू भी शायद सुराजी है। वह तो यों ही नंगा है। लेकिन सुनील ?

वही हुआ, जिसके लिए मैं डर रही थी—रायबहादुर साहब ने सुनील को घर से निकाल दिया। पता नहीं, बेचारा अब कहां जाएगा। पर यह तो पहले ही सोचना था। रुपये में तीन अठन्नी भंजाता है उसका बाप। बड़ी नकघिसाई करके यह सब माया जोड़ी है। किसी का सगा नहीं है वो, बेटे का, न बाप का। वो तो बस अपने रुपये का सगा है।

उस दिन की बात है, और दिनों से भी ज्यादा शोर मच रहा था, कहीं ज्यादा। कान पड़ी आवाज नहीं सुनायी देती थी। लगता है, शहर भर के लोग यहीं जमा हो गये थे। जोर-शोर से नारे लग रहे थे। घोड़ों की टापें बज रही थीं। उस शोर में भी एक सन्नाटा-सा था, जो मुझे अपने कानों में बजता सुनायी पड़ रहा था। दो लोग उस भीड़ से अलग मुझसे सटे खड़े थे और जल्दी-जल्दी बोल रहे थे। चंदू ने कहा—मैं तो दो-एक को ढेर किये बिना न छोड़ूंगा।

सुनील ने समझाया—नहीं, ऐसा मत करना। बेमतलब सौ-पचास लोगों को भुनवा दोगे। तुम्हारी एक पिटपिटिया से क्या होगा ! देखते नहीं, यहां से वहां तक बंदूके ही बंदूकें चमक रही हैं ! किरचें भी लगा रक्खी हैं हत्यारों ने। आज कुछ न कुछ होकर रहेगा।

चंदू ने कहा—तू भी कैसी बातें करता है, सुनील ! ऐसे वक्त में यह सब नहीं सोचा जाता।

शोर और पास आता जा रहा था, जैसे बादल गड़गड़ा रहे हों। हवा बंद हो गयी थी। मेरा दम घुटा जा रहा था। इसलिए और भी कि अभी दिन था और अपनी अंधी आंखें भी मुझे नहीं मिली थीं। दोनों फौजें अब शायद आमने-

सामने टूट गयी थीं। एक न एक दीवार को फटना जरूर था। चंदू बोला—चलो, हम भी चलें। और जाते-जाते कीक-सी मारकर बोला—सुनील, सुनील, वह देख कमली भी आयी है।

सुनील ने अचकचाते हुए कहा—कमली ! कहां ? कहां ?

चंदू ने कहा—वो तो रही सामने। तुझे कुछ नहीं दिखायी देता। नीली-नीली साड़ी पहने···

बाप रे बाप ! रायबहादुर हीरालाल का तो दम ही निकल जाएगा। लगता है भाई के घर से निकाले जाने पर वह और भी अदबदाकर सुराजियों का साथ देने लगी। नहीं पूछो, तुम लड़की जात, अपने घर में बैठो, तुम्हारा इस आंधी-तूफान में क्या काम !

चंदू ने भागते-भागते कहा—कमली को कुछ हुआ तो, भगवान् कसम, मैं तुम्हारी एक नहीं सुनूंगा, सुनील !

दो ही चार मिनट बीते होंगे कि तड़-तड़ गोलियां चलने लगीं और न जाने कितनी देर तक चलती रहीं।

अगले दिन जमीन लाशों से पटी पड़ी थी। गली में और आस-पास सभी तरफ रोना-पीटना मचा था। घरवाले मुर्दों के उस ढेर में, आड़ी-तिरछी पड़ी लाशों को बचाते हुए, अपने सगे-संबंधियों को ढूंढते फिर रहे थे। चील-कौए यहां-वहां पंगत लगाये बैठे थे। कुत्ते अलग अपनी ताक-झाक में लगे थे।

मरने वालों में सुनील भी था। रायबहादुर हीरालाल घर से निकलकर ही नहीं आये। सुनील की अम्मां छाती पीट-पीटकर रो रही थीं। कमली बेहोश पड़ी थी। चंदू की, सुना, पुलिस ने पहले खूब गहरे में पिटाई की और फिर लारी में डालकर जेल पहुंचा दिया।

अब तो गली में सब तरफ सन्नाटा है, अंधेरा है। मुझे भी तो काट कर गिरा दिया गया है, लेकिन मैं खुश हूं, मेरा चोला भी किसी काम आया। जलूस-वलूस सब बंद हैं आजकल। गोलियों की सनसनाहट अभी हवा में बाकी है। लोग अपने दाल-भात में जी-जान से लगे हैं। कमली का दिमाग खराब हो गया है। लगता है, कुंजी कहीं ढीली पड़ गयी। झूटमूठ चौंकती रहती है दिनभर। कभी सोते से उठकर बैठ जाती है और जाने क्या हबुआने लगती है। एक दिन तो गरीबदास के कुएं की ओर भागी जा रही थी। वह तो कहो देख लिया लोगों ने। जाप बैठा हुआ है ग्रह-शांति के लिए। एक हजार लोगों का ब्राह्मण भोज भी होगा, ऐसा सुना है। राम करें, बेचारी अच्छी हो जाय, नहीं जिनगी कैसे कटेगी।

कभी-कभी कोई हवाई जहाज घरघराता हुआ निकल जाता है, तो बच्चे-बूढ़े-

जवान, सब बड़ी देर तक उसे देखते रहते हैं और फिर कई-कई रोज गली में उसी उसकी चर्चा होती रहती है। कोई कहता है, जापानी आने वाले हैं। आवेगा, अब कोई आवेगा, अभी तो भुखमरी आयी हुई है। किसी के घर में दोनों जून चूल्हा नहीं जलता। सबको तो देखती हूं आते-जाते! कमर झुक गयी है। आंखें गड्ढों में घंस गयी हैं। हड्डी-हड्डी निकल आयी है। बच्चे बुड्ढे हो गये हैं। न खेलते हैं, न हंसते हैं। दिनभर सिगरेट-बीड़ी के टुर्रे बीना करते हैं। रामकली ने अपने तीनों बच्चों को जहर देकर फांसी लगा ली। रायबहादुर हीरालाल मिलिटरी सप्लाई का काम करते हैं। लेकिन एक आढ़त भी तो है उनकी। उसमें पता नहीं क्या बेचते होंगे, बंद पड़ी होगी। तभी एक दिन, दो नौजवान होंगे कोई, आपस में बातें करते चले जा रहे थे। उन्हें क्या पता कि ऐसे वक्त में खंभों के भी कान होते हैं, संभलकर बात करनी चाहिए। एक ने दूसरे से कहा—रायबहादुर हीरालाल की खत्तियां देखी हैं तुमने? छत तक अटम लगा है बोरियों का। तिल रखने को जगह नहीं। रकाबगंज, निनावा, शहराराबाद, जैतपुरा, जाने कहां-कहां। पहाड़ लगा है अनाज का, पहाड़···

दूसरे पर कोई असर नहीं पड़ा, बोला—सब गोरों की उड़ायी हुई बातें हैं। उन्होंने भर रखे हैं अपनी मलेटरी के गोदाम।

पहले ने कहा—छोड़ भी, कौन तेरे मुंह लगे! मैं अपनी आंखों देख आया हूं···

दूसरे ने कहा—देख आया है, तो रपट क्यों नहीं कर देता?

पहले ने कहा—रपट तो मैं अभी कर दूं और चलकर पकड़वा भी दूं, मगर कोई सुननेवाला भी तो हो। सब तो एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। मेरे-तेरे मरने-जीने की···

दूसरे ने बात काटते हुए कहा—तो फिर बैठ चुप मारकर, क्यों झूठमूठ अपना और दूसरे का खून जलाता है! खत्तियां मैंने नहीं देखीं, हवेलियां देखी हैं, नयी-नयी, जो रायबहादुर साहब एक पर एक खरीदते जा रहे हैं।

मैं क्या जानूं। मैं तो बस एक लालटेन हूं, अंधी लालटेन। खड़ी रहती हूं। रोशनी भी अब कहां है मेरे अंदर! लेकिन हां, अपनी इन फूटी आंखों भी मैंने सोयी रात ठेलों पर बोरियां ढुलते देखी हैं। जाती होंगी, जहां जाती होंगी।

जो हो, लछमीजी की बड़ी किरपा है रायबहादुर साहब पर। जिस चीज को हाथ लगाते हैं, सोना बन जाती है। सुनील और कमली की करनी से साहब लोग काफी उखड़ गये थे उनसे, दो-एक महीने न कोई मुजरा हुआ न किसी साहब-मेम की शकल दिखायी दी। मगर फिर क्या कहना रायबहादुर साहब का, बात क्या करते हैं, मिश्री घोलते हैं, उन्होंने फिर सब कुछ पहले जैसा जमा लिया।

इसी तरह तीन-चार बरस निकल गये। किसी ने जेल की हवा खायी किसी के हाथ-पैर टूटे, किसी ने पेड़ की छाल खाकर अपने प्राण बचाये, किसी ने अपना शरीर बेचा, रायबहादुर हीरालाल अपना वही जादू का पेड़ हिलाते और रुपया बटोरते रहे और आज तीन चौथाई शहर के मालिक हैं।

फिर एक दिन बड़े जोर का जशन मनाया गया। शहर में जगह-जगह प्रभात-फेरी हुई। छोटे-बड़े बहुत जलूस निकले। जिधर देखो, तिरंगे झण्डे की बहार। (चंदू भी बड़ा सा एक झण्डा लिये इधर उधर कुदक्कड़ा मारता घूम रहा था।) कहीं फाटक बन रहे हैं, कहीं बंदनवार सजाये जा रहे हैं, कहीं हवनकुण्ड बन रहा है, कहीं वेद पाठ हो रहा, है, कहीं सभामंच बन रहा है। लोगों के चेहरे जगमगा रहे हैं, सब तरफ एक बिजली-सी दौड़ रही है। और तो और, इसी हल्ले में मेरा भी कायाकल्प हो गया। नीचे से ऊपर तक मेरे शरीर में सेंदुर का लाल चटख रंग पोत दिया गया। मेरी भी नयी जिंदगी शुरू हुई।

मेरी खुशी का ठिकाना नहीं है। सांस भीतर समा नहीं रही है। आंखें तैर रही हैं। आज़ के इस दिन में मेरा भी थोड़ा-सा हाथ है। सबके भीतर एक फुरहरी-सी दौड़ रही है। लेकिन पुरानी बातें मैं भूलूं तो कैसे भूलूं! यहां से चार कदम पर सुनील उस दिन गोली खाकर मर गया, लेकिन रायबहादुर हीरालाल घर से बाहर नहीं निकले और न शायद एक आंसू उनकी आंख से निकला, आज वही रायबहादुर साहब आजादी के जशन में सबसे आगे आगे थे। महीन खादी की झक सफेद धोती, वैसा ही महीन कुर्ता, और गांधी टोपी। सबसे आगे आगे दौड़ रहे थे। जहां जरूरत हो, वहां भी। तीनों मोटरें उनकी अलग दौड़ते दौड़ते बेदम हुई जा रही थीं। मैंने सुना कि शहर भर में सैकड़ों फाटक बनाये जा रहे थे—एक से एक दामी, एक से एक सुंदर। एक फाटक चांदी के बरतनों को, मुझसे जरा हटकर तैयार किया जा रहा था – रायबहादुर हीरालाल की गली का सिंहद्वार। पचीस-तीस आदमी सबेरे से उसमें लगे थे। उन्हीं लोगों के मुंह से मैंने यह भी सुना कि रात को रायबहादुर साहब की हवेली पर ग्यारह सौ लोगों का भोज होने जा रहा था। आते-जाते लोग उनको सराह रहे थे—शेर का कलेजा है! कैसा पानी की तरह रुपया बहा रहा है, और कौन माई का लाल करेगा! खजाना खोल दिया है, करो जितना खर्च करना हो। पैसे की परवाह मत करो, काम ऐसा होना चाहिए कि शहर वाले देखते रह जायें। यह दिन बार बार थोड़े ही आता है। लछमी जी आदमी देखकर जाती हैं, जिसके यहां जाती हैं। अरे, तो क्यों न करे माई, इसी आजादी के पीछे तो उसने अपना हीरे-सा बेटा गंवाया, बेटी पागल हुई सो अलग।

मैं हैरान हूं, लोगों को कुछ याद क्यों नहीं रहता ! अपने इन्हीं कानों से मैंने रायबहादुर साहब के लिए भद्दी से भद्दी गालियां सुनी हैं। आज उन्हीं की तारीफ करते लोग नहीं अघाते !

फिर पता नहीं, कितने दिन बीत गये, या कितनी सदियां बीत गयीं, मेरे लेखे सब बराबर हैं। सुना है, आज फिर कोई बड़ी सभा है, दसवीं कि पंद्रहवीं सालगिरह। मैंने पूछा, काहे की, तो वह मेरा ही मुंह ताकने लगे। कोई कहां तक याद भी रखे, रोज ही तो भोंपू चिग्घाड़ता रहता है। मैं इसी उधेड़-बुन में थी कि तभी चंदू मेरे पास आकर खड़ा हो गया। देखने लगा, सब कुछ जो हो रहा था। उसकी तरफ किसी ने नहीं देखा। तब वह मुझसे सटकर खड़ा हो गया। मैं उसकी बुढ़िया संगिन जो ठहरी।

—देखती हो ?

—देखती हूं।

—क्या देखती हो ?

—देखती हूं कि लोग तुमको नहीं देखते।

—तुम्हें तो होगी याद अगली बातों की ?

—याद क्या होती है चंदू ?

—जो किसी को न रहे, वही याद है।

—मैं तो चिढ़ा रही थी तुम्हें। मेरे पास यादों के सिवा और है भी क्या !

—यहीं पास में सुनील के गोली लगी थी।

—हां।

—और यहीं, थोड़ा आगे, गोरों ने कमली को····

—कोई दाग-धब्बा नहीं ठहरता, मिट्टी सबको खा जाती है।

—मैं कौन हूं ?

—मैं लालटेन हूं।

—नहीं, नहीं, मैं कौन हूं ?

—तू एक चिथड़ा है। चिथड़ा बड़े काम की चीज है।

—फिर लोग उसे फेंक क्यों देते हैं ?

—इसलिए कि घर में चिथड़ा रखना दलिद्दर की निशानी है।

—झण्डा भी तो एक चिथड़ा है।

—कैसी बात करता है तू। झण्डा कभी चिथड़ा नहीं होता, उसे बार-बार फेंककर बार-बार उठा लिया जाता है।

—आज का दिन भी कैसा है ! मैं धूप में खड़ा हूं, पर मेरी छाया नहीं पड़ रही है कहीं।

—पागल हुआ है, देखता नहीं, सूरज तेरे सर पर चमक रहा है !

चंदू को मैं बहुत प्यार करती हूं। बहुत अच्छा लड़का है। बड़ा मजा आ रहा था उसको चिढ़ाने में। मैं कहना चाहती थी कि इसमें बुरा मानने की वैसी कोई बात नहीं है। देश को जब सिपाहियों की जरूरत थी, तब तुम्हारी पूछ थी, आज तो इस रंगीन त्यौहार की कामयाबी के लिए कुछ दूसरे ही लोगों की जरूरत है, जो भांड़ों की तरह नकलें उतार सकते हैं, तरह-तरह की आवाजें गले से निकाल सकते हैं, जो अच्छे बहुरूपिये हैं, अच्छे बाजीगर, उन्हीं से तो उत्सव जमेगा ! रूखे-फीके सिपाही लेकर हम क्या करेंगे !

यही कुछ मैं चंदू से कहना चाहती थी, मगर पगला उसके पहले ही चला गया, तो मैंने कहा—लाओ मैं भी ऊंघ लूं थोड़ी देर।

जागी तब तक फाटक-वाटक झण्डियां-वण्डियां पूरी हो चुकी थीं। बड़ी-बड़ी मोटरें सन्-सन् दौड़ रही थीं। मैदान तेजी भर रहा था। भोंपू गला फाड़कर गाये जा रहा था। जाने कहां-कहां के खोमचेवाले, तमाशे वाले आकर मैदान के बाहरी घेरे में जम गये थे, बिजली के हजारों लट्टू जग रहे थे ! रात को दिन बनाने का सामान हो रहा था।

सभा का वक्त हो गया था। अब बस किन्हीं बड़े नेता जी का इंतजार था। मेरे पास से आते जाते लोग उन्हीं का नाम ले रहे थे। रायबहादुर हीरालाल बिजली की फुरती से अपने इंतजाम की नोक-पलक ठीक करने में लगे थे। पसीने के मारे बुरा हाल था। आखिरकार नेता जी जहाज जैसी लंबी गाड़ी में आये और सब तरफ सन्नाटा छा गया। सांस रोककर लोग बैठ गये। मैंने भी कान लगाये। लेकिन तभी एक अजीब-सी खलबली मुझे एक तरफ के लोगों में दिखायी दी। कुछ लोग खड़े हो रहे थे, कुछ उझककर न जाने क्या देखने की कोशिश कर रहे थे, कुछ इधर उधर भागने लगे। सांप-बिच्छू कुछ निकल आया क्या कहीं से !

नजर जो घुमाती हूं, तो कमली ! वही पागल छोकरी रायबहादुर साहब की—लगभग नंगी, बदहवास, चीकट बाल बिखेरे, चेहरे पर हवाइयां उड़ती हुई, छाती पीटती, जाने क्या-क्या ऊटपटांग बकती झकती भागी चली आ रही थी। और उसके पीछे "पकड़ो-पकड़ो" का शोर मचाती हुई एक फौज रायबहादुर के नौकरों की···

···उस गुल-गपाड़े में कुछ सुनायी पड़ा, कुछ नहीं सुनायी पड़ा। और फिर जाने कैसे मेरी नजर आपसे आप उचटकर रायबहादुर साहब की तरफ चली गयी, जो उस वक्त मंच पर खड़े उन बड़े नेता जी से बातें कर रहे थे और बेतहाशा मुस्कराये जा रहे थे, कमली का यह कापालिक रूप और उसके पीछे

अपने नौकरों की बारात देखकर उनके चेहरे का रंग उड़ गया, जो शायद किसी और ने नहीं देखा, मगर मेरी तो आंखें गड़ी थी उन पर और मैंने देखा कि उस एक मिनट में कितने रंग उनके चेहरे पर आये और गये। फिर वह उसी तरह मुसकराते हुए एक ओर को सरक गये, जहां पुलिस का कोई बड़ा अफसर था। पता नहीं रायबहादुर साहब ने चुपके-चुपके उसके कान में क्या कहा, जरा देर बाद मैंने देखा कि पुलिस का एक जत्था कमली को पकड़े लिये जा रहा है और वह उसी तरह हाथ-पैर पटकती हुई "मैं भारतमाता हूं! भारतमाता की जय!" की रट लगाये है! जरा आगे जाने पर वह एक जगह ठिठककर खड़ी हो गयी और बहुत डरावने ढंग से ठठाकर हंसती हुई बोली—"सुहागरात! मेरी सुहागरात! कमली की सुहागरात!..." और अजीब ढंग से आंखें नचाने लगी। पुलिस वाले कुछ भी न समझे। बंदरों की तरह खी-खीखी-खी हंसते रहे। पगली की बातें। हंसते-हंसते कब उसकी आंखों से आंसू नन्हीं-सी कुप्पी के तेल की तरह बूंद-बूंद करके टपकने लगे, किसी ने देखा न समझा।

तभी बादलों के गरजने की तरह तालियां गड़गड़ा उठीं। मैंने नजर उठायी, तो देखा कि चंपाकली नेता जी के गले में बड़ा-सा फूलों का हार डाल रही है—चंपा! मेरी आंखें फटी की फटी रह गयीं। चंपा यहां कैसे आ गयी? चंपा का यहां पर क्या काम? गुण्डों की रानी, पुलिस वाले भी जिसके नाम से थर्राते हैं, भठियारिन, कलारिन, जुआ खिलाना जिसका काम, जिसने पहले चंदू को घर से निकलवाया और फिर एक रात अपने आदमी की बोटी-बोटी कटवाकर चील-कौओं को खिला दी और कोई चूं तक न कर सका···

मेरा सर उड़ा जा रहा था। दूध बिलोने से मक्खन के बदले यह कीट कैसे ऊपर आ गयी! एकाएक मुझे बड़ी थकान मालूम हुई। लगा, जैसे मेरे भीतर अब कहीं कोई जान, कोई रोशनी नहीं बची और मैं इसी दम गिरकर ढेर हो जाऊंगी। लेकिन मैं गिरी नहीं, ऊंघती-सी खड़ी रही। मंच की तरफ से आती हुई उखड़ी-उखड़ी-सी आवाजें मेरे कानों में पड़ती रहीं, जैसे बहुत सी मधुमक्खियां एक साथ भनभना रही हों।

इसी तरह ऊंघते-जागते पता नहीं कब मेरी आंख लग गयी और मैंने एक सपना देखा। सपना क्या था, बाइस्कोप था, जैसा शुबराती गली के बच्चों को दिखाता फिरता है—गोले में आंख लगा लो और देखे जाओ, तसवीरें एक के बाद एक।

एक बहुत डरावना, काला, उदास, मटीला सूरज, जिसके गिर्द मकड़ी का जाला है।

भांय-भांय करती हुई ऊसर-बंजर, भूरी धरती, जिसका कहीं ओर छोर

नहीं है, वैसे ही जैसे भेड़-बकरियों की उस लंबी-लंबी कतार का, जो सर झुकाये रेंगती चली जा रही है।

बीच सड़क एक गाय बैठी है। एक कौआ उसके घाव पर बैठा चोंच मार रहा है।

एक सूखा कुआं, जिसके तले में एक बूंद पानी नहीं है।

आसमान से बात करता हुआ बबूल का एक मोटा तनावर पेड़, जिसमें एक पत्ती नहीं है, किसी राक्षस के कंकाल जैसा।

कोढ़ के जखम जैसे ढेरों बुझे हुए कोयले, यहां से वहां तक।

एक औरत सीना ताने बाजार में बैठी है। शायद यही नंगी धोबन है। सैकड़ों साल में भी वह बुड्ढी नहीं हुई। उसके आसपास बहुत से लोग मंडरा रहे हैं। उसके मुंह से राल टपक रही है।

बेहद खूबसूरत एक कश्मीरी सेव, जिसमें कीड़े पड़ गये हैं।

बहुत से लोग खड़े हैं, जिनमें किसी को मैं नहीं पहचानती। और एक सान रखने वाला दढ़ियल आदमी उनके पुराने चाकुओं पर सान रख रहा है।

हिजड़ों की एक टोली, जो खूब भाव बता-बताकर नाच रही है।

क्लॉड ईथरली

गजानन माधव मुक्तिबोध

पीली धूप से चमकती हुई ऊंची भीत जिसके नीले फ्रेम में कांचवाले रोशनदान दूर सड़क से दीखते हैं।

मैं सड़क पार कर लेता हूं। जंगली, बेमहक लेकिन खूबसूरत विदेशी फूलों के नीचे ठहर-सा जाता हूं कि जो फूल, भीत के पासवाले अहाते की आदमक़द दीवार के ऊपर फैल, सड़क के बाज़ू पर बांहें बिछाकर झुक गये हैं। पता नहीं कैसे, किस साहस से व क्यों, उसी अहाते के पास बिजली का ऊंचा खम्भा—जो पांच-छह दिशाओं में जानेवाली सूनी सड़कों पर तारों की सीधी लकीरें भेज रहा है—मुझे दीखता है और एकाएक खयाल आता है कि दुमंज़िला मकानों पर चढ़ने की एक ऊंची निसैनी उसी से टिकी हुई है। शायद, ऐसे मकानों की लम्ब-तड़ंग भीतों की रचना अभी भी पुराने ढंग से होती है।

सहज जिज्ञासावश, देखें, कहां क्या होता है, दृश्य कौन-से कोण से दिखायी देता है, मैं उस निसैनी पर चढ़ जाता हूं और सामनेवाली पीली ऊंची भीत के नीली फ्रेमवाले रोशनदान में से मेरी निगाहें पार निकल जाती हैं।

और, मैं स्तब्ध हो उठता हूं।

छत से टंगे ढिलाई से गोल-गोल घूमते पंखे के नीचे, दो पीली स्फटिक-सी तेज़ आंखें और लम्बी सलवटों-भरा तंग मोतिया चेहरा है जो ठीक उन्हीं ऊंचे रोशनदानों में से, भीतर से बाहर, पार जाने के लिए ही मानो अपनी दृष्टि केन्द्रित कर रहा है। आंखों से आंखें लड़ पड़ती हैं। ध्यान से एक दूसरे की ओर देखती हैं। स्तब्ध, एकाग्र!

आश्चर्य!

सांस के साथ शब्द निकले। ऐसी ही कोई आवाज़ उसने भी की होगी।

चेहरा बुरा नहीं है, अच्छा है, भला आदमी मालूम होता है। पैण्ट पर शर्ट ढीली पड़ गयी है। लेकिन यह क्या!

मैं नीचे उतर पड़ता हूं। चुपचाप रास्ता चलने लगता हूं। कम से कम दो फ़र्लांग दूरी पर एक आदमी मिलता है। सिर्फ़ एक आदमी! इतनी बड़ी सड़क होने पर भी लोग नहीं! क्यों नहीं?

पूछने पर वह शख्स कहता है, "शहर तो इस पार है, उस ओर है; वहीं कहीं इस सड़क पर बिल्डिंग का पिछवाड़ा पड़ता है। देखते नहीं हो!"

मैंने उसका चेहरा देखा ध्यान से। बायीं और दाहिनी भौंहें नाक के शुरू पर मिल गयी थीं। खुरदुरा चेहरा, पंजाबी कहला सकता था। पूरा जिस्म लचकदार था। वह निःसन्देह जनाना आदमी होने की सम्भावना रखता है! नारी तुल्य पुरुष, जिनका विकास किशोर काल में ही रुक जाता है। यह विशेषज्ञों का विषय है।

इतने में, मैंने उससे स्वाभाविक रूप से, अति सहज बनकर पूछा, "यह पीली बिल्डिंग कौन-सी है।" उसने मुझपर अविश्वास करते हुए कहा, "जानते नहीं हो? यह पागलखाना है—प्रसिद्ध पागलखाना!"

"अच्छा—!" का एक लहरदार डैश लगाकर मैं चुप हो गया और नीची निगाह किये आगे चलने लगा।

और फिर हम दोनों के बीच दूरियां चौड़ी होकर गोल होने लगीं। हमारे साथ हमारे सिफर भी चलने लगे।

अपने-अपने शून्यों की खिड़कियां खोलकर मैंने—हम दोनों ने—एक दूसरे की तरफ देखा कि आपस में बात कर सकते हैं या नहीं। कि इतने में उसने मुझसे पूछा, "आप क्या काम करते हैं?"

मैंने झेंपकर कहा, "मैं? उठाईगिरा समझिये।"

"समझें क्यों? जो हैं सो बताइये!"

"पता नहीं क्यों, मैं बहुत ईमानदारी की जिन्दगी जीता हूं; झूठ नहीं बोला करता, परस्त्री को नहीं देखता; रिश्वत नहीं लेता; भ्रष्टाचारी नहीं हूं; दगा या फरेब नहीं करता; अलबत्ता कर्ज मुझपर जरूर है जो मैं चुका नहीं पाता। फिर भी कमाई की एक रकम कर्ज में ही जाती है। इसपर भी मैं यह सोचता हूं कि बुनियादी तौर से बेईमान हूं। इसीलिए, मैंने अपने को पुलिस की जबान में उठाईगीरा कहा। मैं लेखक हूं, अब बताइये आप क्या हैं?"

वह खिलखिला दिया। कहा कुछ नहीं। ज़रा देर से उसका मुंह खुला। उसने कहा, "मैं सी. आई. डी. हूं।"

एकदम दबकर मैंने उससे शेकहैण्ड किया। (दिल में भीतर से किसी ने कचोट लिया। हाल ही में निसैनी पर चढ़कर मैंने उस रोशनदान में से एक आदमी की

सूरत देखी थी; वह चोरी नहीं तो क्या थी। सन्दिग्धावस्था में उस साले ने मुझे देख लिया !)।

"बड़ी अच्छी बात है। मुझे भी इस धन्धे में दिलचस्पी है, हम लेखकों का पेशा इससे कुछ मिलता-जुलता है।"

इतने में भीमाकार पत्थरों की विक्टोरियन बिल्डिगों के दृश्य दूर से झलकने लगे थे। हम खड़े हो गये। एक बड़े से पेड़ के नीचे पान की दूकान थी, वहां एक सिग्रेटी रंग की औरत मिस्सी और काजल लगाये बैठी हुई थी।

मेरे मुंह से अचानक निकल पड़ा, "तो यहां भी पान की दूकान है !"

उसने सिर्फ़ इतना ही कहा, "हां, यहां भी।"

और मैं उन अध-नंगी विलायती औरतों की तसवीरें देखने लगा जो उस दूकान की शौकत को बढ़ा रही थीं।

दूकान में आईना लगा था। लहरें थीं धुंधली, पीछे के मसाले के दोष से। ज्यों ही उसमें मैं अपना मुंह देखता, बिगड़ा नजर आता। कभी लम्बा, तो कभी चौड़ा। कभी नाक एकदम छोटी, तो कभी एकदम लम्बी और मोटी ! मन में बड़ी वितृष्णा भर उठी। रास्ता लम्बा था, सूनी दुपहर। कपड़े पसीने से भीतर चिपचिपा रहे थे। ऐसे मौक़े पर दो बातें करनेवाला आदमी मिल जाना समय और रास्ता काटने का साधन होता है।

हम दोनों ने अपने-अपने और एक-दूसरे के चेहरे देखे। दोनों ख़राब नज़र आये। दोनों रूप बदलने लगे ! दोनों हंस पड़े और यही मज़ाक़ चलता रहा।

उससे वह औरत भी छेड़छाड़ करती रही। इतने में चार-पांच आदमी और आ गये—उसी तरह बेमानी, गरम और उकतानेवाले, जैसे टीन की तपती हुई चद्दर या लोहे के डण्डे। वे सब घेरे खड़े रहे। चुपचाप उन सबमें कुछ बातें होती रहीं। मुझे बिल्कुल मज़ा नहीं आया। उनकी आवाज़ें सिर पर से निकल जाती थीं।

मैंने ग़ौर नहीं किया। मैं इन सब बातों से दूर रहता हूं। जो सुनायी दिया उससे यह ज़ाहिर हुआ कि वे या तो निचले तबक़े में पुलिस के इनफ़ार्मर्स हैं या ऐसे ही कुछ !

पान खाकर हम लोग आगे बढ़े। पता नहीं क्यों मुझे अपने अजनबी साथी के ज़नानेपन में कोई ईश्वरीय अर्थ दिखायी दिया। जो आदमी आत्मा की आवाज दाब देता है, विवेक-चेतना को अटाले में डाल देता है, उसे क्या कहा जाय ! वैसे, वह शख्स भला मालूम होता था। फिर, क्या कारण है कि उसने यह पेशा

इख्तियार किया ! साहस ? हां, कुछ साहसिक लोग पत्रकार या गुप्तचर या ऐसे ही कुछ हो जाते हैं, अपनी आंखों में महत्त्वपूर्ण बनने के लिए, अस्तित्व की तीखी संवेदनाएं अनुभव करने और करते रहने के लिए।

लेकिन, प्रश्न यह है कि वे वैसा क्यों करते हैं ! किसी भीतरी न्यूनता के भाव पर विजय प्राप्त करने का यह एक तरीका भी हो सकता है। फिर भी, उसके दूसरे रास्ते भी हो सकते हैं ! यही पेशा क्यों ? इसलिए, उसमें पेट और प्रवृत्ति का समन्वय है ! जो हो, इस शख्स का ज़नानापन खास मानी रखता है !

हमने वह रास्ता पार कर लिया और अब हम फिर से फैशनेबल रास्ते पर आ गये, जिसके दोनों ओर युकलिप्टस के पेड़ कतार बांधे खड़े थे। मैंने पूछा, "यह रास्ता कहां जाता है ?" उसने कहा, "पागलखाने की ओर।" मैं जाने क्यों सन्नाटे में आ गया।

विषय बदलने के लिए मैंने कहा, "तुम यह धन्धा कब से कर रहे हो ?"

उसने मेरी तरफ़ इस तरह देखा मानो यह सवाल उसे नागवार गुज़रा हो। मैं कुछ नहीं बोला। चुपचाप चला, चलता रहा। लगभग पांच मिनट बाद जब हम उस भैरों के गेरुए, सुनहली पन्नी-जड़े पत्थर तक पहुंच गये, जो इस अत्याधुनिक मुहल्ले में एक तार के खम्भे के पास श्रद्धापूर्वक स्थापित किया गया था, उसने कहा, "मेरा किस्सा मुख्तसर यों है। लाज-शरम दिखावे की चीजें हैं। तुम मेरे दोस्त हो, इसलिए कह रहा हूं। मैं एक बहुत बड़े करोड़पति सेठ का लड़का हूं। उनके घर में जो काम करनेवालियां हुआ करती थीं, उनमें से एक मेरी मां है, जो अभी भी वहीं है। मैं घर से दूर पाला-पोसा गया, मेरे पिता के ख़र्चे से। मां मिलने आती। उसी के कहने से मैंने बमुश्किल तमाम मैट्रिक किया। फिर, किसी सिफ़ारिश से सी. आई. डी. की ट्रेनिंग में चला गया। तब से यही काम कर रहा हूं। बाद में पता चला कि वहां का खर्च भी वही सेठ देता रहा। उसका हाथ मुझपर अभी तक है। तुम उठाईगिरे हो, इसलिए कहा ! अरे ! वैसे तो तुम लेखक-वेखक भी हो। बहुत-से लेखक और पत्रकार इनफ़ॉर्मर हैं ! तो, इसलिए, मैंने सोचा, चलो अच्छा हुआ। एक साथी मिल गया।"

उस आदमी में मेरी दिलचस्पी बहुत बढ़ गयी। डर भी लगा। घृणा भी हुई। किस आदमी से पाला पड़ा। फिर भी, उस अहाते पर चढ़कर मैं झांक चुका था। इसलिए, एक अनदिखती जंजीर से बंध तो गया ही था।

उस ज़नाने ने कहना जारी रखा, "उस पागलखाने में कई ऐसे लोग डाल दिये गये हैं जो सचमुच आज की निगाह से बड़े पागल हैं। लेकिन उन्हें पागल कहने की इच्छा रखने के लिए आज की निगाह होना ज़रूरी है।"

मैंने उकताते हुए कहा, "आज की निगाह से क्या मतलब ?"

उसने भौंहें समेट लीं। मेरी आंखों में आंखें डालकर उसने कहना शुरू किया, "जो आदमी आत्मा की आवाज़ कभी-कभी सुन लिया करता है और उसे बयान करके उससे छुट्टी पा लेता है, वह लेखक हो जाता है। आत्मा की आवाज़ जो लगातार सुनता है, और कहता कुछ नहीं है, वह भोला-भाला सीधा-साधा बेवकूफ है। जो उसकी आवाज़ बहुत ज्यादा सुना करता है और वैसा करने लगता है, वह समाज-विरोधी तत्त्वों में यों ही शामिल हो जाया करता है। लेकिन जो आदमी आत्मा की आवाज़ ज़रूरत से ज्यादा सुन करके हमेशा बेचैन रहा करता है और उस बेचैनी में भीतर के हुक्म का पालन करता है, वह निहायत पागल है। पुराने ज़माने में सन्त हो सकता था। आजकल उसे पागलखाने में डाल दिया जाता है।"

मुझे शक हुआ कि मैं किसी फैण्टेसी में रह रहा हूं। यह कोई ऐसा-वैसा गुप्त-चर नहीं है। या तो यह खुद पागल है या कोई पहुंचा हुआ आदमी! लेकिन, वह पागल भी नहीं है, न वह पहुंचा हुआ है। वह तो सिर्फ जनाना आदमी है या, वैज्ञानिक शब्दावली प्रयोग करूं तो, यह कहना होगा कि वह है तो जवान-पट्ठा, लेकिन उसमें जो लचक है वह औरत के चलने की याद दिलाती है।

मैंने उससे पूछा, "तुमने कहां ट्रेनिंग पायी है?"

"सिर्फ तजुर्बे से सीखा है। मुझे इनाम भी मिला है।"

मैंने कहा, "अच्छा!"

और मैं जिज्ञासा और कुतूहल से प्रेरित होकर उसकी अन्धकारपूर्ण थाहों में डूबने का प्रयत्न करने लगा।

किन्तु उसने सिर्फ मुसकरा दिया! तब मुझे वह ऐसा लगा मानो वह अज्ञात साइंस के गणितिक सूत्र की अंक-राशि हो जिसका मतलब तो कुछ जरूर होता है लेकिन समझ में नहीं आता।

मन में विचारों की पंक्तियां-पंक्तियां बनती गयीं। पंक्तियों पर पंक्तियां! शायद उसे भी महसूस हुआ होगा! और जब दोनों के मन में चार-चार पंक्तियां बन गयीं कि इस बीच उसने कहा, "तुम क्यों नहीं यह धन्धा करते?"

मैं हतप्रभ हो गया। यह एक विलक्षण विचार था! मुझे मालूम था कि धन्धा पैसों के लिए किया जाता है। आजकल बड़े-बड़े शहरों के मामूली होटलों में जहां दस-पांच आदमी तरह-तरह की गप लड़ाते हुए बैठते है, उनकी बातें सुनकर, अपना अंदाज जमाने के लिए, कई भीतरी सूची-भेद्य-तम-प्रवेशक आंखें भी सुनती बैठी रहती हैं। यह मैं सब जानता हूं। खुद के तजुर्बे से बता सकता हूं। लेकिन, फिर भी, उस आदमी की हिम्मत तो देखिये कि उसने कैसा पेचीदा सवाल किया!

आज तक किसी आदमी ने मुझसे इस तरह का सवाल न किया था। जरूर मुझमें ऐसा कुछ है कि जिसे मैं विशेष योग्यता कह सकता हूं। मैंने अपने जीवन में जो शिक्षा और अशिक्षा प्राप्त की, स्कूलों-कॉलेजों में जो विद्या और अविद्या उपलब्ध की, जो कौशल और अकौशल प्राप्त किया, उसने मुझे—मैं मानूं या न मानूं—भद्रवर्ग का ही अंग बना दिया है। हां, मैं उस भद्रवर्ग का अंग हूं कि जिसे अपनी भद्रता के निर्वाह के लिए अब आर्थिक कष्ट का सामना करना पड़ता है, और यह भाव मन में जमा रहता है कि नाश सन्निकट है। संक्षेप में, मैं सचेत व्यक्ति हूं, अतिशिक्षित हूं, अतिसंस्कृत हूं। लेकिन चूंकि अपनी इस अतिशिक्षा और अतिसंस्कृति के सौष्ठव को उद्घाटित करते रहने के लिए, जो स्निग्ध-प्रसन्न मुख चाहिए, वह न होने से मैं उठाईगीरा भी लगता हूं—अपने आपको !

तो मेरी इस महक को पहचान उस अद्भुत व्यक्ति ने मेरे सामने जो प्रस्ताव रखा उससे मैं अपने-आपसे एकदम सचेत हो उठा ! क्या हर्ज है ? इनकम का एक खासा जरिया यह भी तो हो सकता है।

मैंने बात पलटकर उससे पूछा, "तो हां, तुम उस पागलखाने की बात कह रहे थे। उसका क्या ?"

मैंने गरदन नीचे डाल ली। कानों में अविराम शब्द-प्रवाह गतिमान हुआ। मैं सुनता गया। शायद, वह उसके वक्तव्य की भूमिका रही होगी। इस बीच मैंने उससे टोककर पूछा, "तो उसका नाम क्या है ?"

"क्लॉड ईथरली !"

"क्या वह रोमन कैथलिक है—आदिवासी ईसाई है ?"

उसने नाराज होकर कहा, "तो अब तक तुम मेरी बात ही नहीं सुन रहे थे ?"

मैंने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी एक-एक बात दिल में उतर रही थी। फिर भी उसके चेहरे के भाव से पता चला कि उसे मेरी बात पर यकीन नहीं हुआ। उसने कहा, "क्लॉड ईथरली वह अमरीकी विमान चालक है, जिसने हिरोशिमा पर बम गिराया था।"

मुझे आश्चर्य का एक धक्का लगा। या तो वह पागल है, या मैं ! मैंने उससे पूछा, "तो इससे क्या होता है ?"

अब उसने बहुत ही नाराज होकर कहा, "अबे बेवकूफ ! नेस्तनाबूद हुए हिरोशिमा की बदरंग और बदसूरत, उदास और गमगीन जिन्दगी की सदारत करनेवाले मेयर को वह हर माह चैक भेजता रहा जिससे कि उन पैसों से दीन-हीनों को सहायता तो पहुंचे ही, उसने जो भयानक पाप किया है वह भी कुछ कम हो !"

मैंने उसके चेहरे का अध्ययन करना शुरू किया। उसकी वे खुरदुरी घनी मोटी भौंहें नाक के पास आ मिलती थीं। कड़े बालों की तेज रेजर से हजामत किया हुआ उसका वह हरा-गोरा चेहरा, सीधी-मोटी नाक और मजाकिया होंठ और गमगीन आंखें, जिस्म की जनाना लचक, डबल ठुड्डी, जिसके बीच में हल्का-सा गड्ढा।

यह कौन शख्स है, जो मुझसे इस तरह बात कर रहा है? लगा कि मैं सचमुच इस दुनिया में नहीं रह रहा हूं, उससे कोई दो सौ मील ऊपर आ गया हूं जहां आकाश, चांद-तारे, सूरज सभी दिखाई देते हैं। रॉकेट उड़ रहे हैं। आते हैं, जाते हैं, और पृथ्वी एक चौड़े नीले गोल जगत्-सी दिखाई दे रही है, जहां हम किसी एक देश के नहीं हैं, सभी देशों के हैं। मन में एक भयानक उद्वेगपूर्ण भारहीन चंचलता है। कुल मिलाकर, पल-भर यही हालत रही। लेकिन वह पल बहुत ही घनघोर था। भयावह और सन्दिग्ध! और उसी पल से अभिभूत होकर मैंने उससे पूछा, "तो क्या हिरोशिमावाला क्लॉड ईथरली इस पागलखाने में है?"

मेरा हाथ फैलकर उंगलियों से उस पीली बिल्डिंग की ओर इशारा कर रहा था जिसके अहाते की दीवार पर चढ़कर मेरी आंखों ने रोशनदान पार करके उन तेज आंखों को देखा था जो उसी रोशनदान में से गुजरकर बाहर जाना चाहती हैं। तो, अगर मैं इस जनाने लचकदार शख्स पर यकीन करूं तो इसका मतलब यह हुआ कि मेरी देखी वे आंखें और किसी की नहीं, खास क्लॉड ईथरली की ही थीं। लेकिन यह कैसे हो सकता है?

उसने मेरी बात ताड़कर कहा, "हां, वह क्लॉड ईथरली ही था।"

मैंने चिढ़कर कहा, "तो क्या यह हिन्दुस्तान नहीं है? हम अमरीका में ही रह रहे हैं?"

उसने मानो मेरी बेवकूफी पर हंसी का ठहाका मारा, कहा, "भारत के हर बड़े नगर में एक-एक अमरीका है। तुमने लाल ओंठवाली चमकदार, गोरी-सुनहली औरतें नहीं देखीं, उनके कीमती कपड़े नहीं देखे? शानदार मोटरों में घूमनेवाले अतिशिक्षित लोग नहीं देखे? नफीस किस्म की वेश्यावृत्ति नहीं देखी? सेमिनार नहीं देखे? एक जमाने में हम लंदन जाते थे और इंग्लैण्ड-रिटर्न्ड कहलाते थे। और आज वाशिंगटन जाते हैं। अगर हमारा बस चले और आज हम सच-मुच उतने ही धनी हों और हमारे पास उतने ही एटम बम और हाइड्रोजन बम हों और रॉकेट हों तो फिर क्या पूछना! अखबार पढ़ते हो कि नहीं?"

मैंने कहा, "हां।"

"तो तुमने मैकमिलन की वह तकरीर भी पढ़ी होगी जो उसने···को दी थी। उसने क्या कहा था? यह देश, हमारे सैनिक गुट में तो नहीं है, किंतु संस्कृति

और आत्मा से हमारे साथ है। क्या मैकमिलन सफेद झूठ कह रहा था ? कतई नहीं। वह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाल रहा था।

"और अगर यह सच है तो यह भी सही है कि उनकी संस्कृति और आत्मा का संकट हमारी संस्कृति और आत्मा का संकट है। यही कारण है कि आजकल के लेखक और कवि अमरीकी, ब्रिटिश तथा पश्चिम यूरोपीय साहित्य तथा विचारधाराओं में गोते लगाते हैं और वहां से अपनी आत्मा को शिक्षा और संस्कृति प्रदान करते हैं ! क्या यह झूठ है ? बोलो कि झूठ है ? और हमारे तथाकथित राष्ट्रीय अखबार और प्रकाशन-केन्द्र ! वे अपनी विचारधारा और दृष्टिकोण कहां से लेते है ?"

यह कहकर वह जोर से हंस पड़ा और हंसी की लहरों में उसका जिस्म लचकने लगा।

उसने कहना जारी रखा, "क्या हमने इण्डोनेशियाई या चीनी या अफ्रीकी साहित्य से प्रेरणा ली है या लुमुम्बा के काव्य से ? छि: छि: ! वह जानवरों का, चौपायों का, साहित्य है ! और, रूस का ! अरे यह तो स्वार्थ की बात है ! इसका राज और ही है। रूस से हम मदद चाहते है, लेकिन डरते भी हैं।

"छोड़ो ! तो मतलब यह है कि अगर उनकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, उनकी आत्मा हमारी आत्मा और उनका संकट हमारा संकट है—जैसा कि सिद्ध है कि है—जरा पढ़ो अखबार, करो बातचीत अंगरेजीदां फर्राटेबाज लोगों से—तो हमारे यहां भी हिरोशिमा पर बम गिराने वाला विमानचालक क्यों नहीं हो सकता और हमारे यहां भी साम्राज्यवादी युद्धवादी लोग क्यों नहीं हो सकते ! मुख्तसर किस्सा यह है कि हिन्दुस्तान भी अमरीका ही है।"

मुझे पसीना छूटने लगा। फिर भी, मन यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था कि भारत अमरीका ही है, और यह कि क्लॉड ईथरली उसी पागलखाने में रहते हैं—उसी पागलखाने में रहता है ! मेरी आंखों में संदेह, अविश्वास, भय और आशंका की मिली-जुली चमक जरूर रही होगी, जिसको देखकर वह बुरी तरह हंस पड़ा। और उसने मुझे एक सिगरेट दी।

एक पेड़ के नीचे खड़े होकर हम दोनों बात करते हुए नीचे एक पत्थर पर बैठ गये। उसने कहा, "देखा नहीं ! ब्रिटिश-अमरीकी या फ्रांसीसी कविता में जो मूड्स, जो मन:स्थितियां रहती हैं—बस वे ही हमारे यहां भी हैं, लायी जाती हैं। सुरुचि और आधुनिक भावबोध का तकाजा है कि उन्हें लाया जाये। क्यों ? इसलिए कि वहां औद्योगिक सभ्यता है, हमारे यहां भी। मानो कि कल-कारखाने खोले जाने से आदर्श और कर्तव्य बदल जाते हों।"

मैंने नाराज़ होकर सिगरेट फेंक दी। उसके सामने हो लिया। शायद, उस समय मैं उसे मारना चाहता था। हाथापाई करना चाहता था। लेकिन, वह व्यंग्य-भरे चेहरे से हंस पड़ा और उसकी आंखें ज्यादा गमगीन हो गयीं।

उसने कहा, "क्लॉड ईथरली एक विमान-चालक था! उसके एटमबम से हिरोशिमा नष्ट हुआ। वह अपनी कारगुज़ारी देखने उस शहर गया। उस भयानक बदरंग, बदसूरत कटी लोथों के शहर को देखकर उसका दिल टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसको पता नहीं था कि उसके पास ऐसा हथियार है और उस हथियार का यह अंजाम होगा। उसके दिल में निरपराध जनों के प्रेतों, शवों, लोथों, लाशों के कटे-पिटे चेहरे तैरने लगे। उसके हृदय में करुणा उमड़ आयी। उधर, अमरीकी सरकार ने उसे इनाम दिया। वह 'वार हीरो' हो गया। लेकिन उसकी आत्मा कहती थी कि उसने पाप किया, जघन्य पाप किया है। उसे दण्ड मिलना ही चाहिए। नहीं! लेकिन, उसका देश तो उसे हीरो मानता था। अब क्या किया जाय! उसने सरकारी नौकरी छोड़ दी। मामूली काम किया। लेकिन, फिर भी वह 'वार हीरो' था, महान् था, क्लॉड ईथरली महानता नहीं, दण्ड चाहता था, दण्ड!

"उसने वारदातें शुरू कीं जिससे कि वह गिरफ्तार हो सके और जेल में डाला जा सके। किन्तु प्रमाण के अभाव में वह हर बार छोड़ दिया गया! उसने घोषित किया कि वह पापी है, पापी है, उसे दण्ड मिलना चाहिए, उसने निरपराध जनों की हत्या की है, उसे दण्ड दो। हे ईश्वर! लेकिन, अमरीकी व्यवस्था उसे पाप नहीं, महान् कार्य मानती थी। देश-भक्ति मानती थी। जब उसने ईथरली की ये हरकतें देखीं तो उसे पागलखाने में डाल दिया। टेक्सॉस प्रान्त में वाको नाम की एक जगह है—वहां उसका दिमाग़ दुरुस्त करने के लिए उसे डाल दिया गया। वहां वह चार साल तक रहा, लेकिन उसका पागलपन दुरुस्त नहीं हो सका।

"चार साल बाद वह वहां से छूटा तो उसे रॉय एल. मैनटूथ नाम का एक गुण्डा मिला। उसकी मदद से उसने डाकघरों पर धावा मारा। आख़िर सह-साथी के वह पकड़ लिया गया। मुक़दमा चला। कोई फ़ायदा नहीं। जब यह मालूम हुआ कि वह कौन है और क्या चाहता है तो उसे तुरन्त छोड़ दिया गया। उसके बाद, उसने डैल्लास नाम की एक जगह के कैशियर पर सशस्त्र आक्रमण किया। परिणाम कुछ नहीं निकला, क्योंकि बड़े सैनिक अधिकारियों को यह महसूस हुआ कि ऐसे 'प्रख्यात युद्ध वीर' को मामूली उचक्का और चोर कहकर उसकी बदनामी न हो। इसलिए, उसके उस प्राप्त पद की रक्षा करने के लिए उसे फिर से पागलखाने में डाल दिया गया।

"यह है क्लॉड ईथरली ! ईथरली की ईमानदारी पर अविश्वास करने की किसी को शंका ही नहीं रही ! उसकी जीवन-कथा की फ़िल्म बनाने का अधिकार ख़रीदने के लिए एक कम्पनी ने उसे एक लाख रुपये देने का प्रस्ताव रखा। उसने क़तई इनकार कर दिया। उसके इस अस्वीकार से सबके सामने यह ज़ाहिर हो गया कि वह झूठा और फ़रेबी नहीं है। वह धन नहीं रहा है।

"कौन नहीं जानता कि क्लॉड ईथरली अणुयुद्ध का विरोध करनेवाली आत्मा की आवाज़ का दूसरा नाम है। हां ! ईथरली मानसिक रोगी नहीं है। आध्यात्मिक अशान्ति का, आध्यात्मिक उद्विग्नता का ज्वलन्त प्रतीक है। क्या इससे तुम इनकार करते हो ?"

उसके हाथ की सिगरेट कभी की नीचे गिर चुकी थी। वह ज़नाना आदमी तमतमा उठा था। चेहरे पर बेचैनी की मलिनता छायी थी।

वह कहता गया, "इस आध्यात्मिक अशान्ति, इस आध्यात्मिक उद्विग्नता को समझने वाले लोग कितने हैं ? उन्हें विचित्र, विलक्षण, विक्षिप्त कहकर पागलख़ाने में डालने की इच्छा रखने वाले लोग न जाने कितने हैं ! इसीलिए पुराने ज़माने में हमारे बहुतेरे विद्रोही सन्तों को भी पागल कहा गया। आज भी बहुतों को पागल कहा जाता है। अगर वह बहुत तुच्छ हुए तो सिर्फ़ उनकी उपेक्षा की जाती है, जिससे कि उनकी बात प्रकट न हो और फैल न जाये।

"हमारे अपने-अपने मन-हृदय-मस्तिष्क में ऐसा ही एक पागलख़ाना है, जहां हम उन उच्च, पवित्र और विद्रोही विचारों और भावों को फेंक देते हैं जिससे कि धीरे-धीरे या तो वे ख़ुद बदलकर समझौतावादी पोशाक पहन सभ्य, भद्र हो जायें, यानी दुरुस्त हो जायें या उसी पागलख़ाने में पड़े रहें !"

मैं हतप्रभ तो हो ही गया ? साथ ही साथ, उसकी इस कहानी पर मुग्ध भी। उस जीवन-कथा से अत्यधिक प्रभावित होकर मैंने पूछा, "तो क्या यह कहानी सच्ची है ?

उसने जवाब दिया, "भई वाह ! अमरीकी साहित्य पढ़ते हो कि नहीं ? अमरीकी अख़बार भी नहीं ? ब्रिटिश भी नहीं ? तो क्या पढ़ते हो ख़ाक !....अरे भाई, उस पर तो अनेक भाषाओं में कई पुस्तकें निकल गयी हैं। तो क्या पत्थर जानकारी रखते हो ! विश्वास न हो, तो खण्डन करो, जाओ टटोलो। और, इस बीच मैं इसी पागलख़ाने की सैर करवा लाता हूं।"

मैंने हाथ हिलाकर इनकार करते हुए कहा, "नहीं, मुझे नहीं जाना।"

"क्यों नहीं ?" उसने झिड़ककर कहा, "आजकल हमारे अवचेतन में हमारी आत्मा आ गयी है, चेतन में स्व-हित और अधिचेतन में समाज से सामंजस्य का

आदर्श—भले ही वह बुरा समाज क्यों न हो ! यही आज के जीवन-विवेक का रहस्य है।

"तुमको वहां की सैर करनी होगी। मैं तुम्हें पागलखाने ले चल रहा हूं, लेकिन पिछले दरवाज़े से नहीं, खुले अगले से।"

रास्ते में मैंने उससे कहा, "मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि भारत अमरीका है.! तुम कुछ भी कहो ! न वह कभी हो ही सकता है, न वह कभी होगा ही।"

इस बात को उसने उड़ा दिया। उसे चाहिए था कि वह इस बात का जवाब देता। उसने सिर्फ़ इतना कहा, "मुश्किल यह है कि तुम मेरी बात नहीं समझते।"

मैंने कहा, "कैसे ?"

"क्लॉड ईथरली हमारे यहां भले ही देह-रूप में न रहें, लेकिन आत्मा की वैसी बेचैनी रखने वाले लोग तो यहां रह ही सकते हैं।"

मैंने अविश्वास प्रकट करके उसके प्रति घृणाभाव व्यक्त करते हुए कहा, "यह भी ठीक नहीं मालूम होता।"

उसने कहा, "क्यों नहीं ! देश के प्रति ईमानदारी रखने वाले लोगों के मन में, व्यापक पापाचारों के प्रति कोई व्यक्तिगत भावना नहीं रहती क्या ?"

"समझा नहीं।"

"मतलब यह कि ऐसे बहुतेरे लोग हैं जो पापाचाररूपी, शोषणरूपी डाकुओं को अपनी छाती पर बैठा समझते हैं। वह डाकू न केवल बाहर का व्यक्ति है, वह उनके घर का आदमी भी है। समझने की कोशिश करो !"

मैंने भौंहें उलझाकर कहा, "तो क्या हुआ ?"

"यह कि उस व्यापक अन्याय का अनुभव करने वाले किन्तु उसका विरोध न करने वाले लोगों के अन्तःकरण में व्यक्तिगत पाप-भावना रहती ही है, रहनी चाहिए। ईथरली में और उनमें यह बुनियादी एकता और अभेद है।"

"इससे सिद्ध क्या हुआ ?"

"इससे यह सिद्ध हुआ कि तुम-सरीखे सचेत जागरूक संवेदनशील जन क्लॉड ईथरली हैं।"

उसने मेरे दिल में खंजर मार दिया। हां, यह सच था ! बिलकुल सच ! अवचेतन के अंधेरे तहखाने में पड़ी हुई आत्मा विद्रोह करती है। समस्त आत्मा

पापाचारों के लिए, अपने-आपको ज़िम्मेदार समझती है। हाय रे! यह मेरा भी तो रोग रहा है।

मैंने अपने चेहरे को सख्त बना लिया। गम्भीर होकर कहा, "लेकिन, ये सब बातें तुम मुझसे क्यों कह रहे हो ?"

"इसलिए कि मैं सी. आई. डी. हूं और मैं तुम्हारी स्क्रीनिंग कर रहा हूं। मैं चाहता हूं कि तुम मेरे विभाग से सम्बद्ध रहो। तुम इनकार क्यों करते हो! कहो कि यह तुम्हारी अन्तरात्मा के अनुकूल नहीं है।"

"तो क्या मुझे टटोलने के लिए तुम ये बातें कर रहे थे ? और, तुम्हारी ये सब बातें बनावटी थीं ? मेरे दिल का भेद लेने के लिए थीं ? बदमाश !"

"मैं तो सिर्फ़ तुम्हारे अनुकूल प्रसंगों की, जो हो सकती थीं वही [बातें] तो कर रहा था।"

अमृतसर आ गया है....

भीष्म साहनी

गाड़ी के डिब्बे में बहुत मुसाफिर नहीं थे। मेरे सामनेवाली सीट पर बैठे सरदारजी देर से मुझे लाम के किस्से सुनाते रहे थे। वह लाम के दिनों में बर्मा की लड़ाई में भाग ले चुके थे और बात-बात पर खी-खी करके हंसते और गोरे फौजियों की खिल्ली उड़ाते रहे थे। डब्बे में तीन पठान व्यापारी भी थे, उनमें से एक हरे रंग की पोशाक पहने ऊपरवाली बर्थ पर लेटा हुआ था। वह आदमी बड़ा हंसमुख था और बड़ी देर से मेरे साथवाली सीट पर बैठे एक दुबले-से बाबू के साथ उसका मजाक चल रहा था। वह दुबला बाबू पेशावर का रहनेवाला जान पड़ता था क्योंकि किसी-किसी वक्त वे आपस में पश्तो में बातें करने लगते थे। मेरे सामने दायीं ओर कोने में, एक बुढ़िया मुंह-सिर ढांपे बैठी थी और देर से माला जप रही थी। यही कुछ लोग रहे होंगे। संभव है दो-एक और मुसाफिर भी रहे हों पर वे स्पष्टतः मुझे याद नहीं।

गाड़ी धीमी रफ्तार से चली जा रही थी, और गाड़ी में बैठे मुसाफिर बतिया रहे थे और बाहर गेहूं के खेतों में हल्की-हल्की लहरियां उठ रही थीं, और मैं मन-ही-मन बड़ा खुश था क्योंकि मैं दिल्ली में होनेवाला स्वतंत्रता-दिवस समारोह देखने जा रहा था।

उन दिनों के बारे में सोचता हूं, तो लगता है, हम किसी झुटपुटे में जी रहे थे। शायद समय बीत जाने पर अतीत का सारा व्यापार ही झुटपुटे में बीता जान पड़ता है। ज्यों-ज्यों भविष्य के पट खुलते जाते हैं, यह झुटपुटा और भी गहराता चला जाता है।

उन्हीं दिनों पाकिस्तान के बनाये जाने का ऐलान किया गया था और लोग तरह-तरह के अनुमान लगाने लगे थे कि भविष्य में जीवन की रूपरेखा कैसी होगी। पर किसी की भी कल्पना बहुत दूर तक नहीं जा पाती थी। मेरे सामने बैठे सरदारजी बार-बार मुझसे पूछ रहे थे कि पाकिस्तान बन जाने पर जिन्ना साहिब बम्बई में ही रहेंगे या पाकिस्तान में जाकर बस जायेंगे, और मेरा हर

बार यही जवाब होता—बम्बई क्यों छोड़ेंगे, पाकिस्तान में आते-जाते रहेंगे, बम्बई छोड़ देने में क्या तुक है। लाहौर और गुरदासपुर के बारे में भी अनुमान लगाये जा रहे थे कि कौन-सा शहर किस ओर जायेगा। मिल बैठने के ढंग में, गप-शप में, हंसी-मजाक में कोई विशेष अंतर नहीं आया था। कुछ लोग अपने घर छोड़कर जा रहे थे जबकि अन्य लोग उनका मजाक उड़ा रहे थे। कोई नहीं जानता था कि कौन-सा कदम ठीक होगा और कौन-सा गलत! एक ओर पाकिस्तान बन जाने का जोश था तो दूसरी ओर हिंदुस्तान के आजाद हो जाने का जोश। जगह-जगह दंगे भी हो रहे थे, और योम-ए-आजादी की तैयारियां भी चल रही थीं। इस पृष्ठभूमि में लगता, देश आज़ाद हो जाने पर दंगे अपने-आप बंद हो जायेंगे। वातावरण के इस झुटपुटे में आज़ादी की सुनहरी धूल-सी उड़ रही थी और साथ-ही-साथ अनिश्चय भी डोल रहा था, और इसी अनिश्चय की स्थिति में किसी-किसी वक्त भावी रिश्तों की रूपरेखा झलक दे जाती थी।

शायद जेहलम का स्टेशन पीछे छूट चुका था जब ऊपरवाली बर्थ पर बैठे पठान ने एक पोटली खोल ली और उसमें से उबला हुआ मांस और नान-रोटी के टुकड़े निकाल-निकालकर अपने साथियों को देने लगा। फिर वह हंसी-मज़ाक के बीच मेरी बगल में बैठे बाबू की ओर भी नान का टुकड़ा और मांस की बोटी बढ़ाकर खाने का आग्रह करने लगा था—खा ले बाबू, ताकत आयेगी। हम जैसा हो जायेगा। बीवी भी तेरे साथ खुश रहेगी। खा ले दालखोर, तू दाल खाता है इसलिए दुबला है···

डब्बे में लोग हंसने लगे थे। बाबू ने पश्तो में कुछ जवाब दिया और फिर मुस्कराता सिर हिलाता रहा।

इस पर दूसरे पठान ने हंसकर कहा—ओ जालिम, अमारे आथ से नई लेता ए तो अपने आथ से उठा ले। खुदा कसम बर का गोश्त ए, और किसी चीज का नई ए।

ऊपर बैठा पठान चहककर बोला—ओ खंजीर के तुख्म, इधर तुमें कौन देखता ए? हम तेरी बीवी को नई बोलेगा। ओ तू अमारे साथ बोटी तोड़। हम तेरे साथ दाल पियेंगा····

इस पर कहकहा उठा, पर दुबला-पतला बाबू हंसता, सिर हिलाता रहा और कभी-कभी दो शब्द पश्तो में भी कह देता।

—ओ कितना बुरा बात ए अम खाता ए, और तू अमारा मुंह देखता ए···। सभी पठान मगन थे।

—यह इसलिए नहीं लेता कि तुमने हाथ नहीं धोये हैं—स्थूलकाय सरदार जी बोले और बोलते ही खी-खी करने लगे। अधलेटी मुद्रा में बैठे सरदारजी

की आधी तोंद सीट के नीचे लटक रही थी—तुम अभी सोकर उठे हो और उठते ही पोटली खोलकर खाने लग गये हो, इसीलिए बाबूजी तुम्हारे हाथ से नहीं लेते, और कोई बात नहीं। और सरदार जी ने मेरी ओर देखकर आंख मारी और फिर खी-खी करने लगे।

—मांस नई खाता ए, बाबू तो आओ जनाना डब्बे में बैठो, इधर क्या करता ए ?—फिर कहकहा उठा।

डब्बे में और भी अनेक मुसाफिर थे लेकिन पुराने मुसाफिर यही थे जो सफर शुरू होने पर गाड़ी में बैठे थे। बाकी मुसाफिर उतरते-चढ़ते रहे थे। पुराने मुसाफिर होने के नाते ही उनमें एक तरह की बेतकल्लुफी आ गयी थी।

—ओ इधर आकर बैठो। तुम अमारे साथ बैठो। आओ जालिम, किस्सा-खानी की बातें करेंगे।

तभी किसी स्टेशन पर गाड़ी रुकी थी और नये मुसाफिरों का रेला अंदर आ गया था। बहुत-से मुसाफिर एक साथ अंदर घुसते चले आये थे।

—कौन-सा स्टेशन है ? किसी ने पूछा।

—वजीराबाद है शायद, मैंने बाहर की ओर देखकर कहा।

गाड़ी वहां थोड़ी देर के लिए खड़ी रही। पर छूटने से पहले एक छोटी-सी घटना घटी। एक आदमी साथवाले डब्बे में से पानी लेने उतरा और नल पर जाकर पानी लोटे में भर रहा था जब वह भागकर अपने डब्बे की ओर लौट आया। छलछलाते लोटे में से पानी गिर रहा था। लेकिन जिस ढंग से वह भागा था उसी ने बहुत कुछ बता दिया था। नल पर खड़े और लोग भी, तीन या चार आदमी रहे होंगे - इधर-उधर अपने-अपने डब्बे की ओर भाग गये थे। इस तरह घबराकर भागते लोगों को मैं देख चुका था। देखते-ही-देखते प्लेटफार्म खाली हो गया। मगर डब्बे के अंदर अभी भी हंसी-मजाक चल रहा था।

—कहीं कोई गड़बड़ है, मेरे पास बैठे दुबले बाबू ने कहा।

कहीं कुछ था, लेकिन क्या था, कोई भी स्पष्ट नहीं जानता था। मैं अनेक दंगे देख चुका था इसलिए वातावरण में होने वाली छोटी-सी तब्दीली को भी भांप गया था। भागते व्यक्ति, खटाक् से बंद होते दरवाजे, घरों की छतों पर खड़े लोग, चुप्पी और सन्नाटा, सभी दंगों के चिह्न थे।

तभी पिछले दरवाजे की ओर से, जो प्लेटफार्म की ओर न खुलकर दूसरी ओर खुलता था, हल्का-सा शोर हुआ। कोई मुसाफिर अंदर घुसना चाह रहा था।

—कहां घुसा आ रहा, नहीं है जगह ! बोल दिया जगह नहीं है, किसी ने कहा।

—बंद करो जी दरवाजा। यों ही मुंह उठाये घुसे आते हैं··· आवाजें आ रही थीं।

जितनी देर कोई मुसाफिर डब्बे के बाहर खड़ा अंदर आने की चेष्टा करता रहे, अंदर बैठे मुसाफिर उसका विरोध करते रहते हैं। पर एक बार जैसे-तैसे वह अंदर आ जाये तो विरोध खत्म हो जाता है, और वह मुसाफिर जल्दी ही डब्बे की दुनिया का निवासी बन जाता है, और अगले स्टेशन पर वही सबसे पहले बाहर खड़े मुसाफिरों पर चिल्लाने लगता है—नहीं है जगह, अगले डब्बे में जाओ···घुसे आते हैं···

दरवाजे पर शोर बढ़ता जा रहा था। तभी मैले-कुचैले कपड़ों और लटकती मूंछोंवाला एक आदमी दरवाजे में से अंदर घुसता दिखायी दिया। चीकट मैले कपड़े, जरूर कहीं हलवाई की दूकान करता होगा। वह लोगों की शिकायतों-आवाजों की ओर ध्यान दिये बिना दरवाजे की ओर घूमकर बड़ा-सा काले रंग का संदूक अंदर की ओर घसीटने लगा।

—आ जाओ, आ जाओ, तुम भी चढ़ आओ ! वह अपने पीछे किसी से कहे जा रहा था। तभी दरवाजे में एक पतली सूखी-सी औरत नजर आयी और उससे पीछे सोलह-सत्तरह बरस की सांवली-सी एक लड़की अंदर आ गयी। लोग अभी भी चिल्लाये जा रहे थे। सरदारजी को कूल्हों के बल उठकर बैठना पड़ा।

—बंद करो जी दरवाजा, बिना पूछे चढ़े आते हैं, अपने बाप का घर समझ रखा है। मत घुसने दो जी, क्या करते हो, धकेल दो पीछे···और लोग भी चिल्ला रहे थे।

वह आदमी अपना सामान अंदर घसीटे जा रहा था और उसकी पत्नी और बेटी संडास के दरवाजे के साथ लगकर खड़ी थीं।

—और कोई डब्बा नहीं मिला ? औरत जात को भी यहां उठा लाया है ?

वह आदमी पसीने से तर था और हांफता हुआ सामान अंदर घसीटे जा रहा था। संदूक के बाद रस्सियों से बंधी खाट की पाटियां अंदर खींचने लगा।

—टिकट है जी मेरे पास, मैं बेटिकट नहीं हूं। लाचारी है, शहर में दंगा हो गया है। बड़ी मुश्किल से स्टेशन तक पहुंचा हूं। इस पर डब्बे में बैठे बहुत-से लोग चुप हो गये, पर बर्थ पर बैठा पठान उचककर बोला—निकल जाओ इदर से, देखता नई ए इदर जगा नई ए।

और पठान ने आव देखा न ताव, आगे बढ़कर ऊपर से ही उस मुसाफिर के

लात जमा दी, पर लात उस आदमी को लगने के बजाय उसकी पत्नी के कलेजे में लगी और वह वहीं हाय-हाय करती बैठ गयी।

उस आदमी के पास मुसाफिरों के साथ उलझने के लिए वक्त नहीं था। वह बराबर अपना सामान अंदर घसीटे जा रहा था। पर डब्बे में मौन छा गया। खाट की पाटियों के बाद बड़ी-बड़ी गठरियां आयीं। इस पर ऊपर बैठे पठान की सहन-क्षमता चुक गयी। निकालो इसे, कौन ए ये? वह चिल्लाया। इस पर दूसरे पठान ने जो नीचे की सीट पर बैठा था उस आदमी का संदूक दरवाजे में से नीचे धकेल दिया जहां लाल वर्दीवाला एक कुली खड़ा सामान अंदर पहुंचा रहा था।

उसकी पत्नी के चोट लगने पर कुछ मुसाफिर चुप हो गये थे। केवल कोने में बैठी बुढ़िया कुरलाये जा रही थी—ऐ नेक बख्तों, बैठने दो। आ जा बेटी, तू मेरे पास आ जा। जैसे-तैसे सफर काट लेंगे। छोड़ो वे जालिमो, बैठने दो।

अभी आधा सामान ही अंदर आ पाया होगा जब सहसा गाड़ी सरकने लगी।

—छूट गया! सामान छूट गया! वह आदमी बदहवास-सा होकर चिल्लाया।

—पिताजी, सामान छूट गया। संडास के दरवाजे के पास खड़ी लड़की सिर से पांव तक कांप रही थी और चिल्लाये जा रही थी।

उतरो, नीचे उतरो, वह आदमी हड़बड़ाकर चिल्लाया, और आगे बढ़कर खाट की पाटियां और गठरियां बाहर फेंकते हुए दरवाजे का डंडहरा पकड़कर नीचे उतर गया। उसके पीछे उसकी भयाकुल बेटी और फिर उसकी पत्नी, कलेजे को दोनों हाथों से दबाये हाय-हाय करती नीचे उतर गयीं।

—बहुत बुरा किया है तुम लोगों ने, बहुत बुरा किया है। बुढ़िया ऊंचा-ऊंचा बोल रही थी—तुम्हारे दिल में दर्द मर गया है। छोटी-सी बच्ची उसके साथ थी। बेरहमो, तुमने बहुत बुरा किया है, धक्के देकर उतार दिया है।

गाड़ी सूने प्लेटफार्म को लांघती आगे बढ़ गयी। डब्बे में व्याकुल-सी चुप्पी छा गयी। बुढ़िया ने बोलना बंद कर दिया था। पठानों का विरोध कर पाने की किसी की हिम्मत नहीं हुई।

तभी मेरी बगल में बैठे दुबले बाबू ने मेरे बाजू पर हाथ रखकर कहा—आग है, देखो आग लगी है।

गाड़ी प्लेटफार्म छोड़कर आगे निकल आयी थी और शहर पीछे छूट रहा था। तभी शहर की ओर से उठते धुएं के बादल और उनमें लप-लपाती आग के शोले नजर आने लगे थे।

—दंगा हुआ है। स्टेशन पर भी लोग भाग रहे थे। कहीं दंगा हुआ है।

शहर में आग लगी थी। बात डब्बे-भर के मुसाफिरों को पता चल गयी

और वे लपक-लपककर खिड़कियों में से आग का दृश्य देखने लगे।

जब गाड़ी शहर छोड़कर आगे बढ़ गयी तो डब्बे में सन्नाटा छा गया। मैंने घूमकर डब्बे के अंदर देखा, दुबले बाबू का चेहरा पीला पड़ गया था और माथे पर पसीने की परत किसी मुर्दे के माथे की तरह चमक रही थी। मुझे लगा, जैसे अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों ने अपने आस-पास बैठे लोगों का जायजा ले लिया है। सरदारजी उठकर मेरी सीट पर आ बैठे। नीचेवाली सीट पर बैठा पठान उठा और अपने दो साथी पठानों के साथ ऊपरवाली बर्थ पर चढ़ गया। यही क्रिया शायद रेलगाड़ी के अन्य डब्बों में भी चल रही थी। डब्बे में तनाव आ गया। लोगों ने बतियाना बंद कर दिया। तीनों के तीनों पठान ऊपरवाली बर्थ पर एक साथ बैठे चुपचाप नीचे की ओर देखे जा रहे थे। सभी मुसाफिरों की आंखें पहले से ज्यादा खुली-खुली, ज्यादा शंकित-सी लगीं। यही स्थिति सम्भवतः गाड़ी के सभी डब्बों में व्याप रही थी।

—कौन-सा स्टेशन था यह ? डब्बे में किसी ने पूछा।

—वजीराबाद, किसी ने उत्तर दिया।

जवाब मिलने पर डब्बे में एक और प्रतिक्रिया हुई। पठानों के मन का तनाव फौरन ढीला पड़ गया, जबकि हिन्दू-सिख मुसाफिरों की चुप्पी और ज्यादा गहरी हो गयी, एक पठान ने अपनी वास्कट की जेब में से नसवार की डिबिया निकाली और नाक में नसवार चढ़ाने लगा। अन्य पठान भी अपनी-अपनी डिबिया निकालकर नसवार चढ़ाने लगे। बुढ़िया बराबर माला जपे जा रही थी। किसी-किसी वक्त उसके बुदबुदाते होंठ नजर आते, लगता, उनमें से कोई खोखली-सी आवाज निकल रही है।

अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो वहां भी सन्नाटा था। कोई परिंदा तक नहीं फड़क रहा था। हां, एक भिश्ती, पीठ पर पानी की मशक लादे, प्लेटफार्म लांघकर आया और मुसाफिरों को पानी पिलाने लगा।

—लो, पियो पानी, पानी पियो। औरतों के डब्बे में से औरतों और बच्चों के अनेक हाथ बाहर निकल आये थे।

— बहुत मार-काट हुई है, बहुत लोग मरे हैं। लगता था, वह इस मार-काट में अकेला पुण्य कमाने चला आया है।

गाड़ी सरकी तो सहसा खिड़कियों के पल्ले चढ़ाये जाने लगे। दूर-दूर तक, पहियों की गड़गड़ाहट के साथ, खिड़कियों के पल्ले चढ़ाने की आवाज आने लगी।

किसी अज्ञात आशंकावश दुबला बाबू मेरे पासवाली सीट पर से उठा और दो

सीटों के बीच फर्श पर लेट गया। उसका चेहरा अभी भी मुर्दे जैसा पीला हो रहा था। इस पर बर्थ पर बैठा पठान उसकी ठिठोली करने लगा—ओ बेगैरत, तुम मर्द ए कि औरत ए? सीट पर से उठकर नीचे लेटता ए। तुम मर्द के नाम को बदनाम करता ए। वह बोल रहा था और बार-बार हंसे जा रहा था। फिर वह उससे पश्तो में कुछ कहने लगा। बाबू चुप बना लेटा रहा। अन्य सभी मुसाफिर चुप थे। डब्बे का वातावरण बोझिल बना हुआ था।

—ऐसे आदमी को अम डब्बे में बैठने नई देगा। ओ बाबू, तुम अगले स्टेशन पर उतर जाओ, और जनाना डब्बे में बैठो।

मगर बाबू की हाजिर-जवाबी अपने कण्ठ में सूख चली थी। हकला-कर चुप हो रहा। पर थोड़ी देर बाद वह अपने आप सीट पर जा बैठा और देर तक अपने कपड़ों की धूल झाड़ता रहा। वह क्यों उठकर फर्श पर लेट गया था। शायद उसे डर था कि बाहर से गाड़ी पर पथराव होगा या गोली चलेगी, शायद इसी कारण खिड़कियों के पल्ले चढ़ाये जा रहे थे।

कुछ भी कहना कठिन था। मुमकिन है किसी एक मुसाफिर ने किसी कारण से खिड़की का पल्ला चढ़ाया हो और उसकी देखा-देखी, बिना सोचे-समझे धड़ा-धड़ खिड़कियों के पल्ले चढ़ाये जाने लगे हों।

बोझिल अनिश्चित-से वातावरण में सफर कटने लगा। रात गहराने लगी थी। डब्बे के मुसाफिर स्तब्ध और शंकित ज्यों-के-त्यों बैठे थे। कभी गाड़ी की रफ्तार सहसा टूटकर धीमी पड़ जाती तो लोग एक-दूसरे की ओर देखने लगते। कभी रास्ते में ही रुक जाती तो डब्बे के अंदर का सन्नाटा और भी गहरा हो उठता। केवल पठान निश्चिंत बैठे थे। हां, उन्होंने भी बतियाना छोड़ दिया था। क्योंकि उनकी बातचीत में कोई भी शामिल होनेवाला नहीं था।

धीरे-धीरे पठान ऊंघने लगे जबकि अन्य मुसाफिर फटी-फटी आंखों से शून्य में देखे जा रहे थे। बुढ़िया मुंह-सिर लपेटे, टांगें सीट पर चढ़ाये, बैठी-बैठी सो गयी थी। ऊपरवाली बर्थ पर एक पठान ने, अधलेटे ही, कुर्ते की जेब में से काले मनकों की तसबीह निकाल ली और उसे धीरे-धीरे हाथ में चलाने लगा।

खिड़की के बाहर आकाश में चांद निकल आया और चांदनी में बाहर की दुनिया और भी अनिश्चित, और भी अधिक रहस्यमयी हो उठी। किसी-किसी वक्त दूर किसी ओर आग के शोले उठते नजर आते, कोई नगर जल रहा था। गाड़ी किसी वक्त चिंघाड़ती हुई आगे बढ़ने लगती, फिर किसी वक्त उसकी रफ्तार धीमी पड़ जाती और मीलों तक धीमी रफ्तार से ही चलती रहती।

सहसा दुबला बाबू खिड़की में से बाहर देखकर ऊंची आवाज में बोला—हरबंसपुरा निकल गया है ! उसकी आवाज में उत्तेजना थी, वह जैसे चीखकर बोला था। डब्बे के सभी लोग उसकी आवाज सुनकर चौंक गये। उसी वक्त डब्बे के अधिकांश मुसाफिरों ने मानो उसकी आवाज को ही सुनकर करवट बदली।

— खो बाबू, चिल्लाता क्यों ए ? तसबीह वाला पठान चौंककर बोला—इधर उतरेगा तुम ? जंजीर खींचूं ? और खीं-खीं करके हंस दिया। जाहिर है वह हरबंसपुरा की स्थिति से अथवा उसके नाम से अनभिज्ञ था।

बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल सिर हिला दिया और एक आध बार पठान की ओर देखकर फिर खिड़की के बाहर झांकने लगा।

डब्बे में फिर मौन छा गया। तभी इंजन ने सीटी दी और उसकी एकरस रफ्तार टूट गयी। थोड़ी ही देर बाद खटाक् का-सा शब्द भी हुआ, शायद गाड़ी ने लाइन बदली थी। बाबू ने झांककर उस दिशा में देखा जिस ओर गाड़ी बढ़ी जा रही थी।

— शहर आ गया है ! वह फिर ऊंची आवाज में चिल्लाया—अमृतसर आ गया है ! उसने फिर से कहा और उछलकर खड़ा हो गया, और ऊपर वाली बर्थ पर लेटे पठान को संबोधन करके चिल्लाया—ओ बे पठान के बच्चे ! नीचे उतर तेरी मां की··· नीचे उतर, तेरी उस पठान बनानेवाले की मैं ··

बाबू चिल्लाने लगा था और चीख-चीखकर गालियां बकने लगा था। तसबीह वाले पठान ने करवट बदली और बाबू की ओर देखकर बोला—ओ क्या ए बाबू ? अम को कुछ बोला ?

बाबू को उत्तेजित देखकर अन्य मुसाफिर भी उठ बैठे।

—नीचे उतर, तेरी मैं···औरत को लात मारता है, हरामजादे तेरी उस···

—ओ बाबू, बक-बक नई करो। ओ खंजीर के तुख्म, गाली मत बको, अमने बोल दिया। अम तुम्हारा जबान खींच लेगा।

—गाली देता है मादर·· बाबू चिल्लाया और उछलकर सीट पर चढ़ गया। वह सिर से पांव तक कांप रहा था।

— बस-बस, सरदारजी बोले—यह लड़ने की जगह नहीं है। थोड़ी देर का सफर बाकी है, आराम से बैठो।

—तेरी मैं लात न तोड़ूं तो कहना, गाड़ी तेरे बाप की है ? बाबू चिल्लाया।

—ओ अमने क्या बोला। सभी लोग उसको निकालता था, अमने भी निकाला। ये इदर अमको गाली देता ए। अम इसका जबान खींच लेगा।

बुढ़िया बीच में फिर बोल उठी—वे जोण जोगयो, अराम नाल बैठो। वे रब्ब दियो बंदयो, बंदयो, कुज होश करो।

उसके होंठ किसी प्रेत के होंठों की तरह फड़फड़ाये जा रहे थे और उनमें से क्षीण-सी फुसफुसाहट सुनायी द रही थी।

बाबू चिल्लाये जा रहा था—अपने घर में शेर बनता था। अब बोल, तेरी मैं उस पठान बनानेवाले की···

तभी गाड़ी अमृतसर के प्लेट फार्म पर रुकी। प्लेटफार्म लोगों से खचाखच भरा था। प्लेटफार्म पर खड़े लोग झांक-झांककर डब्बों के अंदर देखने लगे। बार-बार लोग एक ही सवाल पूछ रहे थे—पीछे क्या हुआ है ? कहां पर दंगा हुआ है ?

खचाखच भरे प्लेटफार्म पर शायद इसी बात की चर्चा चल रही थी कि पीछे क्या हुआ है। प्लेटफार्म पर खड़े दो-तीन खोमचेवालों पर मुसाफिर टूटे पड़ रहे थे। सभी को सहसा भूख और प्यास परेशान करने लगी थी। इसी दौरान तीन-चार पठान हमारे डब्बे के बाहर प्रकट हो गये और खिड़की में से झांक-झांककर अंदर देखने लगे। अपने पठान साथियों पर नजर पड़ते ही वे उनसे पश्तो में कुछ बोलने लगे। मैंने घूमकर देखा, बाबू डब्बे में नहीं था। न जाने कब वह डब्बे में से निकल गया था। मेरा माथा ठनका। गुस्से से वह पागल हुआ जा रहा था। न जाने क्या कर बैठे। पर इस बीच डब्बे के तीनों पठान, अपनी-अपनी गठरी उठाकर बाहर निकल गये और अपने पठान साथियों के साथ गाड़ी के अगले किसी डब्बे की ओर बढ़ गये। जो विभाजन पहले प्रत्येक डब्बे के भीतर होता रहा था, अब सारी गाड़ी के स्तर पर होने लगा था।

खोमचेवालों के इर्द-गिर्द भीड़ छटने लगी। लोग अपने-अपने डब्बो में लौटने लगे। तभी सहसा एक ओर से मुझे वह बाबू आता दिखायी दिया। उसका चेहरा अभी भी बहुत पीला था और माथे पर बालों की लट झूल रही थी। नजदीक पहुंचा, तो मैंने देखा उसने अपने दायें हाथ में लोहे की एक छड़ उठा रखी थी। जाने वह उसे कहां से मिल गयी थी। डब्बे में घुसते समय उसने छड़ को अपनी पीठ पीछे कर लिया और मेरे साथवाली सीट पर बैठने से पहले उसने हौले से छड़ को सीट के नीचे सरका दिया। सीट पर बैठते ही उसकी आंखें पठान को देख पाने के लिए ऊपर को उठीं। पर डब्बे में पठानों को न पाकर वह हड़बड़ाकर चारों ओर देखने लगा।

—निकल गये हरामी, मादर... सब-के-सब निकल गये ! फिर वह सिटपिटा-कर उठ खड़ा हुआ और चिल्लाकर बोला— तुमने उन्हें जाने क्यों दिया ? तुम सब नामर्द हो, बुजदिल !

पर गाड़ी में भीड़ बहुत थी। बहुत-से नये मुसाफिर आ गये थे। किसी ने उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

गाड़ी सरकने लगी तो वह फिर मेरी बगलवाली सीट पर आ बैठा, पर वह बड़ा उत्तेजित था और बराबर बड़बड़ाये जा रहा था।

धीरे-धीरे हिचकोले खाती गाड़ी आगे बढ़ने लगी। डब्बे के पुराने मुसाफिरों ने भरपेट पूरियां खा ली थीं और पानी पी लिया था और गाड़ी उस इलाके से आगे बढ़ने लगी थी, जहां उनके जान-माल को खतरा नहीं था।

नये मुसाफिर बतिया रहे थे। धीरे-धीरे गाड़ी फिर समतल गति से चलने लगी थी। कुछ ही देर बाद लोग ऊंघने भी लगे थे। मगर बाबू अभी भी फटी-फटी आंखों से सामने की ओर देखे जा रहा था। बार-बार मुझसे पूछता कि पठान डब्बे में से निकलकर किस ओर को गये हैं। उसके सिर पर जनून सवार था।

गाड़ी के हिचकोलों में मैं खुद ऊंघने लगा था। डब्बे में लेट पाने के लिए जगह नहीं थी। बैठे-बैठे ही नींद में मेरा सिर कभी एक ओर को लुढ़क जाता, कभी दूसरी ओर को। किसी-किसी वक्त झटके से मेरी नींद टूटती, और मुझे सामने की सीट पर अस्त-व्यस्त-से पड़े सरदारजी के खर्राटे सुनायी देते—अमृतसर पहुंचने के बाद सरदारजी फिर से सामनेवाली सीट पर टांगें पसारकर लेट गये थे। डब्बे में तरह-तरह की आड़ी-तिरछी मुद्राओं में मुसाफिर पड़े थे। उनकी वीभत्स मुद्राओं को देखकर लगता, डब्बा लाशों से भरा है। पास बैठे बाबू पर नजर पड़ती तो कभी तो वह खिड़की के बाहर मुंह किये देख रहा होता, कभी दीवार से पीठ लगाये तनकर बैठा नजर आता।

किसी-किसी वक्त गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकती तो पहियों की गडगडाहट बंद होने पर निःस्तब्धता-सी छा जाती। तभी लगता, जैसे प्लेटफार्म पर कुछ गिरा है, या जैसे कोई मुसाफिर गाड़ी में से उतरा है और मैं झटके से उठकर बैठ जाता।

इसी तरह एक बार जब मेरी नींद टूटी तो गाडी की रफ्तार धीमी पड़ गयी थी, और डब्बे में अंधेरा था। मैंने उसी तरह अधलेटे खिडकी में से बाहर देखा। दूर, पीछे की ओर किसी स्टेशन के सिगनल के लाल कुमकुमे चमक रहे थे। स्पष्टतः गाड़ी कोई स्टेशन लांघकर आयी थी। पर अभी तक उसने रफ्तार नहीं पकड़ी थी।

डब्बे के बाहर मुझे धीमे-से अस्फुट स्वर सुनायी दिये। दूर ही एक धूमिल-सा काला पुंज नजर आया। नींद की खुमारी में मेरी आंखें कुछ देर तक उस पर लगी रहीं, फिर मैंने उसे समझ पाने का विचार छोड़ दिया। डब्बे के अंदर अंधेरा था, बत्तियां बुझी हुई थीं। लेकिन बाहर लगता था, पौ फटने वाली है।

मेरी पीठ पीछे, डब्बे के बाहर किसी चीज को खरोंचने की-सी आवाज आयी। मैंने दरवाजे की ओर घूमकर देखा। डब्बे का दरवाजा बंद था। मुझे फिर से दरवाजा खरोंचने की आवाज सुनायी दी, फिर मैंने साफ-साफ सुना, लाठी से कोई व्यक्ति डब्बे का दरवाजा पटपटा रहा था। मैंने झांककर खिड़की के बाहर देखा। सचमुच एक आदमी डब्बे की दो सीढ़ियां चढ़ आया था। उसके कंधे पर एक गठरी झूल रही थी और हाथ में लाठी थी और उसने बदरंग-से कपड़े पहन रखे थे और उसके दाढ़ी थी। फिर मेरी नजर बाहर नीचे की ओर गयी। गाड़ी के साथ-साथ एक औरत भागती चली आ रही थी, नंगे पांव और उसने दो गठरियां उठा रखी थीं। बोझ के कारण उससे दौड़ा नहीं जा रहा था। डब्बे के पायदान पर खड़ा आदमी बार-बार उसकी ओर मुड़कर देख रहा था और हांफता हुआ कहे जा रहा था—आ जा, आ जा, तू भी चढ़ आ, आ जा!

दरवाजे पर फिर से लाठी फटफटाने की आवाज आयी—खोलो जी दरवाजा, खुदा के वास्ते दरवाजा खोलो।

वह आदमी हांफ रहा था—खुदा के लिए दरवाजा खोलो। मेरे साथ में औरत जात है। गाड़ी निकल जायेगी···

सहसा मैंने देखा, बाबू हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ और दरवाजे के पास जाकर दरवाजे में लगी खिड़की में से मुंह बाहर निकालकर बोला—कौन है? इधर जगह नहीं है।

बाहर खड़ा आदमी फिर गिड़गिड़ाने लगा—खुदा के वास्ते गाड़ी निकल जायेगी··

और वह आदमी खिडकी में से अपना हाथ अंदर डालकर दरवाज़ा खोल पाने के लिए सिटकनी टटोलने लगा।

--नहीं है जगह, बोल दिया, उतर जाओ गाड़ी पर से। बाबू चिल्लाया और उसी क्षण लपककर दरवाज़ा खोल दिया।

या अल्लाह! उस आदमी के अस्फुट-से शब्द सुनायी दिये। दरवाज़ा खुलने पर जैसे उसने इतमीनान की सांस ली हो।

और उसी वक्त मैंने बाबू के हाथ में छड़ को चमकते देखा। एक ही भरपूर वार बाबू ने उस मुसाफिर के सिर पर किया था। मैं देखते ही डर गया और

मेरी टांगें लरज गयीं। मुझे लगा, जैसे छड़ के वार का उस आदमी पर कोई असर नहीं हुआ। उसके दोनों हाथ अभी भी जोर से डंडहरे को पकड़े हुए थे। कंधे पर से लटकती गठरी खिसककर उसकी कोहनी पर आ गयी थी।

तभी सहसा उसके चेहरे पर लहू की दो तीन धारें एक साथ फूट पड़ीं। झुरमुटे में मुझे उसके खुले होंठ और चमकते दांत नजर आये। वह दो-एक बार 'या अल्लाह!' बुदबुदाया और फिर उसके पैर खड़खड़ा गये। उसकी आंखों ने बाबू की ओर देखा, अधमुंदी-सी आंखें, जो धीरे-धीरे सिकुड़ती जा रही थीं, मानो उसे पहचानने की कोशिश कर रही हों कि वह कौन है और उससे किस अदावत का बदला ले रहा है। इस बीच अंधेरा कुछ और छन गया था। उसके होंठ फिर से फड़फड़ाये और उनमें उसके सफेद दांत फिर से झलक उठे। मुझे लगा, जैसे वह मुसकराया है पर वास्तव में केवल त्रास के ही कारण उसके होंठों में बल पड़ने लगे थे।

नीचे पटरी के साथ-साथ भागती औरत बड़बड़ाये और कोसे जा रही थी। उसे अभी भी मालूम नहीं हो पाया था कि क्या हुआ है! वह अभी भी शायद यही समझ रही थी कि गठरी के कारण उसका पति गाड़ी पर ठीक तरह से चढ़ नहीं पा रहा है, कि उसका पैर जम नहीं पा रहा है। वह गाड़ी के साथ-साथ भागती हुई, अपनी दो गठरियों के बावजूद अपने पति के पैर को पकड़-पकड़कर सीढ़ी पर टिकाने की कोशिश कर रही थी।

तभी सहसा डंडहरे पर से उस आदमी के दोनों हाथ छूट गये और वह कटे पेड़ की भांति नीचे जा गिरा। और उसके गिरते ही औरत ने भागना बंद कर दिया, मानो दोनों का सफर एक साथ ही खत्म हो गया हो।

बाबू अभी भी मेरे निकट, डब्बे के खुले दरवाजे में बुत-का-बुत बना खड़ा था, लोहे की छड़ अभी भी उसके हाथ में थी। मुझे लगा, जैसे वह छड़ को फेंक देना चाहता है लेकिन उसे फेंक नहीं पा रहा, उसका हाथ जैसे उठ नहीं रहा था। मेरी सांस अभी भी फूली हुई थी और डब्बे के अंधियारे कोने में मैं खिड़की के साथ सटकर बैठा उसकी ओर देखे जा रहा था।

फिर वह आदमी खड़े-खड़े हिला। किसी अज्ञात प्रेरणावश वह एक कदम आगे बढ़ आया और दरवाजे में से बाहर पीछे की ओर देखने लगा। गाड़ी आगे निकलती जा रही थी। दूर, पटरी के किनारे अंधियारा पुंजसा नजर आ रहा था।

बाबू का शरीर हरकत में आया। एक झटके में उसने छड़ को डब्बे के बाहर

फेंक दिया। फिर घूमकर डब्बे के अंदर दायें-बायें देखने लगा। सभी मुसाफिर सोये पड़े थे। मेरी ओर उसकी नजर नहीं उठी।

थोड़ी देर तक वह खड़ा डोलता रहा, फिर उसने घूमकर दरवाज़ा बंद कर दिया। उसने ध्यान से अपने कपड़ों की ओर देखा, अपने दोनों हाथों की ओर देखा, फिर एक-एक करके अपने दोनों हाथों को नाक के पास ले जाकर उन्हें सूंघा, मानो जानना चाहता हो कि उसके हाथों से खून की बू तो नहीं आ रही है। फिर वह दबे पांव चलता हुआ आया और मेरी बगलवाली सीट पर बैठ गया।

धीरे-धीरे झुटपुटा छंटने लगा, दिन खुलने लगा। साफ-सुथरी-सी रोशनी चारों ओर फैलने लगी। किसी ने जंजीर खींचकर गाड़ी को खड़ा नहीं किया था, छड़ खाकर गिरी उसकी देह मीलों पीछे छूट चुकी थी। सामने गेहूं के खेतों में फिर से हल्की-हल्की लहरियां उठने लगी थीं।

सरदारजी बदन खुजलाते उठ बैठे। मेरी बगल में बैठा बाबू, दोनों हाथ सिर के पीछे रखे सामने की ओर देखे जा रहा था। रात-भर में उसके चेहरे पर दाढ़ी के छोटे-छोटे बाल उग आये थे। अपने सामने बैठा देखकर सरदार उसके साथ बतियाने लगा— बड़े जीवट वाले हो बाबू, दुबले-पतले हो, पर बड़े गुर्दे वाले हो। बड़ी हिम्मत दिखायी है। तुमसे डरकर ही वे पठान डब्बे में से निकल गये। यहां बने रहते तो एक-न-एक की खोपड़ी तुम जरूर दुरुस्त कर देते·······और सरदारजी हंसने लगे।

बाबू जवाब में मुसकराया—एक वीभत्स-सी मुसकान, और देर तक सरदार के चेहरे की ओर देखता रहा।

दीमक

रामकुमार

बंद दरवाजे पर अचानक किसी के खटखटाने का स्वर सुन कर वह चौंक गया। इस समय कौन हो सकता है? इस घबराहट में चारपाई से उठ कर दरवाजे की चिटखनी खोलना असंभव-सा ही जान पड़ा। उसने दोनों खिड़कियों पर नजर डाली जो बंद थीं। उसे यह सोच कर सांत्वना हुई कि कोई कमरे के भीतर नहीं आ सकता। शायद इस असमय में जो दरवाजा खटखटा रहा है, वह कुछ देर बाद अपने आप लौट जायेगा। शायद लौट ही गया हो, नहीं तो फिर खट-खटाता। लेकिन कौन हो सकता है और किस उद्देश्य से आया है, यह जानने का कौतूहल भी कम नहीं था।

उसी क्षण फिर किसी ने दरवाजे को छुआ। वह तुरंत चारपाई से उठ खड़ा हुआ। पाजामे की सलवटों को सीधा किया, पाजामा काफी गंदा है, परंतु उसे उतार कर पैंट पहनने का समय नहीं था। सर्दी से उसका सारा शरीर सिहर उठा। जाड़ों की रातों में वह आठ बजे से ही बिस्तर में घुस जाता था और ठंडी हवा से बचने के लिए रजाई को तीनों ओर से दबा लेता था। तीसरी बार कमजोर दरवाजे के दोनों हिस्से जोर से चरमरा उठे। उसे आशंका हुई कि अब यदि तुरंत न खोला गया तो इस बार वह उसके ऊपर गिर पड़ेगा। वह तेजी से आगे बढ़ा और फटाक से चिटखनी खोल दी।

छत पर फैले अंधकार में एक धुंधली-सी आकृति दिखाई दी, जिसका अस्तित्व एक भूत या किसी परछाईं से अधिक नहीं था।

"कौन है?" अपने भय को दूर करने के इरादे से वह तनिक ऊंचे स्वर में चिल्लाया।

आकृति ने कोई उत्तर नहीं दिया, लेकिन झिझकते हुए एक कदम आगे बढ़ा, जिससे दरवाजे से बाहर आती रोशनी में चेहरा पहचान के दायरे के भीतर आ गया।

"आप...!" बड़ी कठिनाई से उसके मुंह से आवाज निकली। उसके पैर छत में धंस से गये और यदि वह दरवाजे का सहारा न लेता तो शायद गिर पड़ता। उसका सिर कुछ क्षणों के लिए बड़ी तेजी से घूम गया था।

वे स्वयं ही कमरे के भीतर आ गये। हाथ में केवल एक थैला था जो उन्होंने कोने में रख दिया और फिर चारपाई पर बैठ गये क्योंकि पूरे कमरे में बैठने का एक वही स्थान था।

"बिना कोई खबर दिये इस वक्त...!" वह अभी तक अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर पा रहा था।

उनके चेहरे पर एक दृष्टि डालते ही उसे यह भी लगा कि कुछ भी कहने की तनिक भी शक्ति उनमें नहीं थी। उनका पीला सिकुड़ा हुआ चेहरा, भीतर को धंसी हुई आंखें, जिनमें रोशनी न होने का भ्रम सहज में ही हो सकता था, रेलगाड़ी की धूल में सने कपड़े—वह देखता रहा और वे आंखें झुकाये फर्श की ओर ताकते रहे, मानो उसका फैसला सुनने की प्रतीक्षा कर रहे हों।

"आप बहुत थके हुए जान पड़ते हैं। मुंह-हाथ धो लीजिए। मैं चाय बना देता हूं।"

उन्होंने उसकी बात सुनी नहीं। उसने क्षण भर के लिए उनके चेहरे पर एक दृष्टि डाली, लेकिन कुछ भी दिखायी नहीं दिया। वह देखना भी क्या चाहता था? लेकिन वे क्यों आये? यहां आने का साहस उन्होंने कैसे किया, जबकि आठ सालों में उनके बीच एक पोस्टकार्ड तक का संबंध नहीं था। थी केवल एक कांटों वाली तार जो बार-बार तोड़े-मरोड़े जाने पर इतनी उलझ चुकी थी, जिसे पार करने के लिए बहुत-सा समय और धैर्य की आवश्यकता थी जो उन दोनों में से किसी के पास नहीं था। वे उसके पार क्यों आये?

कमरे के एक कोने में जमीन पर रखे स्टोव को जला कर उसने दो प्याले का पानी माप कर खौलने के लिए रख दिया। स्टोव का धुआं कमरे में फैलने लगा। उसने दरवाजा खोल दिया, जिससे ठंडी हवा का एक झोंका उसे कंपा गया। दिन भर की थकान से उसका शरीर इतना शिथिल हो चुका था कि उसकी इच्छा चारपाई में घुस कर लेट जाने को हो रही थी। वह यह भी सोच रहा था कि वे कहां सोयेंगे, साथ में कोई बिस्तर भी नहीं था। क्या वे उम्मीद कर रहे थे कि उसके पास एक खाली बिस्तर भी होगा? एक फटा हुआ पुराना कंबल कहीं पड़ा होगा।

स्टोव की लौ भभकने लगी थी और वह सोच रहा था कि क्या पानी के खौलने तक वह जलती रहेगी। चारपाई पर अनायास ही दृष्टि गयी। तो लगा

जैसे वे सो रहे हों। वे सो ही रहे थे, एक झपकी आ गयी थी। सिर कंधे के सहारे टिक गया था, मुंह खुला था, जिसके भीतर दो पीले दांत कमरे की धीमी रोशनी में भी चमक रहे थे। उसे शक हुआ कि कहीं उनकी सांस रुक तो नहीं गयी, लेकिन पास आने पर धीमे स्वर में उनका खर्राटा सुन कर उसकी चिंता समाप्त हुई। पानी खौलने लगा था। जूठे प्याले को चुल्लू भर पानी से साफ करके उसने एक कप चाय उनके लिए तैयार कर दी। अपने लिए दूध न होने के कारण चाय पीने का मोह उसे छोड़ना पड़ा।

"लीजिए चाय···फिर मुंह-हाथ धो लीजिएगा····"

वे चौंक कर जग गये। गरम चाय का पहला घूंट पीते ही उनके चेहरे पर जिंदगी होने के धुंधले-से चिह्न उभरने लगे। उनकी आंखें धीरे–धीरे कनखियों से उस कमरे का निरीक्षण करने लगीं, कुछ अपना कौतूहल मिटाने के लिए और कुछ उसकी स्थिति की जांच–पड़ताल करने के लिए। यह कमरा, कमरे की एक अरसे से सफेदी न कराई हुई दीवारें, यह धूल, यह गंदगी, कबाड़ी की दुकान जैसा कमरे में बिखरा सामान और उसका मुरझाया, सूखा चेहरा जिसमें से एक–एक बूंद करके जिंदगी निचुड़ती हुई बह कर उससे अलग हो गयी। लेकिन वे बोले कुछ भी नहीं। वे सब कुछ देखते रहे, एक तमाशबीन की भांति। उसे हल्का–सा आभास हो गया - वे देखने आये हैं कि मैं किस स्थिति में रहता हूं, कैसे अपना गुजारा करता हूं! घर छोड़ कर अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ हूं— अचानक कटघरे-जैसी स्थिति में अपने आपको पा कर उसका आक्रोश और भी बढ़ गया।

एक बार उनके चेहरे पर नजर पड़ते ही उसे लगा जैसे वे मुस्करा रहे हों। एक ही नजर में उन्हें वास्तविकता का पता चल गया हो। लेकिन कहा कुछ नहीं। किस स्थिति में मुंह बंद रखना चाहिए, इसका सही अनुमान वे लगा लेते थे। वे तो इस स्थिति के लिए भी तैयार हो कर आये थे कि यदि उसने कमरे के भीतर आने की अनुमति नहीं दी तो वे क्या करेंगे!

"कई बार तुम्हारे घर आने की बात मेरे मन में उठी थी····" वे झिझकते हुए धीमे स्वर में बोले, "लेकिन हिम्मत नहीं होती थी।"

वह हंसने लगा। जान-बूझ कर जोर से हंसा, जिससे वे उनकी मनःस्थिति का आभास पा सकें, "क्यों?"

लेकिन उसके "क्यों" का जवाब देने के बदले वे चाय पीते रहे।

"आप देखना चाहते थे कि मैं कैसे रहता हूं।" वह खड़े-खड़े आवेश में बोला, "अब तो देख लिया न? यह कमरा, यह सामान और यह मैं······कल सुबह सूरज की रोशनी में और भी अच्छी तरह देख लीजियेगा।"

उन्होंने कुछ इत्मीनान से जेब में से बीड़ी का बंडल निकाल कर एक बीड़ी सुलगा ली। सर्दी से बचने के लिए पैर ऊपर घसीट लिए।

"लेकिन···" उसकी उत्तेजना बढ़ गयी थी, "आप यहां आये कैसे ?" अधिक कहने का साहस इतने वर्षों के अंतराल के बाद भी वह अपने में जुटा नहीं पा रहा था। अचानक उसने यह भी महसूस किया कि उनके आते ही इतनी उत्तेजना दिखाना उसकी कमजोरी को ही प्रकट करेगा।

"अभी मैं बहुत थका हुआ हूं। दिन भर रेलगाड़ी में बैठे-बैठे···क्या मेरे सोने का इंतजाम हो सकेगा ?"

"आपका बिस्तर ?"

"मेरे पास कुछ नहीं है···"

वह पूछना चाहता था कि क्या वे यहां दूसरे बिस्तर की उम्मीद लेकर आये थे, लेकिन उस समय उसकी व्यर्थता उसने महसूस की और चुपचाप कमरे के दूसरे कोने में मैले, फटे कपड़ों और दूसरे सामान के नीचे से एक पुराना घिसा हुआ फटा कंबल निकाला और बाहर छत पर झाड़ने के लिए ले गया।

"आप उठिए तो बिस्तर लगा दूं। यहीं पर सोने की जगह निकालनी होगी···"

वे जूता पहन कर बाहर छत पर आ गये। अंधेरे में आस-पास कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था; केवल दूर एक कोने में कुछ बिखरी हुई धुंधली-सी रोशनियां किसी बस्ती के अस्तित्व का आभास देती थीं। जाड़ों की हवा रात के सन्नाटे में उन्हें मनहूस-सी जान पड़ी। कैसा अजीब मनहूस-सा शहर भी है···यहां भला कोई कैसे रह सकता है ? लेकिन लोग फिर भी रहते ही होंगे ! बच्चू भी रहता है। बच्चू भी बहुत अजीब-सा दिखाई दे रहा है, बहुत बदल भी गया है।

"कमरे में आ जाइए, बिस्तर लगा दिया है।" उसकी आवाज सुनकर वे चौंक से गये।

"खाना तो आप खा कर ही आये होंगे ! यहां कुछ नहीं है। तीन दिन पुरानी डबलरोटी के दो टोस्ट बचे हुए हैं।" उसके स्वर में कर्कशता पहले से अधिक बढ़ गयी थी।

वे उदासीन स्वर में बोले, "मैंने स्टेशन पर ही खा लिया था···"

"आप इस चारपाई पर सो जाइए। मैं नीचे···"

"मैं नीचे सो जाता हूं मुझे तो आदत है···"

"आप तो ऊपर ही···कल देखा जायेगा।"

कमरे की बत्ती बुझ जाने पर दोनों को बांधने वाले कमजोर तार अचानक टूट

गये। वे दो छोटे-छोटे द्वीप बन गये जो धीरे-धीरे बहाव के साथ एक-दूसरे से दूर होते गये। कंबल से सिर-मुंह ढक कर बच्चू के मन में वही एक बात रह-रह कर घूम रही थी, जिससे उसका क्रोध और खीझ गहराई में उसे घसीटे लिए जा रहे थे। उनके यहां अचानक आने का कौन-सा कारण हो सकता है जो वह अब तक समझ नहीं पाया। पहले पत्र लिख कर उसे इस स्थिति का सामना करने के लिए तैयार तो कर दिया होता! लेकिन शायद उन्हें आशंका थी कि तब वह उन्हें यहां आने से रोकता या छुट्टी लेकर वहीं कुछ दिनों के लिए चला जाता। लेकिन अब कल दिन के उजाले में उनकी शक्ल-सूरत, उनकी बातचीत, उनकी आदतें, उनकी गंध को कैसे सहन करेगा? मन में उठते प्रश्नों के जालों में फंस कर फटे कंबल और दरी के बीच सिकुड़े हुए उसे सर्दी नहीं लग रही थी। लेकिन आंखों में नींद का कहीं कोई पता नहीं था। ऊपर चारपाई से पिता के खर्राटों की तेज आवाज सुनकर उसका आक्रोश और भी बढ़ गया। इस कमरे में मेरी चारपाई पर लेट कर पहले दिन नींद की समस्या उनके सामने नहीं आयी। उसकी इच्छा हो रही थी कि उन्हें झिझोड़ कर वह उठा दे और कहे कि वे लेट सकते हैं, लेकिन सो नहीं सकते, यह अधिकार उन्होंने खो दिया है।

कितने ही दिनों तक वह रात भूत की भांति उसके साथ चिपकी रही थी, जिससे छुटकारा पाना उसे असंभव-सा जान पड़ने लगा था। इतने वर्षों बाद भी वह दृश्य बहुत स्पष्ट रूप में उसके सामने घूमता रहता था। वह एक छोटा-सा बैग लटकाए घर को हमेशा के लिए छोड़ आया था। वे बंद खिड़की के शीशे में से उसकी आकृति को धुंधला होते हुए देख रहे थे, लेकिन उसे रोकने का एक भी शब्द उनके मुंह से निकल नहीं सका था। यदि वे कहते तो शायद उसकी कमजोरी घर छोड़ने के उसके इरादे को ढीला बना देती···ऐसा बाद में वह कभी-कभी सोचता था। वे उस क्षण कितने असहाय, कितने टूटे हुए जान पड रहे थे, उनकी आंखों में एक प्रचार की शून्यता-सी डूबी हुई थी जो उसने पहले कभी नहीं देखी थी। वे शायद उससे कुछ कहना चाहते थे, लेकिन साहस नहीं जुटा पा रहे थे। या शायद यह उसका भ्रम ही था, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में इस प्रकार की भावुकता का कोई स्थान नहीं था, यह बात वह जानता था। कई दिनों तक उनका चेहरा उसकी आंखों के सामने स्थिर हो जाता था। उस रात को उसने केवल अपनी ही बात सोची थी, यद्यपि उसकी जेबें लगभग खाली ही थीं, लेकिन उसकी उम्र, उसका शरीर, अपने लिए कहीं एक कोना बना लेने की सामर्थ्य रखता था, इसके विपरीत वे अपाहिज से बनते जा रहे थे, जिन्हें किसी सहारे की

जरूरत थी। केवल वही वह सहारा बन सकता था, लेकिन उसने इंकार कर दिया।

अम्मा की आकस्मिक मृत्यु के बाद उस घर में वे दोनों केवल अजनबी ही नहीं बन गये थे, बल्कि बीच का तनाव पत्थर की दीवार सा बनता जा रहा था। उनकी अपनी समस्याएं थीं—आर्थिक परेशानियां, जो नया काम शुरू किया था, वह ठीक ढंग से नहीं चल रहा था, शरीर में चिपकी बीमारियां कभी अधिक कष्ट देने लगती थीं। पत्नी की मृत्यु के बाद उनका अकेलापन भी अखरने लगा था। और उसकी अपनी--यह चौथी नौकरी थी, लेकिन न अच्छा वेतन था, न भविष्य की कोई सुरक्षा। पहली तारीख को जब वह उनकी मेज पर वेतन के रुपये रखने जाता तब वे बहुत हिकारत के साथ उसे और उन रुपयों को देखते थे, जिससे उसका मन घृणा से भर उठता था।

हर बार उसे आशंका होती थी कि वे रुपये उसे वापस लौटा देंगे, लेकिन उसके चले जाने के बाद उन्हें गिन कर वे लोहे की आलमारी में रख कर ताला बंद कर देते थे। मां की मृत्यु के बाद घर छोड़ देने का विचार भी कई बार उसके मन में उठा था, लेकिन कई कारणों से वह उसे पूरा नहीं कर सका। सबसे बड़ा कारण उसकी अपनी कमजोरी, आत्मविश्वास की कमी, अपनी कायरता थी। जिंदगी में वर्षों से चलता आया एक सिलसिला—उसे तोड़ कर अपने लिए अलग रास्ते की खोज करने की जरूरत एक व्यर्थ की जिम्मेदारी महसूस होती थी, जिससे वह हमेशा बचता रहा। उसकी इस कमजोरी से पिता भी परिचित थे।

अम्मा के कमरे में एक छोटी-सी आलमारी थी, जिस पर सदा एक लाहौरी ताला लटका रहता था। उसके भीतर उनकी एक अपनी निजी छोटी-सी दुनिया थी, जिसमें उनके पचपन वर्षों के कुछ अवशेष, कुछ चिह्न सुरक्षित रखे हुए थे। वर्षों पुरानी उनकी मां, बहनों, पति की चिट्ठियां अपने कुछ बहुत पुराने कपड़े जो शायद उन्हें बीते वर्षों की कुछ स्मृतियों की याद दिलाते थे, कुछ धुंधली-सी फोटो जिनमें चेहरे पहचानने आसान नहीं थे। बचपन में पिता की अनुपस्थिति में जब कभी अम्मा आलमारी का ताला खोलतीं तब उत्साह से भरा वह सीधा उनके पास आ जाता था, लेकिन वे डांटकर उसे दूर एक कोने में बिठा देती थीं और जो सामान वह देखने की जिद करता तो कभी दूर से, कभी पास आ कर उसे एक झलक दिखला देतीं, लेकिन कभी उसे हाथ न लगाने देतीं। कभी-कभी उन सबका संक्षेप में कुछ इतिहास भी बताती जातीं और उनकी आंखों में उन स्मृतियों की छाया मंडराने लगती।

"सब जैसे एक सपना-सा था···" वे एक लंबी आह लेकर कहतीं। उसके लिए

पूरी आलमारी में सबसे बड़ा आकर्षण था, गहनों की एक छोटी-सी संदूकची जिसके भीतर पुराने, घिसे हुए मखमली डिब्बों में उनके गहने रखे हुए थे। उसके जिद करने पर वे उस संदूकची को भी खोलतीं और डिब्बों के भीतर हर गहने का निरीक्षण करतीं। मोतियों का जड़ाऊ हार, गले का नवरत्न, चूड़ियां, बड़ी-सी नथ, कानों की हीरे की तरकियां, पुखराज और नीलम की अंगूठियां ··· वह छोटी सी अंगुली में अंगूठी पहनने की कोशिश करता तो वे हंसने लगतीं— "अरे, जब बड़ा हो जायेगा, तब पहनना। और ये सब गहने भी तो तेरी बहू के लिए ही हैं।"

उनकी मृत्यु के बाद पिता ने उसके सामने न कभी उस आलमारी को खोला, न ही कभी इस विषय में उससे कुछ कहा। उसका विश्वास था कि उसकी अनुपस्थिति में उन्होंने अवश्य वह खोली होगी और सारे सामान, विशेषकर गहनों को देखा-परखा होगा। गहनों की संदूकची को अपने लोहे की आलमारी के भीतर रख दिया होगा। फिर सोचा कि वे सब गहने तो उसकी बहू के लिए थे और जब उसके विवाह की कोई चर्चा ही नहीं उठी तब उन्होंने भी इस विषय में कुछ नहीं कहा। लेकिन एक बात उसे दुख देती थी—अम्मा ने अपने गहनों को पिता की दृष्टि से सदा बहुत दूर रखा। उन्हें पिता पर विश्वास नहीं था और केवल वही उनकी अपनी सम्पत्ति थी, जिसे अपने पास सुरक्षित रखना चाहती थीं। और अब···पिता ने बहुत स्वाभाविक ढंग से उस पर अपना अधिकार कर लिया था जो शायद सही भी था।

पिता के कारोबार की समस्याओं में उसने कभी कोई दिलचस्पी नहीं ली और न ही वे कभी कुछ बतलाते थे। अम्मा को भी कुछ पता नहीं रहता था। लेकिन थोड़ा-बहुत इतना वह जानता था कि एक के बाद एक काम वे शुरू करते रहते थे, कुछ बंद हो जाते थे, कुछ थोड़े समय के लिए सफल होकर फिर घाटे की ओर तेजी से बढ़ने लगते थे। उनका जोड़-तोड़ करते रहने में ही वे ज्यादा व्यस्त रहते थे, जिससे घर और परिवार के लिए उनके पास न समय होता था, न ही उनमें दिलचस्पी थी। अम्मा की मृत्यु के बाद यह सूत्र भी टूट गया।

एक रात वे घर नहीं लौटे। वह देर तक प्रतीक्षा करता रहा। उसकी घबराहट बढ़ती गयी। फिर एक परिचित घर आये और उसे बतलाया कि अपने

व्यापार के किसी जुर्म में उसके पिता गिरफ्तार हो गये हैं। कल सुबह उसे जेल में बुलाया है, जहां उसे सब पता चल जायेगा। वह हतप्रभ-सा रह गया। वह जानता था कि कोई भी गैर-कानूनी कदम उठाना, उनके लिए साधारण-सी बात थी, लेकिन उस हद तक ही जिससे उन पर किसी तरह की आंच न आये। ऐसा वे वर्षों से करते आये थे। इन बातों में उनका दिमाग बहुत तेजी से चलता था और अपने बचाव का रास्ता सदा ढूंढ़ लिया करते थे। लेकिन इस बार फंस गये। फंस जाने के बाद बाहर निकलने में उन्हें कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ी। एक महीना बाद ही वे जेल से बाहर आ गये। लेकिन इस घटना से उस एक महीने के दौरान उसमें एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। उसने अपने आपको वर्षों से बने मकड़ी के जाले से मुक्त कर लिया, सब बंधन एक-एक करके तोड़ डाले। जिस शाम को जेल से छूटकर अचानक वे घर लौटे तो उनके मुस्कराते हुए चेहरे और सहज व्यवहार को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वे जेल से बाहर आये हों। उसे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि वह पहले से ही इस घर में, इस शहर में न रहने का फैसला कर चुका था।

उसके बैग और उसके चेहरे पर एक दृष्टि डालते ही वे उसका उद्देश्य समझ गये। उन्हें एक गहरा आघात सा लगा जो गिरफ्तार होने पर भी नहीं लगा था। इसकी उन्होंने कल्पना तक न की थी। लेकिन कुछ ही देर में अपने आपको संभाल लिया। भावुक होना उनके स्वभाव में था भी नहीं।

उसने अपना बैग उठा कर कंधे पर लटका लिया, "मैं जा रहा हूं•••" बड़ी कठिनाई से उसके मुंह से ये शब्द निकल सके।

बैग की ओर संकेत करते हुए वे बोले, "बस, यही ले जा रहे हो ?"

"मेरा इस घर में है ही क्या ? सब आपका है।" वह बोला, "मेरा जो सामान बेकार का लगे, वह कबाड़ी को दे दीजियेगा।"

उन्होंने धीमे स्वर में पूछा, "कुछ रुपयों की जरूरत हो···"

"रुपए···" वह चौंका। उसे लग रहा था कि यदि वह अधिक देर तक रुका रहा तो अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख सकेगा। वह बोला, "है मेरे पास····"

और वह जल्दी-जल्दी सीढ़ियां उतरने लगा। नीचे सड़क पर आ कर एक बार ऊपर की ओर बहुत सूनी दृष्टि से ताका, लेकिन कुछ दिखाई नहीं दिया। कमरे की बंद खिड़की के शीशे के सामने उनकी धुंधली-सी आकृति दिखाई दी। वे उसकी ओर ही देख रहे थे। वह तेज कदमों से आगे बढ़ गया।

प्लेटफार्म के एक सिरे पर भीड़ से दूर एक बेंच पर बैठे-बैठे वह गाड़ियों का आना-जाना, यात्रियों का चढ़ना-उतरना देखता रहा। उसे लगा जैसे उन सब लोगों को, गाड़ियों को एक निश्चित दिशा, निश्चित स्थानों में पहुंचने की

जल्दी हो। निरुद्देश्य कोई यात्रा नहीं कर रहा था। और वह किसी अनिश्चित दिशा में आगे बढ़ने की प्रतीक्षा कर रहा है। एक अरसे तक इसी शहर में, उसी एक घर में रहना क्या एक गलती थी ? कोई ऐसी वीरान जगह होती, जहां न रेलगाड़ी, न बस होती तो बिना किसी दुविधा के कंधे पर बैग लटका कर वह सड़क पर पैदल चल देता, लेकिन यहां तो किसी खास शहर का टिकट खरीदना, गाड़ी का समय सब जरूरी थे।

उसके मन के किसी अंधेरे कोने में यह धुंधली-सी उम्मीद थी कि शायद पिता उसे घर वापस ले जाने के लिए आयें। तब वह इन्कार नहीं कर सकता था। उसकी दृष्टि प्लेटफार्म पर उतरती सीढ़ियों पर कई बार जा टिकी थी, लेकिन उसे निराश ही होना पड़ा। घर वापस लौटने का अंतिम क्षण भी धीरे-धीरे बीत गया।

सुबह उसकी आंखें जल्दी ही खुल गयी और वह हड़बड़ा कर उठ बैठा। क्षण भर में रात की घटना याद आ गयी और उसकी दृष्टि चारपाई पर जा ठिठकी। वे सो रहे थे। उसे अनायास ही याद आया कि देर तक सोते रहने की उनकी पुरानी आदत है। कितनी ही छोटी-छोटी अनावश्यक-सी बातें स्थितियां बदलने के साथ-साथ विस्मृति की परतों में खो जाती हैं, लेकिन अवसर आने पर तुरंत एक के बाद एक सामने आने लगती हैं।

रात को नींद में भी एक बेचैनी, घबराहट और भय-सा बना रहा, जिससे उसका सिर भारी-सा हो रहा था। एक प्याला गरम चाय पीने की इच्छा बहुत प्रबल थी। वह दबे पांव दूध का बर्तन ले कर बाहर आ गया, लेकिन जब वह दूध ले कर लौटा तब वे जग चुके थे, पर चारपाई पर ही लेटे हुए थे और खुली आंखों से कमरे की छत की ओर ताक रहे थे, जहां जाले चिपक गये थे और सीमेंट के चकत्ते उभर आये थे।

वह चुपचाप स्टोव जलाने लगा। चाय का एक प्याला चारपाई के पास कुर्सी पर रख दिया और स्वयं दरी पर बैठ शीशे के गिलास में चाय पीने लगा। वे एक लंबी-सी सांस खींच कर चारपाई पर बैठ गये, लेकिन ध्यान जहां था, वहीं डूबा रहा। रात की आकस्मिक घटना सुबह की रोशनी में उतनी डरावनी नहीं जान पड़ रही थी, जैसा कि उसने सोचा था। रात को उनकी आंखों में उसके विषय में जानने का जिस कौतूहल और दिलचस्पी का आभास मिला था, सुबह उसके बदले उदासीनता-सी झलक रही थी, लेकिन शायद यह उनका दिखावा ही हो, उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी अनुमान लगाना संभव नहीं था।

"मैं अपने लिए रोटी पकाकर दफ्तर ले जाता हूं। क्या आपके लिए भी बना दूं ?"

वे चौंके, "क्या पूछा तुमने ? मैंने सुना नहीं···"

इस बार वह चौंका, "आपके लिए रोटी बना दूं ?"

"बना दो ·· नहीं तो मैं खुद भी बना सकता हूं।"

वह समझ गया कि वे उसका यह अहसान स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे यह भी कह सकते थे कि वे बाजार जा कर खा लेंगे।

अचानक खिड़की में से आती सूरज की रोशनी में पिता के चेहरे की एक झलक देखते ही वह असमंजस में डूब गया। वह सड़क पर उन्हें देखता तो शायद पहचान भी न पाता। वे केवल अधिक बूढ़े, अधिक कमजोर, अधिक दरिद्र ही नहीं हो गये थे, बल्कि उनकी दृष्टि में, उनके चेहरे पर एक शिथिलता सी आ गयी थी। इससे पूर्व भी समय के साथ-साथ और कई दुर्घटनाओं के बाद उनमें कई परिवर्तन होते देखे थे, लेकिन कहीं भीतर कुछ था जो कभी नहीं बदला ··न मां की मृत्यु के बाद, न जेल जाने पर, न उसके घर छोड़ते वक्त वह बहुत ध्यान से उनकी ओर देख रहा था। वह जानना चाहता था कि यह कहीं उसका भ्रम ही तो नहीं।

घड़ी पर नजर पड़ते ही वह तुरंत उठ खड़ा हुआ। दफ्तर जाने से पूर्व अभी घर के कितने ही काम निपटाने थे।

कमरे के एक कोने में ही खाने के सामान और बर्तन आदि रखे थे। टोकरी में पड़े आलू छील कर उसने एक पतीले में स्टोव पर चढ़ा दिये। फिर थाली में आटा निकाल कर गूंधने लगा जिससे आलू पक जाने पर रोटी सेंक सके। इस बीच बाहर नल के नीचे बैठ कर स्नान भी कर आया।

वे बीड़ी के कश खींचते रहे और चारपाई पर बैठे-बैठे कनखियों से उसके सारे कामों को बहुत दिलचस्पी से देखते रहे। उसके छत पर जाने के बाद अनायास ही वे बड़बड़ाने लगे। यह भी उनकी पुरानी आदत थी।

"क्या आप मुझसे कुछ कह रहे थे ?"

"नहीं, कुछ कहने से क्या बन जायेगा ?"

वह तेजी से रोटियां सेंक रहा था। मोटी तो जरूर थीं, लेकिन तवे पर फूल जाती थीं।

"आप दिन में शहर घूम आइयेगा···"

वे खीझ भरे स्वर में बोले, "स्टेशन से आते वक्त ही शहर का पता चल गया था। मैं कमरे में ही आराम करूंगा···" फिर पूछा, "क्या अखबार अभी तक नहीं आया ?"

वह मुस्कराने लगा, "मैं अखबार नहीं खरीदता। दफ्तर में ही किसी दोस्त से ले कर पढ़ लेता हूं। शाम को आपके लिए ले आऊंगा।"

"अखबार कोई शाम को पढ़ने की चीज होती है। तुम कष्ट न करना।"

उसे यह जान कर तसल्ली हुई कि उन्हें घर की वास्तविकता का धीरे-धीरे आभास होता जा रहा है।

काम निबटा कर जल्दी ही वह घर से बाहर निकल जाना चाहता था, यद्यपि उसके दफ्तर का वक्त अभी नहीं हुआ था। कमरे में सामने चारपाई पर उन्हें बैठे देखकर उसे अपनी सांस घुटती सी जान पड़ रही थी। उसे लग रहा था कि यदि वह कुछ और देर उनके सामने रहा तो उसके मुंह से वर्षों से जमा होती हुई काई में से कोई ऐसी बात निकल जायगी जो उन्हें चुभेगी और बाद में उसे पश्चाताप ही होगा।

दिन भर तक दफ्तर में अपनी मेज के सामने बैठे-बैठे अपनी जिंदगी के पिछले तीस वर्षों का इतिहास बहुत बेतरतीबवार ढंग से कभी आगे, कभी पीछे एक दायरे में ही उसके सामने घूमता रहा। शाम को घर लौटने के विचार से मन में एक दहशतसी उभरने लगी। क्या बातें करने आये हैं वे? और क्यों? क्या जरूरत आ पड़ी? क्या कुछ पैसे मांगने के इरादे से आये हैं? इतना उसने सुन रखा था कि उन्होंने जेल से लौटने के बाद अपने सारे व्यापार बंद कर दिये हैं।

पास में महीने के वेतन से अधिक रुपए नहीं बचे थे। दूध बढ़ाना पड़ेगा। वे रात को सोने से पूर्व हमेशा दूध पीते हैं या कम से कम पहले तो पीते थे। घी, आटा, चावल, दालें··· सब और खरीदनी पड़ेंगी। लेकिन दूसरे ही क्षण अपने ऊपर ही क्रोध आने लगा, उनकी मेहमाननवाजी करने के लिए वह अपने आपको कष्ट क्यों दे। फिर भी शाम होते-होते उसने अपने दो सहयोगियों से दस-दस रुपए उधार ले लिये थे।

कहीं उसके मन में यह भावना भी थी कि पिता उसकी स्थिति से यह अनुमान लगा सकें कि वह अच्छा खाता पीता व्यक्ति है, जिसे कभी दूसरों के आगे हाथ फैलाने की जरूरत नहीं पड़ती। यदि उनके आने की सूचना पहले मिल जाती तो वह कमरे की, अपने कपड़ों की, खाने-पीने की सामग्री की स्थिति में कुछ सुधार कर देता।

उन्हें देखते ही ऐसा लगा, जैसे उसकी अनुपस्थिति में वे बहुत स्वाभाविक से बन गये हों। न चेहरे पर रात वाली उदासीनता थी, न उदासी। नया कुर्ता

और पाजामा पहने, सिर में तेल डाल कर कंघे से संवारे हुए उनके बाल, वे रात की अपेक्षा अधिक रहस्यमय जान पड़े। उन्हें छत पर टहलते हुए उसने बस से उतर कर सड़क से ही देख लिया था और उसी क्षण से उसकी घबराहट बढ़ गयी थी। उनका सामना करने का क्षण करीब आ गया था, जिससे वह दिन में कई बार त्रस्त हो उठा था।

उसके पास आने पर वे बहुत सहज रूप से मुस्कराने लगे, "बहुत देर से लौटते हो ?"

बाजार से खरीदा हुआ सामान थैले में से निकाल कर वह एक कोने में चुपचाप रखने लगा। वे छत पर दरवाजे पर खड़े उसे देखते रहे।

"तुम अपने लिए चाय बना लो। मैं बाजार से पी आया था।"

एक घनी उदासीनता उसे अपने घेरे में बांधे जा रही थी। वह दरी के एक कोने में बैठ गया। इच्छा हो रही थी कि इसी प्रकार लेट जाये, सो जाये। बस···दफ्तर में और रास्ते में महसूस नहीं किया, लेकिन अब घर में पांव रखते ही थकान और नींद का बोझ अचानक असहनीय-सा जान पड़ने लगा।

"शायद तुम थक गये हो। कुछ देर के लिए आराम कर लो।" क्षण भर के लिए उसके चेहरे की ओर देखते रहे, "खाना मैंने बना लिया है।"

वह आश्चर्य में पड़ गया। रूखे स्वर में बोला, "आपने क्यों बनाया ? मैं आ कर रोज ही तो बनाता हूं। और सामान भी तो नहीं था।"

"कुछ सामान मैं बाजार से ले आया था···" वे धीमे स्वर में बोले। वे दरवाजे से हट कर बीड़ी सुलगा कर छत पर टहलने लगे।

कमरे के भीतर अंधकार घना होता जा रहा था, लेकिन बत्ती जलाने का ध्यान उसे नहीं आया। धूल से सने उसके पैर आंखों के सामने थे। इन जाड़ों में एक मोजा खरीदना पड़ेगा, लेकिन समस्या एक ही थी कि उसके साथ जूता भी चाहिए, जिसके लिए रुपयों का प्रबंध वह पिछले दो वर्षों से नहीं कर सका था। पिता ने भी यह अवश्य देखा होगा, छोटी-छोटी बातों पर गौर करने से वे कभी नहीं चूकते। यह सोच कर तसल्ली हुई कि खाना नहीं बनाना पड़ेगा। इसी प्रसन्नता में स्टोव पर चाय का पानी चढ़ा दिया।

"दिन में मैं शहर का चक्कर लगा आया।" चाय का गिलास हाथ में थामे चारपाई पर बैठे वे कहने लगे, "बड़ा अजीब-सा शहर है। धूल के अलावा और कुछ दिखाई ही नहीं देता।"

"तीन ओर रेगिस्तान है, जिसकी रेत हवा के साथ उड़ा करती है।"

"तुम्हें यही शहर मिला···"

"जहां नौकरी मिली वहीं तो आता !" वह खीझ कर बोला।

वे अपने में ही कहीं खो गये। जिससे कमरे में छाई निस्तब्धता उन दोनों के बीच फैलने लगी।

"और···आपने सब बंद कर दिया, अपना व्यापार, दुकान···सब!" उसने झिझकते हुए पूछा। यद्यपि उसे इस विषय में तनिक भी दिलचस्पी नहीं थी, लेकिन वह सोचता था कि औपचारिकता के नाते उसे कुछ पूछना अवश्य चाहिए।

"अच्छा···तुम्हें पता चल गया?" उन्होंने उत्साह भरे स्वर में पूछा।

"शंभू ने लिखा था। कभी-कभी उसका पत्र आ जाता है, जिसमें वह सारे समाचार लिख देता है। वह शायद सोचता है कि मुझे वह सब जानने की उत्सुकता है।"

"हां, मैंने ही उससे लिखने को कह दिया था, जिससे तुम्हें पूरी स्थिति का पता लग जाये···"

"मेरे जानने-न जानने से आपको क्या फरक पड़ता···" वह कुछ उत्तेजित-सा हो गया था।

"फिर भी तुम्हारा जान लेना जरूरी था।"

उसने बात को आगे नहीं बढ़ाया। व्यर्थ की बहस में वह नहीं उलझना चाहता था। उसके लिए दूसरे अवसर आयेंगे।

"तभी जब तुम घर छोड़कर चले गये, तब अचानक उन सब में मेरी दिलचस्पी भी खत्म हो गयी।"

क्रोध से उसका चेहरा तमतमा गया, लेकिन अपने आपको बहुत कठिनाई से वश में रख सका। अपनी कमजोरी को दूसरों पर लादना उनकी पुरानी आदत थी।

"और शायद कुछ कर भी न पाता। गिरफ्तार होने से पहले मैंने एक बहुत बड़ा दांव खेला था।" वे खुले दरवाजे से बाहर ताक रहे थे, "लेकिन आखिरी बाजी में मेरी हार हुई, कुछ भी बचा नहीं सका···!"

उसे आश्चर्य हुआ कि पहली बार वह सब उसे क्यों बतला रहे हैं और वह बिना विरोध किये सुनता जा रहा है। वह दबे स्वर में बोला, "अब उन घटनाओं की चर्चा में क्या फायदा?"

उन्होंने उसकी बात सुनी नहीं, "चाहता तो फिर से कोई छोटा-मोटा काम शुरू कर सकता था। उतनी हिम्मत मुझ में जेल से छूटने के बाद भी थी। लेकिन अचानक विरक्ति सी होने लगी। सारा उत्साह खत्म हो गया।"

उसने यह भी महसूस किया कि उसका घर छोड़कर चले जाना भी एक बहुत बड़ा कारण था जिसका अहसास वे उसे करा देना चाहते थे।

कमरे में फिर निस्तब्धता छा गयी, मानो वह खाली हो। वह चुपचाप कमरे की खाली दीवारों, खिड़की और दरवाजे की ओर देखता रहा। तभी उसे लगा जैसे उन्होंने दिन में पूरे कमरे की सफाई कर दी हो। छत से झूलते हुए और कोनों में चिपके जाले गायब हो गये थे। कमरे के भीतर बिखरे अस्त-व्यस्त सामान की धूल झाड़-पोंछ कर उसे तरतीबवार ढंग से लगा दिया गया था, जिससे कमरा काफी बड़ा-सा जान पड़ रहा था। लेकिन उस समय इस विषय में उसने कुछ कहा नहीं। मन में कुछ आशंका-सी उभरने लगी। एक ही दिन में एक कमरे के घर की जिम्मेदारी उन्होंने अपने ऊपर ले ली।

उस रात अचानक हवा बहुत तेज हो गयी, जिससे अब तक की रुकी हुई कड़ाके की सर्दी का प्रकोप स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा। दरवाजा, खिड़की बंद कर देने पर भी सर्दीली हवा दरारों में से भीतर आ कर अपना प्रभाव जमा रही थी। छत के एक कोने में बने गुसलखाने की टीन की छत हवा में झूलती हुई धीमा-सा शोर कर रही थी जो कंबल में लिपट कर फर्श पर लेटे हुए उसे निरंतर सुनाई दे रहा था।

उस रात बहुत दिनों बाद मां का चेहरा उसकी आंखों के सामने घूमता रहा। उनका छोटा-सा कद, दुबला-पतला शरीर, उदासीनता से भरी उत्साहहीन बड़ी-बड़ी आंखें और पिता के बिल्कुल विपरीत बहुत धीमा और मीठा स्वर··· न पति से, न पुत्र से कभी कोई शिकायत उनके मन में थी। उन दोनों के बीच बनी खाई का आभास उन्हें बहुत पहले ही मिल गया था। पति से इस विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ समझा, लेकिन अपने कमजोर और डरपोक बच्चे के मन में पिता के प्रति कर्त्तव्य और सद्भावना का अहसास दृढ़ बनाने की सदा कोशिश किया करती थीं। "वे दिल के बुरे नहीं हैं···" वे झिझकते हुए कहतीं मानो अपने कथन पर उन्हें पूर्ण विश्वास न हो, "तू भी देखता है कि कितना बोझ उन पर रहता है। रात-दिन पिले रहते हैं लेकिन किसी का भाग्य ही खोटा हो तो वह क्या करे···" वे लंबे विश्वास के साथ कहती जातीं। मां के साथ बिताये इतने वर्षों की यात्रा की कितनी ही धूमिल परछाइयां उसकी आंखों के सामने तैरने लगीं। इस अकेले बच्चे का जन्म ही उनके लंबे जीवन की एक ऐसी घटना थी जो फैले हुए रेगिस्तान में नीले जल का एक छोटा-सा स्रोत था जिसका सुख उनके साथ सदा के लिए चिपक गया था। "फिर तेरे अलावा उनका और है ही कौन ? ऊपर से वे कुछ नहीं कहेंगे लेकिन मन ही मन····" अधिक वे नहीं कह पाती थीं लेकिन उनकी मनः स्थिति वह जान लेता था। उस दिन दफ्तर में भी कई बार वे बातें उसके कानों में गूंजती रही थीं, मानो मां ही किसी अदृश्य कोने से उसे याद दिलाने आयी हो। लेकिन एक तरह की तटस्थता

गहरी काई की भांति इस प्रकार छा गयी थी कि जिससे बाहर निकलना आसान नहीं था। मां होतीं तो समझ न पातीं।

हवा के साथ-साथ बारिश भी होने लगी थी जिससे गुसलखाने की टीन की छत पर उनका टप-टप शब्द वह सुन सकता था। आंखों में नींद नहीं थी।

अपना दफ्तर, दफ्तर में काम करने वाले दूसरे लोग और अपना यह कमरा —इस घेरे में अपने आपको बांधकर अपने अतीत और भविष्य से किसी तरह के संबंध बनाये रखने की उसकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। न उसे कोई दिलचस्पी थी, न ही कोई ऐसा अवसर उसके सामने आया था। पिता के आने से सारा संतुलन बिखर गया। फिर वह ऐसे प्रदेश में लौट आया जहां से मुक्ति पाने के लिए भागा था।

रात के किसी पहर में आंख खुली तो किसी को अपने ऊपर झुके हुए देख कर वह भय से आतंकित हो उठा। चीखना चाहता था लेकिन मुंह से आवाज नहीं निकली। सांस रोके लेटा रहा। ऐसा पहले भी कई बार हुआ था, जब कोई भयानक स्वप्न उसे दिखाई देता था। लेकिन इस बार वह आकृति भ्रमहीन थी।

"तुम शायद कोई बुरा सपना देख रहे थे। चीखे तो मेरी आंखें खुल गयीं। शायद तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है ? उसके जगते ही वे उठ खड़े हुए थे और चारपाई पर जा बैठे।

शायद वह रोज ही चीखता हो और किसी का उत्तर न मिलने पर चुप हो जाता हो।

वह बिना कुछ कहे पेशाब करने के लिए दरवाजा खोल कर छत पर आ गया। बारिश रुक गयी थी, लेकिन छत पर पानी के छोटे-छोटे द्वीप बन गये थे। हवा अभी तक बहुत ठंडी थी। आंखों से नींद बिल्कुल गायब हो चुकी थी, लेकिन ऊपर आसमान और बाहर के सन्नाटे को देखकर उसने अनुमान लगाया कि रात अभी काफी बाकी है। कमरे के भीतर पिता उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं और अंदर जाने की उसकी इच्छा नहीं थी। कुछ देर बाद यह जानने के लिए दरवाजे से झांकेंगे कि वह छत पर क्या कर रहा है। तीस के करीब की उम्र में भी पिता को इस बात की सफाई देनी होगी। क्या वे इसी अधिकार को मांगने उसके पास आये हैं ? इस अधिकार से वंचित हो जाना पिता के अधिकार से वंचित रह जाना था ? मुण्डेर का सहारा लिए वह बाहर देखने लगा। अचानक उसे लगा जैसे इस प्रकार की स्थिति को वह अधिक देर तक सहन नहीं कर सकेगा। इससे पूर्व कि कोई अप्रिय घटना घटे, वह उससे मुक्ति पा लेना चाहता था जो उन दोनों के लिए ही बेहतर होगा।

"क्या अब भी रात में तुम्हें डरावने सपने दिखाई देते हैं ?"

अंधेरे में वह समझ नहीं सका कि वे उससे सहानुभूति दिखला रहे हैं या उसका मजाक उड़ा रहे हैं। उनकी सहानुभूति असहनीय जान पड़ती थी।

"बचपन की कुछ विकृतियां हमेशा के लिए चिपकी रह जाती हैं।" वह बोला। उनकी जलती हुई बीड़ी का लाल सिरा अंधेरे में दिखाई दे रहा था।

"कैसी विकृतियां ?" उन्होंने पूछा।

वह हंसने लगा···कंबल में सारा शरीर ढंक कर वह अपने बिस्तर पर बैठ गया। अंधेरे में वे एक दूसरे को देख नहीं सकते थे, "आप नहीं जानते, लेकिन कई बार सपनों में आप ही दिखाई देते हैं और मेरी चीख निकल जाती है।"

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता···" वे उत्तेजित स्वर में बोले।

"क्यों नहीं हो सकता। यही तो सच्चाई है जिसे हम स्वीकार करने से हमेशा कतराते रहे। अम्मा भी उस बोझ को लादे चल बसीं, कभी उसे हल्का करने का साहस नहीं जुटा पायीं।" वह अचानक रुक गया। स्थिति को समझने की कोशिश करने लगा।

"और तुम···?"

"मैं···हां, मैं उस बोझ को ढोये यहां आ गया। सोचा था कि यहां उससे छुटकारा मिल जायेगा, लेकिन अब जान गया हूं कि वह मेरी परछाई बन गया है और आखिरी दम तक मेरा साथ नहीं छोड़ेगा···"

वे चुप रहे, बुझी बीड़ी को सुलगा नहीं सके। कुछ देर बाद अत्यंत धीमे स्वर में बोले, "ये सब बातें मेरी समझ के बाहर हैं। मेरी जिंदगी में इन सबका महत्व कभी नहीं रहा। मैं···"

"दूसरों के लिए तो हो सकता है। लेकिन आपने···सिर्फ अपनी ही दृष्टि से सबको देखा। वही आपके लिए सत्य था।"

उन्होंने बुझी बीड़ी को सुलगाने के लिए माचिस जलायी तो उनके कांपते हुए हाथ को वह देखता रहा। बीड़ी जलाने में कुछ कठिनाई हुई।

"लेकिन उन सबको दोहराना व्यर्थ है···" वह कंबल ढंक कर लेट गया "आप भी सो जाइए।"

कुछ देर तक वह उनकी लंबी सांसों को सुनने की असफल चेष्टा करता रहा। आधी रात के वक्त उसे शायद यह सब नहीं कहना चाहिए था। वे समझ भी नहीं सकेंगे। पर सोचकर उसे प्रसन्नता हुई कि अतीत की एक झलक वह पिता को दिखलाने में सफल हो सका। परंतु वे स्वीकार नहीं करेंगे।

दिन बीतने के साथ-साथ उस कमरे में उनकी उपस्थिति धीरे-धीरे स्वाभाविक-सी बन गयी। अपने आफिस से घर लौटते हुए अनजाने में एक प्रकार का उत्साह मन के भीतर उभरने लगता। इसका आभास न होने पर भी जब उसे अचानक याद आता कि पिता उसके कमरे में उसकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे तो उसके पांव अपने आप ही रुक जाते, एक द्वंद्व-सा होने लगता। कुछ देर के लिए अपने ऊपर क्रोध और खीझ भी होने लगती, लेकिन फिर वह बात दिमाग में से निकल जाती। कभी उसकी इच्छा होती कि वह वापस घर न जाये। जैसे वह घर छोड़ गया था, वैसे ही यह कमरा भी छोड़कर किसी दूसरी दिशा में निकल जाये। लेकिन उतना साहस अब तक वह जुटा नहीं सका था।

शाम को लगभग रोज ही उसके वापस लौटने से पूर्व खाना बनाकर रख देते। बाजार से जिस सामान की जरूरत होती, वह भी खरीद कर ले आते। कई बार उसने मना भी किया, लेकिन वे हंस कर कहते कि खाली बैठे-बैठे वे ऊब जाते हैं, जिससे खाना पकाने में उन्हें अच्छा ही लगता है। इस अप्रत्याशित स्थिति में उसे घबराहट भी होने लगती, लेकिन वह कुछ कर भी न सकता था।

उनके आने का कारण पता चल जाता तो उसे तसल्ली हो जाती। लेकिन इस दिशा में उन्होंने कभी कोई संकेत तक न दिया था, जिससे उसकी दुविधा और भी बढ़ गई थी, किसी भावी आशंका से वह कांप उठता। आफिस की मेज पर झुके हुए जब कभी यह बात याद आ जाती तो उसके हाथ रुक जाते, आंखों के सामने एक धुंधलका-सा छा जाता। वह निश्चय करता कि आज साफ-साफ पूछेगा।

उस दिन बाजार से कुछ मिठाई वे खरीद लाये थे। उसने चाय बनाई तो उन्होंने मुस्कराते हुए मिठाई का डिब्बा खोलकर चाय के दो प्यालों के बीच रख दिया। वह भौंचक्का-सा डिब्बे की ओर देखता रहा, उनके चेहरे की ओर देखने का साहस नहीं हुआ।

"पता नहीं, तुम्हें याद है या नहीं। आज तुम्हारा जन्मदिन है, इसीलिए यह ले आया।" वे अपने स्वर को सहज बनाते हुए बोले।

बहुत कोशिश करने पर भी वह अपनी हंसी को रोक नहीं सका, "मेरा जन्म-दिन है ? आप मेरा जन्मदिन मना रहे हैं ! क्यों····"

उसकी अस्वाभाविक-सी हंसी सुनकर वे कुछ डर से गये। मिठाई खरीदते समय वे निश्चय नहीं कर सके थे कि उसके जन्मदिन की बात उन्हें कहनी

चाहिए या नहीं। "इसमें हंसने की कौन-सी बात है ?" वे बहुत शांत मुद्रा में बोले।

लेकिन उसने उनकी बात सुनी नहीं। वह उनसे बहुत दूर चला गया था। जहां वे उसका साथ नहीं दे सकते थे। उन्होंने चुपचाप रहना ही बेहतर समझा। दिन भर के काम के बाद थकान से उसका चेहरा शाम के अंधेरे में एक प्रश्न-चिह्न-सा बना उन्हें सामने झूलता दिखाई दिया। कितने वर्ष उसे जन्मे बीत गये। बीच का अंतराल एक भूली हुई लंबी यात्रा जान पड़ा। मिठाई का खुला डिब्बा उन दोनों के बीच लावारिस-सा वहीं पड़ा रहा।

उसके भीतर एक बहुत गहरी खाई बनी हुई थी, जिसमें इतने वर्षों तक अपने आप बहुत कुछ जमा होता गया था। लेकिन जहां वे कभी झांक तक नहीं सके। अब जब कभी उस खाई में से कुछ निकल कर बाहर आता है तो वे चौंक जाते, उनके बीच की दूरी और बढ़ जाती है।

"इधर बहुत अकेला-अकेला-सा मैं महसूस करने लगा हूं...." उनके स्वर में एक हिचक-सी भरी थी। तय नहीं कर पाये थे कि यह बात कहनी चाहिए या नहीं। "मन हमेशा भटकता-सा रहता है। कुछ धार्मिक पुस्तकें भी पढ़ने की कोशिश करता हूं। साधु संतों के उपदेश सुनने भी चला जाता हूं, लेकिन कहीं चित्त नहीं जमता। सब बेमानी-सा लगता है।"

बच्चू की इच्छा हुई कि वह उनसे कहे कि वह भी ऐसा ही महसूस करता है। घर, दफ्तर, नौकरी...सब बेमानी से लगते हैं। कई बार यह सब छोड़ कर साधू बन जाने की बात मन में उठती है, लेकिन फिर लगता है जैसे साधू बन कर छोड़ने के लिए मोह-माया से भरी कोई चीज उसके पास नहीं है। न पत्नी, न बच्चे, न अपना घर, न रुपए-पैसे। फिर जोगिया वस्त्र पहन कर घूमने-फिरने से अधिक उसे कुछ प्राप्त न होगा।

"कभी-कभी तो इस गाड़ी को घसीटते रहने का कोई मतलब समझ में नहीं आता..." वे मानो अपने आप से ही बातें कर रहे थे।

"अब तो यह सब सोचना व्यर्थ है। आप देखते नहीं, कितनी देर हो चुकी है..."

"जब तक शरीर में सांस है, तब तक जिंदगी का केवल एक ही मतलब होता है, सबके लिए बराबर।" लेकिन वे अचानक चुप हो गये। क्षण भर को उन्हें लगा जैसे बच्चू के सामने यह सब कह कर क्या वे उसकी सहानुभूति पाना चाहते हैं ? उदासीनता और खीझ की एक लहर-सी उनके भीतर दौड़ गयी। "लेकिन जब वह मतलब भी कमजोर पड़ जाता है तो...." वे धीमे स्वर में कह रहे थे।

शीशे के सामने शेव करते हुए शीशे में पीछे चारपाई पर बैठे हुए पिता को अपनी ओर घूरते देख कर वह कुछ देर के लिए हतप्रभ-सा खड़ा उन्हें ही देखता रहा, लेकिन वे इस बात को नहीं जान सकते थे। अचानक पीछे मुड़कर वह कहने लगा, "कभी-कभी शीशे में अपना चेहरा देखते हुए मुझे आपका चेहरा दिखाई देने लग जाता है।" उसने जोर का एक ठहाका लगाया। "मैं बहुत कोशिश करने पर भी आपका चेहरा हटा नहीं पाता। ऐसा क्यों होता है ?"

वे साबुन लगे उसके चेहरे की ओर देखते रहे। उसके किसी भी प्रश्न का उत्तर उनके पास नहीं था। होता भी तो वे उसे बता नहीं सकते थे।

"मैं सोचता था कि एक बार घर छोड़कर मैं एक नयी जिंदगी जी सकूंगा, बिना किसी तरह के बंधनों के। जैसे चाहूं, वैसे। लेकिन···वह नहीं हो सका। मुझे एक दीमक-सी लग चुकी है, जिससे मैं कभी मुक्ति नहीं पा सकता। यह बात यहां आकर पता चली लेकिन आप इसको बहुत पहले से ही जानते थे···"

पिछले तीन-चार दिनों में वे कुछ चुप-चुप से रहने लगे थे। वह कोई बात कहता भी तो उसे लगता जैसे उन्होंने सुनी नहीं। आंखें कमरे की चहारदीवारी के भीतर देखते हुए भी कहीं और खो जाती थीं। कुछ देर के लिए वे दिलचस्पी लेने की कोशिश किया करते थे, लेकिन फिर जैसे असफल होकर अपने घेरे में वापस लौट आते थे। कारण उसकी समझ में नहीं आया।

"आपकी तबीयत तो ठीक है···" उसने तनिक हिचकते हुए कहा।

वे चौंक पड़े, "मैं ठीक हूं, मुझे कुछ नहीं हुआ···"

उसे लगा जैसे वे कुछ छिपा रहे हों।

"आपका चेहरा कुछ···"

वे उदासीन स्वर में बोले, "जैसा पहले था, वैसा ही हूं। तुम्हें फिक्र करने की कोई जरूरत नहीं।"

वह उनके चेहरे को देर तक देखता रहा। बीते हुए समय के अनगिनत स्मारक एक-एक करके स्पष्ट रूप से अंकित थे, जिनमें से कुछ को वह पहचानता था। अब बाकी बचा हुआ रास्ता केवल एक रेगिस्तान-सा होगा, जहां वे कोई चिह्न नहीं छोड़ पायेंगे।

"सोचता हूं कि दो-चार दिनों में वापस लौट जाऊंगा···" वे गंभीर स्वर में बोले, "कुछ ज्यादा ही रह गया। यहां आने से पहले दो दिन रहने की ही योजना थी, लेकिन आज बारह दिन बीत गये। कुछ पता ही नहीं चला।"

वह ध्यान से उनके चेहरे की ओर देखने लगा। कुछ दिन पूर्व उनकी बात सुनकर उसे सांत्वना ही मिलती, लेकिन बारह दिन बाद यह सुनकर उसका मन चुपचाप डूबता रहा।

"इतनी जल्दी क्या है ?" वह बुड़बुड़ाया, "क्या घर पर कोई जरूरी काम है ?"

"काम न होने पर भी तो अपने घर लौटना ही पड़ता है। यहां आ सका, यही क्या कम है।"

पहली बार उसे लगा जैसे उनके चले जाने के बाद यह कमरा बहुत खाली-सा लगेगा। उनकी उपस्थिति से वह अभ्यस्त हो चुका था। चारपाई पर पांव समेट कर बैठे हुए देखने की आदत-सी पड़ गयी थी। अब वह उस पर कभी सो नहीं सकेगा, ऐसे ही खाली बिछी रहने देगा।

कुछ देर बाद उसे यह भी लगा जैसे अपने चले जाने की बात उन्होंने केवल अपना महत्व बढ़ाने के लिए ही शायद कही हो। वे अभी जायेंगे नहीं, तब तक शायद रुके रहेंगे जब तक कोई अप्रत्याशित घटना न घट जाये। वे उम्मीद लगा रहे थे कि वह उनसे रुक जाने पर जोर दे, जिससे उसके अहसास का बोझ कम ही बना रहे। यह कर वह आश्वस्त हो गया।

दो दिन बाद आफिस से लौटने पर जब उसने बंद दरवाजे पर ताला लटका देखा तो कुछ देर के लिए वह असमंजस में पड़ गया। दूसरी चाबी उसकी जेब में थी, लेकिन ताला खोलने में वह हिचकिचाता रहा। जब से वे यहां आये थे, तब से शाम को वापस लौटने पर ताला खोलने की जरूरत उसे कभी नहीं पड़ी। दिन में जहां इच्छा होती, वे घूम आते। पिक्चर देख आते, लेकिन शाम को उसके लौटने से पूर्व वे सदा घर पहुंच जाते थे। मन में कहीं यह उम्मीद भी जगी कि वे शायद कहीं घूमने गये हों, लेकिन उनके चले जाने की आशंका भी बहुत प्रबल थी। विदा लेने की सारी भावुकता से उन्होंने दोनों को ही बचा लिया।

चारपाई के ऊपर तह किया हुआ एक पत्र रखा था, जिसे खोलते समय उसके हाथ कांपने लगे।

"मैं घर वापस जा रहा हूं। बिना सूचना दिये। इस तरह अचानक चले जाने का मुझे खेद है। लेकिन बिना सूचना दिये एक दिन यहां चला भी आया था। चाबी नीचे मकान मालिक को दे दी है। तुम्हारे बक्से में एक छोटी-सी संदूकची छोड़े जा रहा हूं, जिसमें तुम्हारी मां के सारे गहने रखे हैं। इसी उद्देश्य से मैं यहां आया भी था। संकोच के कारण तुम्हें बतला नहीं सका। अच्छा अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना···" इसके आगे दो-तीन शब्द लिखकर फिर काट दिये थे।

अपने बक्से में से गहनों की संदूकची निकालने का साहस काफी देर बाद ही बटोर पाया। वही मखमल के छोटे-बड़े डिब्बे थे, जिन्हें बचपन में वह बहुत लालायित दृष्टि से देखा करता था। वही मोतियों का जड़ाऊ हार, गले का नवरत्न, चूड़ियां जिन पर मीने का काम किया हुआ था, नाक की बड़ी-सी नथ, कानों की हीरे की तरकियां···सब सुरक्षित रखे थे। वह उदासीन भाव से देख रहा था। उन्हें पा कर क्षण भर में उनका सारा मोह समाप्त हो गया। "ये सब गहने तेरी बहू के लिए हैं···" मां का यह वाक्य उसके कानों में गूंज उठा।

कितना समय उनके सामने बैठे-बैठे बीत गया, इसका पता उसे नहीं चला। अचानक उसे लगा जैसे पिता दरवाजे के बाहर खड़े उसकी स्थिति पर हंस रहे हों। उसने चौंक कर दरवाजे की ओर देखा तो किसी की छाया दिखाई दी। वह तुरंत खड़ा हो गया और बदहवास होकर जोर से चिल्लाया—"कौन है?"

मकान मालिक थे, उसे चाबी देने आये थे।

मेरा दुश्मन

कृष्ण बल्देव बैद

वह इस समय दूसरे कमरे में बेहोश पड़ा है। आज मैंने उसकी शराब में कोई चीज मिला दी थी कि खाली शराब वह शरबत की तरह गट-गट पी जाता है और उसपर कोई खास असर नहीं होता। आंखों में लाल डोरे-से झूलने लगते हैं, माथे की शिकनें पसीने में भीगकर दमक उठती हैं, होंठों का जहर और उजागर हो जाता है और बस—होशोहवास बदस्तूर कायम रहते हैं।

हैरान हूं कि यह तरकीब मुझे पहले कभी क्यों नहीं सूझी। शायद सूझी भी हो और मैंने कुछ सोचकर इसे दबा दिया हो। मैं हमेशा कुछ न कुछ सोचकर कई बातों को दबा जाता हूं। आज भी मुझे अंदेशा तो था कि वह पहले ही घूंट में जायका पहचानकर मेरी चोरी पकड़ लेगा। लेकिन गिलास खत्म होते-होते उसकी आंखें बुझने लगी थीं और मेरा हौसला बढ़ गया था। जी में आया था कि उसी क्षण उसकी गरदन मरोड़ दूं; लेकिन फिर नतीजों की कल्पना से दिल दहलकर रह गया था। मैं समझता हूं कि हर बुजदिल आदमी की कल्पना बहुत तेज होती है जो हमेशा उसे हर खतरे से बचा ले जाती है। फिर भी हिम्मत बांधकर मैंने एक बार सीधे उसकी ओर देखा जरूर था। इतना भी क्या कम है कि साधारण हालात में मेरी निगाहें उसके सामने इधर-उधर चिड़ियों-सी फड़-फड़ाती रहती हैं। साधारण हालात में मेरी स्थिति उसके सामने बहुत असाधारण रहती है।

खैर, अब उसकी आंखें बन्द हो चुकी थीं और सर झूल रहा था। एक ओर लुढ़ककर गिर जाने से पहले उसकी बांहें दो लदी हुई ढीली टहनियों की सुस्त-सी उठान के साथ मेरी ओर उठ आयी थीं। उसे इस तरह लाचार देखकर भ्रम हुआ था कि वह दम तोड़ रहा है।

लेकिन मैं जानता हूं कि वह मूंजी किसी भी क्षण उछलकर खड़ा हो सकता है। होश संभालने पर वह कुछ कहेगा नहीं। उसकी ताकत उसकी खामोशी में है।

बातें वह उस जमाने में भी बहुत कम किया करता था, लेकिन अब तो जैसे बिल्कुल गूंगा हो गया हो।

उसकी गूंगी अवहेलना की कल्पना-मात्र से मुझे दहशत हो रही है। कहा न कि मैं एक बुजदिल इनसान हूं!

वैसे मैं न जाने कैसे समझ बैठा था कि इतने अरसे की अलहदगी के बाद अब मैं उसके आतंक से पूरी तरह आजाद हो चुका हूं। इसी खुश-फहमी में शायद उस रोज उसे मैं अपने साथ ले आया था। शायद मन में कहीं उस पर रौब गांठने, उसे नीचा दिखाने की दुराशा भी रही हो। हो सकता है कि मैंने सोचा हो कि वह मेरी जीती-जागती खूबसूरत बीवी, चहकते-मटकते तन्दुरुस्त बच्चों और आरास्ता-पैरास्ता आलीशान कोठी को देखकर खुद ही मैदान छोड़-कर भाग जायेगा और हमेशा के लिए मुझे उससे निजात मिल जाएगी। शायद मैं उस पर यह साबित कर दिखाना चाहता था कि उससे पीछा छुड़ा लेने के बाद किस खुशगवार हद तक मैंने अपनी जिंदगी को संभाल-संवार लिया है।

लेकिन ये सब लंगड़े बहाने हैं। हकीकत शायद यह है कि उस रोज मैं उसे अपने साथ नहीं लाया था बल्कि वह खुद ही मेरे साथ चला आया था जैसे मैं उसे नहीं बल्कि वह मुझे नीचा दिखाना चाहता हो। जाहिर है कि उस समय यह बारीक बात मेरी समझ में नहीं आयी होगी। मौके पर बारीक बात मैं कभी नहीं सोच पाता। यही तो मुसीबत है। वैसे मुसीबतें और भी बहुत हैं लेकिन उन सबका जिक्र यहां बेकार होगा।

खैर, माला के सामने उस रोज मैंने इसी किस्म की कोई लंगड़ी सफाई पेश करने की कोशिश की थी और उस पर कोई असर नहीं हुआ था। वह उसे देखते ही विफर उठी थी। सबसे पहले अपनी बेवकूफी और सारी स्थिति का अहसास शायद मुझे उसी क्षण हुआ था। मुझे उस कमबख्त से वहीं कहीं घर से दूर उस सड़क के किनारे किसी न किसी तरह निबट लेना चाहिए था। अगर अपनी उस सहमी हुई खामोशी को तोड़कर मैंने अपनी तमाम मजबूरियां उसके सामने रख दी होतीं, माला एक खाका-सा खींच दिया होता, साफ-साफ उससे कह दिया होता—देखो गुरू, मुझ पर दया करो और मेरा पीछा छोड़ दो—तो शायद वहीं हम किसी समझौते पर पहुंच जाते। और नहीं तो वह मुझे कुछ मोहलत तो दे ही देता। छूटते ही दो मोरचों को एक साथ संभालने की दिक्कत तो पेश न आती। कुछ भी हो, मुझे उसे अपने घर नहीं लाना चाहिए था। लेकिन अब यह सारी समझदारी बेकार थी। माला और वह एक-दूसरे को यूं घूर रहे थे जैसे दो पुराने और जानी दुश्मन हों। एक क्षण के लिए मैं यह

सोचकर आश्वस्त हुआ था कि माला सारी स्थिति खुद संभाल लेगी और फिर दूसरे ही क्षण मैं माला की लानत-मलामत की कल्पना कर सहम गया था। बात को मजाक में घोल देने की कोशिश में मैंने एक खास गिलगिले लहजे में— जो मेरे पास ऐसे नाजुक मौकों के लिए सुरक्षित रहता है—कहा था, डार्लिंग! जरा रास्ता तो छोड़ो, कि हम बहुत लंबी सैर से लौटे हैं; जरा बैठ जाएं तो जो सजा जी में आये, दे देना।

वह रास्ते से तो हट गयी थी, लेकिन उसके तनाव में कोई कमी नहीं हुई थी और न ही उसने मुझे बैठने दिया था। साथ ही उस मुरदार ने मेरी तरफ यूं देखा था जैसे कह रहा हो—तो तुम वाकई इस औरत के गुलाम बनकर रह गए हो? और खुद मैं उन दोनों की तरफ यूं देख रहा था जैसे एक की नजर बचाकर दूसरे से कोई साजिशी सम्बन्ध पैदा कर लेने की ख्वाहिश हो।

फिर माला ने मौका पाते ही मुझे अलग ले जाकर डांटना-डपटना शुरू कर दिया था—मैं पूछती हूं कि यह तुम किस आवारागर्द को पकड़कर साथ ले आये हो! जरूर कोई तुम्हारा पुराना दोस्त होगा? है ना? इत्ते बरस शादी को हो चले, लेकिन तुम अभी तक वैसे के वैसे ही रहे। मेरे बच्चे उसे देखकर क्या कहेंगे? पड़ोसी क्या सोचेंगे? अब कुछ बोलोगे भी?

मैं हैरान था कि क्या बोलूं! माला के सामने मैं बोलता कम हूं, ज्यादा समय तोलने में ही बीत जाता है, और उसका मिजाज और बिगड़ जाता है। वैसे उसका गुस्सा बजा था। उसका गुस्सा हमेशा बजा होता है। हमारी कामयाब शादी की बुनियाद भी इसी पर कायम है—उसकी हर बात, हमेशा सही होती है और मैं अपनी हर गलती को चुपचाप और फौरन कबूल कर लेता हूं। ऊपर से वह कुछ भी क्यों न कहे, उसे मेरी फरमाबरदारी पर पूरा भरोसा है। बीच-बीच में महज मुझे खुश कर देने के ख्याल से वह इस किस्म की शिकायतें जरूर कर दिया करती है—तुम्हें न जाने हर मामूली बात पर मेरे खिलाफ डट जाने में क्या मजा आता है? मानती हूं कि तुम मुझसे कहीं ज्यादा समझदार हो; लेकिन कभी-कभी मेरी बात रखने के लिए ही सही··· वगैरा-वगैरा।

मुझे उसके ये झूठे उलाहने पसन्द हैं, गो मैं उनसे ज्यादा देर तक खुश नहीं रह पाता। फिर भी वह समझती है कि इनसे मेरा भ्रम बना रहता है और मैं जानता हूं कि बागडोर उसी के हाथ में रहती है। और यह ठीक ही है!

तो माला दांत पीसकर कह रही थी—अब कुछ बोलोगे भी? मेरे बच्चे पार्क से लौटकर इस मनहूस आदमी को बैठक में बैठा देखेंगे तो क्या कहेंगे? उन पर क्या असर होगा? उफ, इतना गंदा आदमी! सारा घर महक रहा है। बताओ न, मैं अपने बच्चों से क्या कहूंगी?

अब जाहिर है कि मैं माला को कुछ भी नहीं बता सकता था। सो मैं सर झुकाये खड़ा रहा और वह मुंह उठाये बहुत देर तक बरसती रही।

वैसे यहां यह साफ कर दूं कि वे बच्चे माला अपने साथ नहीं लाई थी। वे मेरे भी उतने ही है, जितने कि उसके लेकिन ऐसे मौकों पर वह हमेशा 'मेरे बच्चे' कहकर मुझसे उन्हें यों अलग कर लिया करती है, जैसे कोई कीचड़ से लाल निकाल रहा हो। कभी-कभी मुझे इस बात पर बहुत दुःख भी होता है लेकिन फिर ठण्डे दिल से सोचने पर महसूस होता है कि शारीरिक सचाई कुछ भी हो रूहानी तौर पर हमारे सभी बच्चे माला के ही हैं। उनके रंग-ढंग में मेरा हिस्सा बहुत कम है। और यह ठीक ही है क्योंकि अगर वे मुझपर जाते तो उन्हें भी मेरी तरह सीधा होने में न जाने कितनी देर लग जाती। मैं खुश हूं कि उनका भविष्य खूब रौशन है और उस रौशनी में मेरा हाथ बस इतना ही है कि मैं उनका कानूनी, और शायद जिस्मानी, बाप हूं, उनके लिए पैसे कमाता हूं, और दिलोजान से उनकी मां की सेवा में दिन-रात जुटा रहता हूं।

खैर! कुछ देर यों ही सर नीचा किए खड़े रहने के बाद आखिर मैंने निहायत आजिजाना आवाज में कहना शुरू किया था—अरे भई, मैं तो उस कमबख्त को ठीक तरह से पहचानता भी नहीं, उससे दोस्ती का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। अब अगर रास्ते में कोई आदमी मिल जाए, तो··· ।

न जाने मेरे फिकरे का अंत क्योंकर होता। शायद होता भी कि नहीं लेकिन माला ने बीच में ही पांव पटककर कह दिया—झूठ, सरासर झूठ !

यह कहकर वह अंदर चली गई; और मैं कुछ देर तक और वहीं सर नीचा किए खड़ा रहने के बाद वापस उस कमरे में लौट आया, जहां बैठा वह बीड़ी पी रहा था और मुस्करा रहा था; जैसे सब जानता हो कि मैं किस मरहले से गुजरकर आ रहा हूं।

अब हुआ दरअसल यह था कि उस शाम माला से कुछ दूर अकेला घूम आने की इजाजत मांगकर मैं यूंही बिना मतलब घर से बाहर निकल गया था। आम तौर पर वह ऐसी इजाजतें आसानी से नहीं देती, और न ही मैं मांगने की हिम्मत कर पाता हूं। बिना मतलब घूमना उसे बहुत बुरा लगता है। कहीं भी जाना हो, किसी से भी मिलना हो, कुछ भी करना या न करना हो; मतलब का साफ और सही फैसला वह पहले से ही कर लेती है। ठीक ही करती है। मैं उसकी समझदारी की दाद देता हूं ! वैसे घर से दूर अकेला मैं किसी मतलब से भी नहीं जा पाता। माला की सोहबत की कुछ ऐसी आदत-सी पड़ गई है कि उसके बगैर

सब सूना-सूना-सा लगता है। जब वह साथ रहती है तो किसी किस्म का कोई ऊल-जलूल विचार मन में उठ ही नहीं पाता; हर चीज ठोस और बामतलब दिखाई देती है। अंदर की हालत ऐसी रहती है जैसे माला के हाथों सजाया हुआ कोई कमरा हो, जिसमें हर चीज करीने से पड़ी हो, बेकायदगी की कोई गुंजायश न हो। और जब वह साथ नहीं होती, तो वही होता है जो उस शाम हुआ या फिर उसी किस्म का कोई और हादसा; क्योंकि उससे पहले वैसी बात कभी नहीं हुई थी।

तो उस शाम न जाने किस धुन में मैं घर से बहुत दूर निकल गया था। आम तौर पर घर से दूर रहने पर भी मैं घर के ही बारे में सोचता रहता हूं; इस-लिए नहीं कि घर में किसी किस्म की कोई परेशानी है। गाड़ी न सिर्फ चल रही है, बल्कि खूब चल रही है। बागडोर जब माला जैसी औरत के हाथ हो तो चलेगी नहीं, तो और करेगी भी क्या? नहीं, घर में कोई परेशानी नहीं—अच्छी तनखाह, अच्छी बीबी, अच्छे बच्चे, अच्छे बा-रसूख दोस्त, उनकी बीवियां भी खूब हट्टी-कट्टी और अच्छी, अच्छी सरकारी कोठी, अच्छा खुशनुमा लॉन, पास-पड़ोस भी अच्छा, महंगाई के बावजूद दोनों वक्त अच्छा खाना, अच्छा बिस्तर, और अच्छी बिस्तरी जिंदगी। मैं पूछता हूं, इस सबके अलावा और चाहिए भी क्या, एक अच्छे इनसान को? फिर भी अकेला होने पर घरेलू मामलों को बार-बार उलट-पलटकर देखने से वैसा ही इत्मीनान मिलता है, जैसा किसी भी सेहतमंद आदमी को बार-बार आईने में अपनी सूरत देखकर मिलता होगा। मेरा मतलब है कि वक्त अच्छी तरह से कट जाता है, ऊब नहीं होती। यह भी माला के ही सुप्रभाव का फल है; नहीं तो एक जमाना था कि मैं हरदम ऊब का शिकार रहा करता था।

हो सकता है कि उस शाम दिमाग कुछ देर के लिए उसी गुजरे हुए जमाने की ओर भटक गया हो। कुछ भी हो, मैं घर से बहुत दूर निकल गया था, और फिर अचानक वह मेरे सामने नमूदार हो उठा था।

महसूस हुआ था, जैसे मुझे अकेला देखकर घात में बैठे हुए किसी खतरनाक अजनबी ने ही रास्ता रोक लेना चाहा हो। मैं ठिठककर रुक गया था। उसकी मुंदी हुई आंखों से फिसलकर मेरी निगाह उसकी मुसकुराहट पर जा टिकी थी; जहां अब मुझे उसके साथ बिताये हुए उस सारे गर्दआलूद जमाने की एक टिमटिमाती हुई-सी झलक दिखाई दे रही थी। महसूस हो रहा था कि जैसे बरसों तक रूपोश रहने के बाद फिर मुझे पकड़कर किसी के सामने पेश कर दिया गया हो। मेरा सर इस पेशी के खयाल से दबकर झुक गया था।

कुछ या शायद कितनी ही देर तक हम सड़क के उस नंदे और आवारा अंधेरे में एक-दूसरे के रूबरू खड़े रहे थे। अगर कोई तीसरा उस समय देख रहा होता, तो शायद समझता कि हम किसी लाश के सिरहाने खड़े कोई प्रार्थना कर रहे हैं या एक-दूसरे पर झपट पड़ने से पहले किसी मंत्र का जाप !

वैसे यह सच है कि उसे पहचानते ही मैंने माला को याद करना शुरू कर दिया था; कि हर संकट में मैं हमेशा उसी का नाम लेता हूं। साथ ही वहां से दुम दबाकर भाग उठने की ख्वाहिश भी मन में उठती रही थी। एक उड़ती हुई-सी तमन्ना यह भी हुई थी कि वापस घर लौट जाने के बजाय चुपचाप उस कमबख्त के साथ हो लूं; जहां वह ले जाना चाहे चला जाऊं, और माला को खबर तक न हो। इस विचार पर तब भी मैं बहुत चौंका था, और अभी तक हैरान हूं; क्योंकि आखिर उसीसे पीछा छुड़ाने के लिए ही तो मैंने माला की गोद में पनाह ली थी। अगर आज से कुछ बरस पहले मैंने उसके खिलाफ बगावत न की होती तो…। लेकिन उस भागने को बगावत का नाम देकर मैं अपने-आपको धोखा दे रहा हूं, मैंने सोचा था और मेरा मुंह शर्म की आग में जल उठा था। मेरा मुंह अक्सर इस आग में जलता रहता है।

उस हरामजादे ने जरूर मेरी सारी परेशानी को भांप लिया होगा। उससे मेरी कोई कमजोरी छिपी नहीं, और उससे भागकर माला की गोद में पनाह लेने की एक बड़ी वजह यही थी। उसकी हंसी में मुझे सूखे पत्तों की हैबतनाक खड़-खड़ाहट सुनाई दे रही थी, और उस खड़खड़ाहट में, उसके साये में गुजारे हुए जमाने की बेशुमार बातें आपस में टकरा रही थीं। बड़ी मुश्किल से आंख उठाकर उसकी ओर देखा था। उसका हाथ मेरी तरफ बढा हुआ था। मैं बिदककर दो कदम पीछे हट गया था और उसकी हंसी और ऊंची हो गई थी। कसे हुए दांतों से मैंने उसकी आंखों का सामना किया था। अपना हाथ उसके खुरदरे हाथ में देते हुए और उसकी सांसों की बदबूदार हरारत अपने चेहरे पर झेलते हुए मैंने महसूस किया था, जैसे इतनी मुद्दत आजाद रह लेने के बाद फिर अपने-आपको उसके हवाले कर दिया हो। अजीब बात है, इस अहसास से जितनी तकलीफ मुझे होनी चाहिए थी, उतनी हुई नहीं थी। शायद हर भगोड़ा मुजरिम, दिल से यही चाहता है कि कोई उसे पकड़ ले। लेकिन यह कौन नहीं जानता !

घर पहुंचने तक कोई बात नहीं हुई थी। अपनी-अपनी खामोशी में लिपटे हुए हम धीमे-धीमे चल रहे थे, जैसे कंधों पर कोई लाश उठाए हुए हों।

सो, जब माला की डांट-डपट सुन लेने के बाद, मुंह बनाए, मैं वापस बैठक में

लौटा, तो वह बदजात मजे में बैठा बीड़ी पी रहा था। एक क्षण के लिए भ्रम हुआ, जैसे वह कमरा उसी का हो। फिर कुछ संभलकर उससे नजर मिलाये बगैर, मैंने कमरे की सारी खिड़कियां खोल दीं, पंखे को और तेज कर दिया, एक झुंझलाई हुई ठोकर से उसके जूतों को सोफे के नीचे धकेल दिया, रेडियो चलाना ही चाहता था कि उसकी फटी हुई हंसी सुनाई दी, और मैं बेबस हो उससे दूर हटकर चुपचाप बैठ गया।

जी में आया कि हाथ बांधकर उसके सामने खड़ा हो जाऊं, सारी हकीकत सुनाकर कह दूं--देखो दोस्त, अब मेरे हाल पर रहम करो, और माला के आने से पहले, चुपचाप यहां से चले जाओ, वरना नतीजा बहुत बुरा होगा !

लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं। कहा भी होता तो सिवाय एक और जहरीली हंसी के उसने मेरी अपील का कोई जवाब न दिया होता। वह बहुत जालिम है, हर बात की तह तक पहुंचने का कायल, और भावुकता से उसे सख्त नफरत है।

उसे कमरे का जायजा लेते देख, मैंने दबी निगाह से उसकी ओर देखना शुरू कर दिया। टांगें समेटे वह सोफे पर बैठा हुआ एक जानवर-सा दिखाई दिया। उसकी हालत बहुत खस्ता दिखाई दी। लेकिन उसकी शक्ल अब भी मुझसे कुछ-कुछ मिलती थी। इस विचार से मुझे कोफ्त भी हुई, और एक अजीब किस्म की खुशी भी महसूस हुई। एक जमाना था, जब वही एकमात्र मेरा आदर्श हुआ करता था; जब हम दोनों घंटों एक-साथ घूमा करते थे; जब हमने बार-बार कई नौकरियों से एकसाथ इस्तीफे दिये थे; कुछ एक से एकसाथ निकाले भी गए थे; जब हम अपने-आपको उन तमाम लोगों से बेहतर और ऊंचा समझते थे, जो पिटी-पिटाई लकीरों पर चलते हुए अपनी सारी जिंदगी एक बदनुमा और रवायती घरौंदे की तामीर में बरबाद कर देते हैं और जिनके दिमाग हमेशा उस घरौंदे की चहारदीवारी में कैद रहते हैं ; जिनके दिल सिर्फ अपने बच्चों की किलकारियों पर ही झूमते हैं; जिनकी बेवकूफ बीवियां दिन-रात उन्हें तिगनी का नाच नचाती हैं, और जिन्हें अपनी सफेदपोशी के अलावा और किसी बात का कोई गम नहीं होता। कुछ देर मैं उस जमाने की याद में डूबा रहा। महसूस हुआ जैसे वह फिर उसी दुनिया से एक पैगाम लाया हो, फिर मुझे उन्हीं रोमानी वीरानों में भटका देने की कोशिश करना चाहता हो, जिनसे भागकर मैंने अपने लिए एक फूलों की सेज संवार ली है; जिस पर माला करीब हर रात मुझसे मेरी फरमाबरदारी का सबूत तलब किया करती है, और जहां मैं बहुत सुखी हूं।

वह मुस्करा रहा था जैसे उसने मेरे अंदर झांक लिया हो। उसे इस तरह आसानी से अपने ऊपर काबिज होते देख मैंने बात बदलने के लिए कहा—कितने रोज यहां ठहरोगे ?

उसकी हंसी से एक बार फिर हमारे घर की सजी-संवरी फिजा दहल गई, और मुझे खतरा हुआ कि माला उसी दम वहां पहुंचकर उसका मुंह नोच लेगी। लेकिन यह खतरा इस बात का गवाह है कि इतने बरसों की दासता के बावजूद मैं अभी तक माला को पहचान नहीं पाया। थोड़ी ही देर में वह एक बहुत खूबसूरत साड़ी पहने, मुसकुराती-इठलाती हुई हमारे सामने आ खड़ी हुई। हाथ जोड़कर बड़े दिलफरेब अंदाज में नमस्कार करती हुई बोली—आप बहुत थके हुए दिखाई देते हैं। मैंने गरम पानी रखवा दिया है, आप 'वाश' कर लें तो कुछ पीकर ताजादम हो जाएं, खाना तो हम लोग देर से ही खाएंगे।

मैं बहुत खुश हुआ। अब मामला माला ने अपने हाथ में ले लिया था, और मैं यूं ही परेशान हो रहा था। मन हुआ कि उठकर माला को चूम लूं। मैंने कनखियों से उस हरामजादे की तरफ देखा। वह वाकई सहमा हुआ-सा दिखाई दिया। मैंने सोचा, अब अगर वह खुद-ब-खुद ही न भाग उठा तो मैं समझूंगा कि माला की सारी समझ-सीख और रंग-रूप बेकार है। कितना लुत्फ आए, अगर वह कमबख्त भी भाग खड़ा होने के बजाय माला के दांव में फंस जाए, और फिर मैं उससे पूछूं—अब बता साले, अब बात समझ में आयी? मैंने आंखें बंद कर लीं और उसे माला के इर्द-गिर्द नाचते हुए, उस पर फिदा होते हुए, उसके साथ लेटे हुए देखा। एक अजीब राहत का एहसास हुआ। आंखें खोलीं तो वह गुसलखाने में जा चुका था और माला झुकी सोफे को ठीक कर रही थी। मैंने उसकी आंखों में आंखें डालकर मुसकुराने की कोशिश की, लेकिन फिर उसकी तनी हुई सूरत से घबराकर नजरें झुका लीं। जाहिर था कि उसने अभी मुझे माफ नहीं किया था।

नहाकर वह बाहर निकला तो उसने मेरे कपड़े पहने हुए थे। इस बीच माला ने बीयर निकाल ली थी और उसका गिलास भरते हुए पूछ रही थी—आप खाने में मिर्च कम लेते हैं या ज्यादा? मैंने बहुत मुश्किल से हंसी पर काबू किया—उस साले को खाना ही कब मिलता होगा! मैं सोच रहा था, और माला की होशियारी पर खुश हो रहा था।

कुछ देर हम बैठे पीते रहे। माला उससे घुल-मिल बातें करती रही, उससे छोटे-छोटे सवाल पूछती रही—आपको यह शहर कैसा लगा? बीअर ठंडी तो है न? आप अपना सामान कहां छोड़ आये?—और वह बगलें झांकता रहा। माला की मीठी बातों से यूं लग रहा था जैसे हमारे अपने ही हलके का कोई बेतकल्लुफ दोस्त कुछ दिनों के लिए हमारे पास आ ठहरा हो, और उसकी बड़ी-सी गाड़ी हमारे दरवाजे के सामने खड़ी हो।

मैं बहुत खुश हुआ और जब माला खाना लगवाने के लिए बाहर गई तो उस शाम पहली बार मैंने बेधड़क उस कमीने की तरफ देखा। वह तीन-चार गिलास बीअर के पी चुका था, और उसके चेहरे की जर्दी कुछ कम हो चुकी थी। लेकिन उसकी मुसकुराहट में माला के बाहर जाते ही फिर वही जहर और चैलेंज आ गया था; और मुझे महसूस हुआ जैसे वह कह रहा हो—बीवी तुम्हारी मुझे पसंद है, लेकिन बेटे, उसे खबरदार कर दो; मैं इतना पिलपिला नहीं, जितना वह समझती है।

एक क्षण के लिए फिर मेरा जोश कुछ ढीला पड़ गया। लगा, जैसे बात इतनी आसानी से सुलझने वाली नहीं। याद आया कि खूबसूरत और शोख औरतें उस जमाने में भी उसे बहुत पसंद थीं; लेकिन उनका जादू ज्यादा देर तक नहीं चलता था। फिर भी मैंने सोचा, बात अब मेरे हाथ से निकल गई है, और सिवाय इंतजार के मैं और कुछ नहीं कर सकता।

खाना उस रोज बहुत उम्दा बना था और खाने के बाद माला खुद उसे उसके कमरे तक छोड़ने गई थी। लेकिन उस रात मेरे साथ माला ने कोई बात नहीं की। मैंने कई मजाक किये, कहा—नहा-धोकर वह काफी अच्छा लग रहा था, क्यों? बहुत छेड़-छाड़ की, कई कोशिशें कीं कि सुलह-नामा हो जाए, लेकिन उसने मुझे अपने पास फटकने नहीं दिया। नींद उस रात मुझे नहीं आई, फिर भी अंदर से मुझे इत्मीनान था कि किसी न किसी तरह माला दूसरे रोज उसे भगा सकने में जरूर कामयाब हो जाएगी।

लेकिन मेरा अंदाजा गलत निकला। माना कि माला बहुत चालाक है, बहुत समझदार है, बहुत मनमोहिनी है; लेकिन उस हरामजादे की ढिठाई का भी कोई मुकाबला नही। तीन दिन तक माला उसकी खातिर-तवाजा करती रही। मेरे कपड़ों में वह अब बिलकुल मुझ जैसा हो गया था; और नजर यूं आता था जैसे माला के दो पति हों। मैं तो सुबह-सवेरे गाड़ी लेकर दफ्तर को निकल जाता था; पीछे उन दोनों में न जाने क्या बातें होती थीं। लेकिन जब कभी उसे मौका मिलता, वह मुझे अंदर ले जाकर डांटने लगती—अब यह मुरदार यहां से निकलेगा भी कि नहीं? जब तक यह घर में है, हम किसी को न तो बुला सकते हैं, न किसी के यहां जा सकते हैं। मेरे बच्चे कहते हैं कि इसे बात करने तक की तमीज नहीं। आखिर यह चाहता क्या है?

मैं उसे क्या बताता कि वह क्या चाहता है। कभी कहता—थोड़ा सब्र और करो, अब जाने की सोच ही रहा होगा। कभी कहता—क्या बताऊं, मैं तो खुद शर्मिंदा हूं। कभी कहता—तुमने खुद ही तो उसे सर पर चढ़ा लिया है। अगर तुम्हारा बरताव रूखा होता तो····।

माला ने अपना बरताव तो नहीं बदला, लेकिन चौथे रोज अपने बच्चों सहित घर छोड़कर अपने भाई के यहां चली गई। मैंने बहुतेरा रोका, लेकिन वह नहीं मानी। उस रोज वह कमबख्त बहुत हंसा था, जोर-जोर से बार-बार।

आज माला को गए पांच रोज हो गए हैं। मैंने दफ्तर जाना छोड़ दिया है। वह फिर अपने असली रंग में आ गया है। मेरे कपड़े उतारकर उसने फिर अपना वह मैला-सा कुर्ता-पायजामा पहन लिया है। कहता कुछ नहीं, लेकिन मैं जानता हूं कि वह क्या कहना चाहता है—यह मौका फिर हाथ नहीं आएगा। वह चली गई है। बेहतर यही है कि उसके लौटने से पहले तुम भी यहां से भाग चलो। उसकी चिंता मत करो; वह अपना इंतजाम खुद कर लेगी।

और आज आखिर मैं उसे थोड़ी देर के लिए बेहोश कर देने में कामयाब हो गया हूं। अब मेरे सामने दो ही रास्ते हैं। एक यह कि होश आने से पहले मैं उसे जान से मार डालूं और दूसरा यह कि अपना जरूरी सामान बांधकर तैयार हो जाऊं, और ज्यूं ही उसे होश आए, हम दोनों फिर उसी रास्ते पर चल दें, जिससे भागकर कुछ बरस पहले मैंने माला की गोद में पनाह ली थी। अगर माला इस समय यहां होती तो वह कोई तीसरा रास्ता भी निकाल लेती। लेकिन वह नहीं है, और मैं नहीं जानता कि मैं क्या करूं!

सन्नाटा

महीप सिंह

सब मिलाकर शायद छत्तीस बिल्डिंगें थीं और जिस बिल्डिंग में उसे जाना था उसका नम्बर था उनतीस। उनतीस बटा चौबीस का मतलब है उनतीस नम्बर बिल्डिंग में चौबीस नम्बर फ्लैट। चूंकि हर फ्लोर पर चार फ्लैट बने हुए हैं इस हिसाब से चौबीस नम्बर फ्लैट को छठे फ्लोर पर होना चाहिए।

इतना हिसाब तो सीधा-साधा था और किसी के भी समझाने से समझ में आ सकता था। पर उसकी मुश्किल कुछ और थी। बाम्बे सेन्ट्रल पर गाड़ी आ गयी थी पांच बजे। वह कालोनी स्टेशन के बिल्कुल पास है इसलिए टैक्सी मे जब उसने सामान उतारकर उसे पैसे दिये तो अभी साढ़े पांच बजने में तीन मिनट बाकी थे ····· बावजूद इसके कि टैक्सी वाला इस बिल्डिंग को ढूंढने के लिए कालोनी के दो-तीन चक्कर लगा चुका था। अटैची को लिफ्ट पर रखकर छठे माले पर ले जाने में ज्यादा से ज्यादा पांच मिनट लगेंगे। पर क्या पांच पैंतीस पर किसी के फ्लैट की बेल बजाना ठीक रहेगा। इस समय तो वह गहरी नींद में सो रही होगी।

फिर ?

छः बजे से पहले उसे फ्लैट की काल बेल नहीं बजानी चाहिए। पर आधा घंटा इस तरह खड़ा भी तो नहीं रहा जा सकता। लोगों का आना-जाना जारी था। सैर के लिए जाते हुए, दूध की बोतलें लेकर आते हुए लोग उसे देख रहे थे। और आंखों ही आंखों में पूछ रहे थे—किसके पास जाना है।

उसे मिसेज वर्मा के पास जाना है। मिसेज वर्मा······कैसा लगता है। पर उसे वह क्या कहकर सोचे ? उसका ध्यान आते ही उसके सामने एक व्यक्तित्व उभरता है ·····एक औरत उभरती है, जिसे आज तक वह कितने नाम दे चुका है, पर सचमुच वह कोई नाम नहीं दे सका है। उसने उसके साथ कभी 'भाभी' जैसा सम्बन्धसूचक नाम भी बनाया था पर यह कुछ ज्यादा देर तक नहीं चला। वह उसे इस सम्बन्धसूचक नाम से नहीं याद कर पाता। उसका अपना घरेलू नाम कुछ फूलमती, चमेली या गुलाबी तर्ज का है जिसे वह कभी स्वीकार नहीं कर सका। उसका पति उसे राधा कहता था। पर यह नाम भी उसे उसके लिए बहुत नाकाफी लगा था। तब एक बार उसने उसे बिना बताऐ एक नाम

दे दिया था—दिवा। और फिर वह जब भी उसके बारे में सोचता, वह दिवा के बारे में सोचता।

पर दिवा को यह कहां मालूम था कि दिवा है। यह तो किसी को भी नहीं मालूम। लोग जानते हैं कि वह मिसेज वर्मा है। वह भी जानती कि वह मिसेज वर्मा है। साल छमाही शायद ही कहीं कोई व्यक्ति, कोई स्मृति, कोई सम्बन्ध उससे टकराता हो जो उसे उसके असली नाम से बुलाता हो।

अब वह अपने फ्लैट के सामने खड़ा था। बाहर नेम प्लेट लगी थी··· मिसेज सी० वर्मा···चमेली वर्मा, चंचल वर्मा, चांदनी वर्मा। उसने घड़ी देखी। छः बजने में अभी कुछ मिनट बाकी थे। वह कुछ समय और काटने के लिए छठी मंजिल से नीचे सीढ़ियों पर झांकने लगा। घुमावदार सीढ़ियां एक गहरे कुंए की तरह नीचे तक चली गयी थीं। साथ की लिफ्ट बार-बार ऊपर नीचे आ जा रही थी और उनमें से निकलने वाले उसे घूर-घूर कर देख रहे थे।

अब छः बज चुके थे। एक एक पल उसे भारी लग रहा था। उसने काल बेल पर अपनी उंगली रख दी····· डिंग·······ड़िंग······· डिंग।

घंटी बड़ी मधुर आवाज में बज उठी थी। वह एक क्षण प्रतीक्षा करता रहा। उधर से कोई हलचल सुनाई नहीं दी। उसने सोचा, वह सो रही होगी। वह कुछ देर वैसे ही खड़ा रहा। फिर··· डिंग······डिंग······डिंग।

दरवाजे पर कुछ हैंडल की कुछ खटपट हुई। वह सामने खड़ी थी···हाउस-कोट पहने, बिखरे बाल, अलसाया चेहरा, बोझिल पलकें और सूखे होंठ।

"ओह! ···वेलकम······वेलकम······आज यह सूरज किधर से निकला··· श्यामा भी साथ है ना?"

"नहीं अकेला आया हूं।"

"उसे क्यों नहीं लाए······? मैंने तुम्हें लिखा था श्यामा को भी साथ लेकर आना··· यू स्काउंड्रल·····बीवी को साथ लेकर निकलने में भी शर्म लगती है।"

"अंदर आने दोगी।"

वह वहीं खिल-खिलाकर हंस पड़ी, "कम इन···कम इन।"

वह दाएं मुड़कर उसे ड्राइंगरूम में ले गयी। ड्राइंगरूम बहुत बढ़िया सजा हुआ था। पूरे कमरे में गलीचा बिछा हुआ था। डाइनिंग टेबल, मोटे शीशे वाली सेन्टर टेबिल, बायीं तरफ रखा हुआ रेडियोग्राम, सामने रखा हुआ टेलीविजन तथा डनलप पिलो वाला चमचमाता नया सोफा सेट। वह आतंकित और डरा हुआ-सा महसूस करने लगा।

वह सोफे पर बैठता हुआ बोला, "बहुत अच्छा फ्लैट है तुम्हारा। और तुमने

इसे सजाया भी खूब है ।"

वह मुस्कराई···एक परितुष्ट-सी मुस्कराहट । झटका देकर आगे आई लट को उसने पीछे कर लिया ।

"चाय लाऊं ?"

"किटी कहां है ?"

"अपने कमरे में सो रही होगी ।"

वह उठकर किचन की ओर चली गयी । वह सुबह स्टेशन पर खरीदे गये अखबार को हाथ में लेकर देखने लगा । अखबार देखते-देखते उसकी नजर बार-बार ड्राइंगरूम की चीजों पर फिसल जाती थी और वह सोचने लगा था···दिवा अब बहुत आराम की जिंदगी जी रही है······ दिवा अपने पूर्व जीवन की सारी कड़वाहटें, सारे कष्ट, सारे लांछन समेट चुकी है और अब वह बहुत थमा-थमा सा, बहुत संतुष्ट-सा, बहुत शांत-सा जीवन बिता रही है ।

"तुमने श्यामा का हाल-चाल तो बताया ही नहीं ।" वह कप में चाय डालती हुई बोली ।

"तुम जानती ही हो कि उसकी जिंदगी में हाल-चाल नहीं सिर्फ हल्की सी चाल भर है जिसे वह सधे कदमों से लगातार चलती चली जा रही है ।"

वह बड़ी फीकी-सी मुस्कान मुस्कराने लगी ।

"तो तुम अपने ही हाल-चाल बताओ ।"

"तुम यह भी जानती हो कि मेरी जिंदगी हाल-चाल की नहीं भाग-दौड़ की जिंदगी है", वह बोला— "और भागते हुए आदमी को कदम गिनने की फुरसत नहीं होती ।" दोनों कुछ देर तक चुप रहे ।

"तुम्हारा क्या हाल-चाल है ?" उसने पूछा ।

"बस···जी रही हूं," वह बड़ी थकी हुई मुस्कराहट मुस्कराई और फिर आंखें बंद करके होंठ कुछ इस तरह सिकोड़ लिए जैसे कोई लम्बी यात्रा पूरी करने के बाद अपने घर की छत के नीचे सुस्ता रही हो ।

"किटी कहां है ?" उसे याद नहीं रहा कि वह यह बात पहले भी पूछ चुका है । फिर खुद ही बोला— "शायद अभी सो रही है ।"

इतने में उसने देखा मैक्सी पहने एक लम्बी सी लड़की उसके सामने खड़ी है । वह बिस्तरे से उठ कर आयी लगती थी और उसे देखकर थोड़ा अचकचा गयी थी ।

"हैलो किटी····मुझे पहचाना ?"

तब दिवा भी मुड़कर उसकी तरफ देखने लगी— "अरे अपने जॉली अंकल को भूल गयी क्या ?"

वह मुस्कराई····"हैलो अंकल। आप कब आए ?"

"अभी।"

"आंटी कैसी है ?"

"ठीक है····पर तुमने दिल्ली न आने की कसम खा रखी है क्या ?"

"मामा मुझे ले ही नहीं जाती। बस खुद ही चली जाती है।"

"मैं तुझे नहीं ले जाती ?" दिवा बोली····"तेरा खुद ही कहीं जाने को मन नहीं करता है।"

'क्या कर रही हो आजकल ?" वह बीच में ही बोल पड़ा।

"गेवेज ट्रेवल्ज में काम कर रही हूं।"

"पढ़ाई पूरी कर ली ?"

उसे लगा यह बात कहीं बीच में ही अटक गयी है। किटी एकाएक अखबार पलटने लगी और दिवा उठती हुई बोली····"अच्छा नहा-धो लो। मैं नाश्ता बनाती हूं।"

नौ बजने वाले हुए तो उसने देखा दिवा भी तैयार है, किटी भी तैयार है। दोनों के हाथों में पर्स हैं, दोनों के हाथों में चाबियों के गुच्छे झूल रहे हैं, दोनों ही अपनी साड़ी की सलवटों या चुन्नटों पर हाथ फेर रही है, दोनों अपने होठों की लिपस्टिक को एक सुर कर रही हैं।

"हमारे पास अपनी-अपनी चाबी है।" दिवा बोली—"यह तीसरी चाबी तुम संभालो। ठीक से बंद-वंद करके जाना।"

रात को जब वह वापस आया तो दिवा घर आ चुकी थी। दरवाजा खोलकर वह पीछे हटी तो उसे एक भभका-सा पीछे हटता महसूस हुआ। फ्लैट के अंदर आने पर लगा, सिगरेट का धुआं इधर-उधर तिर रहा है और सारे फ्लैट में एकदम खामोशी छाई है।

"कहां घूमते रहे सारा दिन ?"

"आज का सारा दिन तो चंदर को ढूंढने में ही निकल गया।" वह बोला···· "अब वह कल्याण कैंप में रहता है। तेज और चिलचिलाती धूप में ऊबड़-खाबड़ और छितरे-बिखरे कल्याण कैम्प में···जो मीलों में फैला हुआ है···उसका घर ढूंढने के बाद लगा जैसे कोलम्बस की तरह मैंने किसी नयी दुनिया का पता लगाया है।"

"खाना···?"

"खा आया हूं। चंदर की बीवी परांठे बहुत अच्छे बनाती है।"

ऊपर की ओर उठी हुई खामोशी फिर धीरे-धीरे नीचे सरकने लगी।

वह उठकर अपने बेडरूम की ओर गयी और वापस आयी, तो उसके हाथ में सिगरेट की डिब्बी और दियासलाई थी। पास के सोफे पर बैठकर उसने सिगरेट जलाई और पीने लगी।

तभी एकाएक उसे लगा, उसे किटी के बारे में पूछना चाहिए।

"किटी अभी तक नहीं आयी ?"

"शायद अपनी सहेली के घर चली गयी हो।" वह उबासी लेते हुए बोली।

वह उसे एकटक देखने लगा। उसे लगा दिवा किटी के बारे में बहुत उदासीन है या बहुत निरपेक्ष है।

"किटी अब काफी सयानी हो गयी है।" वह बोला।

"हां····।" वह बोली, जैसे यह तो होना ही था।

"उसकी शादी-वादी के बारे में तुमने क्या सोचा है ?"

"अपनी शादी के बारे में वह खुद सोचेगी।" दिवा ने बची हुई सिगरेट को राखदानी में दबाते हुए कहा— "जब, जहां, जिससे चाहेगी शादी कर लेगी।"

वह सोचने लगा। उसे लगा किटी अपने किसी ब्वाय फ्रेंड के साथ मूवी देखने गयी होगी। फिर उसे लगा किटी बहुत सीधी है, बहुत मासूम। क्या वह 'जब, जहां, जिससे' की स्थिति का सामना कर सकेगी।

इतने में बेल हुई। दिवा बड़ी अलसाई-सी उठी। दरवाजा खुलने, किसी के अंदर आने और फिर दरवाजा बंद होने की आवाज आई।

दिवा आकर फिर अपनी जगह बैठ गयी।

"किटी आ गयी ?" उसने पूछा।

"हां···।"

उसने सोचा किटी सीधी अपने कमरे में चली गयी होगी। फिर उसने सोचा किटी कपड़े बदलकर इस कमरे में आयेगी और कुछ देर बैठकर बातें करेगी।

दिवा दो-तीन सिगरेटें और फूंक चुकी थी। उसे लगा इस बीच काफी समय गुजर गया है। वह उठा। उसने अपने अटैची से कुर्ता-पाजामा निकाला और बाथरूम की ओर कपड़े बदलने चल दिया। बाथरूम को जाते हुए वह किटी के कमरे के सामने से गुजरा। दरवाजे पर परदा था, पर उसे उसकी झलक दिखाई दी। वह अपने बेड पर लेटी कुछ पढ़ रही थी।

कपड़े बदलकर वह आया तो उसने देखा दिवा ने ड्राइंगरूम का दीवान उसके सोने के लिए ठीक कर दिया है।

"पीने के लिए पानी रख देती हूं।" कहती हुई दिवा पानी लेने चली गयी।

वह बेड पर बैठकर कमरे की एक-एक चीज को घूरने लगा। टेलीविजन, रेडियोग्राम, डाईनिंग टेबल, सोफा सेट सब निर्जीव चीजें अपनी-अपनी जगह पर

रखी हुई थीं। किसी को एक-दूसरे से कोई मतलब नहीं था। वह सोचने लगा, क्या इस कमरे में इन चीजों की पोजीशन को बदला जा सकता है। डाइनिंग टेबल वहां न रखकर उस दीवार के साथ रख दिया जाय तो कैसा रहे? सोफा सेट उधर रखा जा सकता है। दीवान उधर खिसकाया जा सकता है। टेलीविजन···? वह कमरे में इधर-उधर देखने लगा। फिर उसे लगा वह जहां रखा है वहीं ठीक है। फिर उसे लगा जो चीज जहां रखी है वहीं ठीक है।

दिवा की लरजती हुई आवाज सुनाई दी— "गुड मार्निंग···नींद आई?"

"नींद मुझे हर जगह आ जाती है। शी इज वेरी काइन्ड टु मी।"

वह खिलखिलाकर हंस पड़ी।

नाश्ते की टेबल पर उसने कहा—"आज नाइट शो के तीन टिकट मैं ले आऊंगा।" वह किटी की तरफ मुड़ा—"तुम्हें आफिस के बाद कहीं जाना तो नहीं?"

किटी अपने टोस्ट पर बटर लगा रही थी।

"कहीं खास नहीं अंकल।"

उसने दिवा की ओर देखा—"घर से जरा जल्दी निकल चलेंगे। कुछ देर चौपाटी की सैर करेंगे।"

फिर वे बातचीत करने लगे······कहां कौन-सी फिल्म लगी है। अधिकतर फिल्में देखी हुई थीं······कुछ दिवा की···कुछ किटी की।

"तुम लोगों के साथ कौन-सी फिल्म देखी है?"

एकाएक उसे लगा, उसने बड़ी गलत बात पूछ ली है। दिवा के चेहरे पर एक बड़ी रूखी सी मुस्कराहट फैल गयी थी जो कुछ भयावह सी नजर आ रही थी। किटी का चेहरा भी हल्की-सी उलझन में भर गया लगता था।

"तुम्हारे हाथ के आलू के पराठे मुझे नहीं भूलते। इतने स्वादिष्ट आलू के पराठे मैंने और कहीं नहीं खाए। सच कहता हूं कि कुकिंग का कोई 'नोबेल प्राइज' हो तो वह तुम्हें सिर्फ तुम्हारे आलू के पराठे के लिए मिल सकता है।" वह बोला।

दिवा और किटी दोनों हंसने लगीं।

"अंकल आप बड़े चालाक हैं।" किटी बोली—"मामा को मक्खन लगा रहे हैं ना···। पर मामा कितना अर्सा हो गया तुमने आलू के पराठे नहीं बनाए। रोज सुबह वही ब्रेड, बटर, अंडा खा-खाकर मैं तो बोर हो गयी हूं।"

"कल नाश्ते में आलू के पराठे बनाऊंगी।" दिवा का चेहरा खिल उठा था। किसी कोने में छिपा हुआ मातृत्व उसके चेहरे पर इधर-उधर से तांक-झांक करने

लगा था। उसने एक स्लाइस पर मक्खन की खासी मोटी परत लगा कर किटी की प्लेट में रख दी।

"ओ···नो मामा···मैं नहीं खाऊंगी।"

"डोंन्ट बी सिली···।" कहकर वह दूसरी स्लाइस पर मक्खन लगाने लगी।

वह फिर अखबार पलटने लगा और फिल्मों की बातें करने लगा। दो-तीन फिल्में अभी अनदेखी थीं, पर उन्हें रिलीज हुए दो-एक दिन ही हुए थे। इसलिए उनके टिकट मिलने की उम्मीद कम थी।

उसने कहा—"इनमें जिसके भी टिकट मिले मैं लेता आऊंगा।"

शाम को वे चौपाटी की रेत पर बैठे हुए थे।

एकाएक दिवा बोली—"साल-छमाही कहीं एक ऐसा दिन आता है।"

उसने दिवा की ओर देखा। वह सामने समुद्र में खड़ी एक किश्ती की ओर देख रही थी। फिर वह उसकी तरफ देखने लगी—"तब कहीं हल्का-सा महसूस होता है, मेरा भी कोई परिवार है···मैं और किटी मां-बेटी हैं····।"

वह हंसी और किटी की ओर देखने लगी। किटी मुट्ठी में रेत भर रही थी। और उसे अपनी उंगलियों के बीच से निकाल रही थी।

"कैसी अजीब बात है। हमारे बीच जब तक कोई तीसरा व्यक्ति न आए हमें यह अहसास ही नहीं होता कि हम मां-बेटी हैं। हमें आपस में बात किये हफ्तों गुजर जाते हैं। फलैट में एक-दूसरे की छाया देखकर हमें बस एक-दूसरे के होने का अहसास होता है। अलग-अलग कमरे, अलग-अलग बाथरूम यहां तक कि टूथपेस्ट भी अलग-अलग।

किटी बड़े सूने-सूने, बड़े गुमसुम ढंग से यह बात सुन रही थी।

"आओ भेल-पूड़ी खाएं।" उसने कहा। सब उठकर भेल-पूड़ी वाले की तरफ बढ़ लिये।

फिर सब धीरे-धीरे चलकर लेमिंगटन रोड पर आकर फिल्म देखने लगे। वह किनारे बैठना चाहता था पर दिवा और किटी ने ऐसी स्थिति बना दी कि वह उनके बीच में बैठा।

फिल्म देखकर निकले तो किटी बोली—"अंकल, आईए थोड़ी देर के लिए फिर चौपाटी पर चलें। रात को वहां बैठने में बड़ा मजा आता है।"

उसने दिवा की ओर देखा।

"चलो ना मामा······" किटी दिवा से लिपट सी गयी।

वह हंसी—"कल दफ्तर नहीं जाना है?"

"कल की कैजुअल ले लेंगे···।" वह बहुत उमंग से बोली—"और कल सारा

दिन अंकल के साथ पिकनिक मनाएंगे। और अंकल, कल के आप के सारे प्रोग्राम कैंसल।"

दिवा ने उसकी ओर देखा—बड़ी गहरी, बड़ी डूबी, बड़ी मोहक नजर से। जैसे वह 'वह' नहीं है। वह 'वह' है···वह···वह···किटी का अंकल···किटी का पिता···।

गाड़ी सुबह सुबह सात-पैंतीस पर छूटती थी—वी. टी. स्टेशन से। दिवा ने दिन के लिए आलू के पराठे बना लिए थे। साथ में कई किस्म का अचार और सलाद काट दिया था। सुबह का नाश्ता भी जल्दी-जल्दी बन गया था। किटी को भी वह इधर-उधर डोलते देख रहा था। किटी बीच-बीच में उसे याद कराती थी और कहती थी—"मद्रास से आप मेरे लिए कुछ शंख खरीद लीजिएगा। एक तो चौड़े पंजे वाले। पर ख्याल रखिएगा कोई कहीं से जरा-सा भी टूटा हुआ न हो। और दूसरे बड़े वाले शंख, जो मंदिरों में बजाए जाते हैं। और आप तो मद्रास से सीधे दिल्ली चले जाएंगे। वहां मेरी चीजें संभाल कर रखिएगा। मामा जब अगली बार जाएगी तो उन्हें दे दीजिएगा।"

"तुम दिल्ली नहीं आओगी······?" उसने दांतों से टोस्ट काटते हुए पूछा।

"इस बार मैं भी मामा के साथ आऊंगी··· नहीं मामा के साथ नहीं, अकेली आऊंगी। आप मुझे दिल्ली की खूब सैर कराएंगे ना। सब जगह घुमानी पड़ेगी।"

दिवा ने चाय की केतली टेबल पर रखते हुए कहा—"किटी बेटा, अंकल की गाड़ी का वक्त हो रहा है। तुम जरा सड़क से टैक्सी तो बुला आओ।"

किटी टैक्सी लेने चली गयी।

दिवा उसी के साथ कुर्सी पर बैठ गयी।

सामान बंध चुका था।

वह कपड़े पहन कर तैयार था।

उसने चाय का आखिरी घूंट पिया और दिवा की ओर देखने लगा। वह सूनी आंखों से मुस्कराने की कोशिश कर रही थी।

उसने उसके दोनों हाथ अपने हाथों में ले लिये।

दिवा की आंखें और सूनी हो गयी।

टैक्सी चली तो दोनों ने हाथ हिलाए। और उसने देखा दोनों लिफ्ट की तरफ मुड़ गयी हैं।

दो-एक मोड़ लेकर टैक्सी सड़क पर आ गयी। सड़कें अभी सूनी थीं। सन्नाटा अभी पूरी तरह टूटा नहीं था। बड़ी मस्त हवा चल रही थी। पीछे छोड़े हुए फ्लैट के कुछ बिम्ब उसके सामने आने लगे···

लिफ्ट में दिवा और किटी खामोश हैं···लिफ्ट से निकल कर दिवा फ्लैट का दरवाजा खोलती है···किटी सीधे अपने कमरे में चली जाती है···दिवा बर्तन साफ करने वाली बाई को डाइनिंग टेबल साफ करने के लिए कहती है। किटी अपने बिस्तरे पर लेट कर किसी पत्रिका के पन्ने पलटने लगती है···फिर उठकर नहाने चली जाती है···दिवा अपने कमरे में आकर सिगरेट सुलगाती है और अखबार की सुर्खियां देखने लगती है···फिर वह भी नहाने चली जाती है···बाई टेबल पर नाश्ता लगा देती है···ब्रेड बटर, उबले अंडे, दूध···

फिर नौ बजते हैं। दोनों अपने-अपने पर्स संभालती हैं··अपने चाबियों के गुच्छे संभालती हैं,···अपनी साड़ियों की चुन्नटों पर हाथ फेरती हैं,···लिपस्टिक लगे होंठों को शीशे में देखती हैं और फ्लैट से निकल पड़ती हैं···।

उसे सामने वी. टी. स्टेशन का भव्य भवन दिखाई देने लगा था।

दोजखी

शानी

मैं दबे पांव दाखिल हुआ। बाहर का गेट भी मैंने धीरे से खोला था—ऐसे कि आवाज न हो। घर के सामने वाला दरवाजा उढ़का हुआ था—हमेशा की तरह। मैंने उसे भी धीरे से धकेला था। असल में मैं जमील के सामने बिल्कुल अचानक आना चाहता था—दिल के दौरे की तरह !

यह भोपाल जैसे शहर की दोपहरी थी—ढ़लती हुई। दिन में इतना सूनापन और आलस्य था कि अक्सर लोग सो रहे थे। मैं जानता था कि यह जमील के घर पर मिलने का वक्त था। शहर और उसके अपने मिजाज के लिहाज से ही नहीं, उसके काम के एतबार से भी। उसका कालेज सुबह शाम लगता था और सारी दोपहर खाली रहती थी।

जमील दीवान पर लेटा हुआ था – दीवार की ओर मुंह किए। आहट से चौंककर जब उसने देखा तो एकाध पल बस देखता ही रह गया। हैरान। फिर अरे कहता हुआ हड़बड़ाकर उठा और हम दोनों लिपट गए। उसकी जकड़ जबरदस्त थी। बाहें उसकी लम्बी और मजबूत थीं और हथेलियां जैसे मेरी पीठ में धंस जाना चाहती थी—गोश्त-पोश्त को छेदती हुई। पहली बार लगा कि हाथ की उगलियां भी बोलती हैं।

—कब आया ? कई पल बाद उसने गर्दन हटाकर पूछा—लगभग रुंधे हुए स्वर में। उसका चेहरा अब भी मेरे इतने पास था कि दोनों एक-दूसरे को देख नहीं पा रहे थे।

—सुबह, मैंने कहा—दक्षिण एक्सप्रेस से।

अलग हुए। बैठे।

—मैं आज सुबह ही याद कर रहा था, वह बोला और गावतकिए से टिककर मेरी ओर देखने लगा। वह ऐसी भरपूर नजर थी जिसमें आप समो लेना चाहते

हैं—सब कुछ । तभी बगलवाले कमरे का परदा हटाकर बीवी कनीज आयी—हंसती हुई । सलाम किया । पास बैठी । बोली । पूछा । खुश हुई ।

—बाजी कैसी हैं ? मैंने कनीज से कहा—उनसे मेरा सलाम···

—नमाज पढ़ रही हैं, वह अंदर देखती हुई बोली—और तुम्हारे लिये क्या लाऊं ? पहले खाना खा लो···

—इस वक्त ? मैं हंसने लगा । हमेशा की तरह । मैं जानता था कि आखिर वह खाना लाएगी और मैं खाऊंगा । वह उठकर अंदर चली गयी ।

—अब बाजी की तबीयत कैसी रहती है ? मैंने जमील से पूछा ।

बाजी का तख्त बाहर से ही दिखता है और घर में दाखिल होते हुए मैंने देख लिया था कि वह नमाज पढ़ रही हैं । सवाल जैसे असुविधाजनक था । जमील सिगरेट का पैकेट टटोलने लगा । मिला तो एक जलाई और मेरी ओर देखकर सिर हिला दिया यानी बस ठीक है । और फीकेपन से मुस्कुराया । बाजी—भाईजान यानी मां-बाप । बाजी कई महीने से बीमार चल रही थीं । घर पर हुए नए हादसे से भी पहले । शायद तभी से जब एक दिन भाईजान अचानक नहीं रहे थे । रात वे ठीक-ठाक सोए थे लेकिन सुबह नहीं उठे, बस ।

—कौन है अल्लन ? भीतर से बाजी की आवाज आयी । वह शायद मुसल्ले से उठ रही थी । अल्लन यानी जमील । जमील ने मेरा नाम बताया । कहा कि मैं दिल्ली से आया हूं—सलाम कह रहा हूं । उन्होंने वहीं से दुआएं दीं—बहुत थकी हुई आवाज में । फिर कुछ बड़बड़ाती-सी रहीं—क्या यह मेरी समझ में नहीं आया । सोचा कि दरवाजे तक जाकर उन्हें देख लूं लेकिन हिम्मत नहीं पड़ी । उनका सामना करना मेरे बस की बात नहीं थी ।

—और ? थोड़ी देर बाद जमील ने मुझे वापस लाते हुए कहा—कहीं और ले जाने के लिए ।

—तेरी दिल्ली कैसी है ?

—मेरी ?

—जमील मुस्कुराया ।

दिल्ली एक दोजख है, मैं पहले अक्सर कहा करता था । चार साल पहले जब मैं इस शहर से निकाला गया था तो मेरे मन में बहुत तल्खी थी । यह देश निकाला पिछली सरकार की इनायत थी और मेरे लिए यह भूलना मुश्किल था कि मैं दिल्ली आया नहीं, फेंका गया हूं । हालांकि अब वह बात नहीं रही लेकिन न तो मैं दिल्ली का हो सकता हूं और न दिल्ली मेरी और जमील यह जानता था ।

—चल मेरठ के मारकाट की सही । क्या हाल हैं ?

—वहां दंगे का इतिहास बहुत पुराना है, सन् सैंतालिस से भी पुराना। नया मैं क्या बताऊं। वही कह सकता हूं जो अखबारों में है। हां, सुना है कि मुरादाबाद और अलीगढ़ में बहुत तनाव है।

—तुझे अखबारों पर भरोसा होता है ?

मैं चुप हो गया।

—जो लोग दहाने पर बैठे हैं, वे जानते हैं। उसने कहा।

—कहां है दहाना ?

—दिल्ली दहाना नहीं है ? मुल्क का, मेरठ का जमशेदपुर या भागलपुर का······ ?

मैं कमरे की दीवारों को देखने लगा जिनमें कई आकारों की पेन्टिंग्स लटकी हुई थी, कनीज की बनायी हुई। उनमें हुसैन और हेब्बार का मिला-जुला प्रभाव साफ था। जाहिर है कि मैं बचना चाहता था। शायद हम दोनों बचना चाहते थे उससे जिसके छिड़ जाने का डर हम दोनों को ही था।

—तेरी पुरानी शक्ल लौट आयी है, जमील ने बात पलटते हुए कहा—पिछली बीमारी में जाने वह कहां चली गयी थी।

—यह हार्ट-अटैक की देन है, मैंने कहा और एक दंभभरी हंसी हंसने लगा। ऐसे जैसे मैं कोई किला जीत आया हूं।

—अब तो तू बिल्कुल ठीक है न ? उसने पूछा।

—बिल्कुल का तो पता नहीं। हां, ठीक जरूर हूं। उतना ही ठीक जितना दिल के मरीज रहते हैं।

और यह कहने के साथ ही मुझे लगा कि मेरे स्वर में आत्मदया आ गयी है, मैंने पुराने दंभ में लौटते हुए कहा—असल में, अब मैंने परवाह करना छोड़ दिया है। जब आना है, आ जाएगी। तब न डाक्टरों के चलते रुकेगी और न मेरे रोके।

—बहुत दिनों तक यहां किसी को पता नहीं था, जमील ने कहा—अफवाह की तरह खबर आयी थी, कुछ उल्टी-सीधी। हम लोगों ने घबराकर दिल्ली फोन किया था लेकिन तुम्हारे वहां के दोस्तों ने कहा कि वैसी कोई बात नहीं है। अस्पताल में जरूर है, इंटेंसिव केयर यूनिट में भी है लेकिन हार्ट-वार्ट का मामला नहीं है। वो तो दिल्ली से तुझे देखकर लौटे पंकज ने बताया कि सब-कुछ कितना सीरियस था·······यह हुआ कैसे ?

—उसी तरह जैसे यह होता है—अचानक।

—घर पर ?

नहीं, दफ्तर में।

—कैसे ?

···मैं बातें कर रहा था एक मिलने वाले से। एकाएक मुझे बेचैनी-सी हुई। सीने में जकड़न और दर्द के बगूले उठ आए थे और मैं पसीने में शराबोर हो गया। मेरी आवाज बिल्कुल मद्धम हो गयी थी। दिल डूबने लगा था। मैं उठना चाहता था लेकिन मुझमें दम नहीं था। मैं बैठे रहना चाहता था लेकिन इतनी बेचैनी और घबराहट कि···थोड़ी ही देर में मैं फर्श पर लेटा छटपटा रहा था···

कहते कहते मैं रुक गया क्योंकि जमील के चेहरे पर एक आतंक मैं साफ-साफ देख रहा था जो मैं चाहता था। मुझे खुशी थी कि मेरी जिस यातना को यहां मामूली ढंग से लिया था मैं उसका हिसाब बराबर कर रहा था। दिल्ली के अपने दोस्तों के रवैये पर गुस्सा आ रहा था सो अलग। यह ठीक है कि एक मसलेहत के तहत मेरी बीमारी की मंजीदगी को छिपाया गया था लेकिन उस मसलेहत ने मुझे उस सबसे यहां महरूम कर रखा था जो मैं चाहता था। लगभग एक माल के बाद मैंने इस शहर में प्रवेश किया था एक ऐसे आदमी की तरह जो दुर्लभ होते-होते एकाएक रह गया था।

—तुम्हें याद है, मैंने ताजियत का खत तुम्हें कब लिखा था? वह सात अप्रैल का दिन था और कोई घण्टे भर पहले मैंने तुम्हें लिखा था। तब मैंने सोचा भी नहीं था कि थोड़ी ही देर बाद मैं भी उस रास्ते पर पहुंच जाऊंगा जहां से हसीन कभी नहीं आया।

तभी भीतर से कनीज निकल आयी और मेरे सामने कबाब-रोटियों की रकाबी रखती हुई बोली—लो खाओ। फिर एक स्टूल खींचकर सामने ही बैठ गयी। पहला ही लुकमा तोड़ते हुए मुझे लगा कि हसीन का नाम मुझे नहीं लेना चाहिए था। शायद मैं चाहता भी नहीं था लेकिन बात की रौ थी। लेकिन क्यों नहीं? क्या मैं पुरसे के लिए नहीं आया था? पुरसा और वह भी हसीन का। यह वह आदमी था जो अभी कल तक इसी शहर में दूसरों के पुरसे के लिए जाया करता था और नहीं जानता था कि उसे क्या कहना चाहिए। वह चुपचाप बैठ जाया करता था—सूनी आंखों से एक तरफ देखता हुआ।

खबर मुझे यह भी दफ्तर में मिली थी, दिल्ली में। जमील ने नहीं दी थी। इस शहर से भी नहीं गयी थी, बुरहानपुर से सईद महमूद ने लिखा था।

—तुम्हें यह जानकर बहुत सदमा होगा, उसने खत में कहा था—कि हम दोनों का अजीज दोस्त हसीन अहमद सिद्दीकी का नाइजीरिया में इंतकाल हो गया। उसका हार्ट-फेल हो गया था। नसरीन भाभी उसकी मैयत लेकर भोपाल आयीं थीं और उसे दफना कर मैं कल ही लौटा हूं। हम लोगों का जो

होना था, हुआ लेकिन सोचो कि तीन छोटे-छोटे बच्चों के साथ रह गयी एक जवान औरत के साथ जो नाइंसाफी हुई है, क्या उसकी कोई तलाफी हो सकती है ?

बड़ी देर तक मैं खत लिए बैठा रह गया था। मैंने उसे कोई तीन बार पढ़ा था और हसीन के नाम पर पांच बार नजर डाली थी। मैं यकीन करना चाहता था लेकिन हो नहीं रहा था और जब हुआ तो उस पल के शतमांश में राहत और छुटकारे की सांस थी। फिर मैंने दुख को धीरे-धीरे समेटकर अपने भीतर इकट्ठा किया था और एकदम दुखी हो गया था।

—यह भी कोई बात हुई ? मैं उसके बाद हर आने वाले को बताकर कह रहा था—क्या यह उसके जाने की उम्र थी और वह भी दिल के दौरे से। वह तो मुझसे भी दो साल छोटा था। वह खुदा से खौफ खानेवाला और परहेजगार आदमी था और सिगरेट तक नहीं पीता था।

यह सब कहते हुए या तो मैं डरा हुआ था या शायद अपने डर को दूर कर रहा था हालांकि दफ्तर से घर लौटते तक भी उससे पीछा नहीं छूटा था। वह कहीं इतने अंदर पहुंचकर बैठ गया था कि उसने मुझे एकाएक चुप कर दिया। खबर यह घर के लिए भी बड़ी थी लेकिन मैंने उस दिन बीवी से भी नहीं कहा—इस डर से कि घर पर भी देर तक वही जिक्र होता रहेगा और रात को हसीन का चेहरा मुझे सोने नहीं देगा। उस रात मैं सो तो गया लेकिन हसीन ने तंग बराबर किया। उसका चेहरा चारों ओर से आकर मुझपर आक्रमण करता था और सपने ने सारी रात उसकी मैयत दिखायी थी—कई दिन पुरानी मैयत ! यह उस दिन ही नहीं, उसके अगले दिन भी हुआ था और उसके भी अगले दिन हालांकि मैं किसी से कुछ भी नहीं कह रहा था। ताजियत का खत भी तीन दिनों तक टालने के बाद मैंने जमील को लिखा था और मै भी हसीन की तरह नहीं जानता था कि पुरसे में क्या कहना चाहिए……

बात अजीब सही लेकिन सच तो यह है कि हसीन मेरा दोस्त नहीं रह गया था। खासकर इधर के बरसों में—जब वह नाइजीरिया चला गया था या शायद उससे भी पहले जब मैं धीरे-धीरे उसके छोटे भाई जमील का दोस्त हो गया था। पन्द्रह बरस पहले जब मैं भोपाल आया था तो दोस्ती उसी से हुई थी। दोनों भोपाल में बाहर से आए हुए थे और वहां हमारा कोई घर नहीं था। हसीन में एक खास तरह का मरदाना आकर्षण था—सीधे अपनी ओर खींच लेने वाला। वह लंबा और छरहरा था और हल्के-हल्के गंजा हो रहा था। पहले ही दिन मैंने देख लिया था कि वह एक महीन अहसासों वाला ऐसा गुस्सैल और आक्रामक आदमी है जिसमें जबरदस्त सेंस आफ ह्यूमर है। वह इतने छोटे-

छोटे और खूबसूरत मुबालगे करता था कि कोई भी हंसता-हंसता उसका हो जाता था। तब हम लोग पुराने भोपाल की अमीरगंज गली में रहते थे और जवान थे। हसीन एक प्रायवेट कालेज में विज्ञान पढ़ाता था और मैं एक दफ्तर में कलम घसीट रहा था। मुहल्ला पुराने रईसों और अमीरों का था और हम-जैसे फटेहाल इक्का-दुक्का ही पड़े हुए थे—अपने-अपने मुंह छिपाए हुए। असल में हम दोनों की दोस्ती दो तंगदस्त, कुंठित और गुस्सैल आदमियों का ऐसा मेल थी जो दोनों को राहत देती थी। रीझा पहले मैं ही था, बाद में उसे रिझा लिया था हालांकि हम दोनों अलग-अलग किमाश के लोग थे। वह विज्ञान पढ़ाता था लेकिन दकियानूस और मजहबी था और हंसी-हंसी में अपने को जन्नती कहता था। मेरा विज्ञान से कोई लेना-देना नहीं था लेकिन मैं उसी के सहारे अपने को आधुनिक लगाता था और प्रगतिशील बना हुआ था—हसीन का फतवा सिर-माथे पर लिए हुए कि मै दोजखी हूं जबकि सच्चाई यह है कि हम दोनों एक-दूसरे को दोजखी समझते थे और दोनों मिलकर उस तीसरे को जो हमारे बीच नहीं होता था लेकिन जिसे हम कादू कहते थे।

—तुम मक्कार हो, एक बार उसने गुस्से में खोलते हुए मुझसे कहा था—अव्वल दर्जे के पाखण्डी और धूर्त···

—क्यों, क्या तुमसे भी बड़ा ?

—हां, मैं तो तुम्हारे पांव की धूल भी नहीं हूं।

—वह तो तुम वैसे भी नहीं हो। मैंने हंसकर उड़ाना चाहा था।

—तुम दोनों जहान के मजे मारना चाहते हो, उसने करीब-करीब बाल नोचते हुए कहा था—नास्तिक-वास्तिक कुछ हो नहीं, वह तुम्हारा ढोंग है।

—तुम्हारे जन्नती होने से भी बड़ा ढोंग ? मैंने प्रतिवाद किया था—क्यों नाहक फाके करते हो यार। मैं अक्सर कहा करता था कि जो सचमुच रोजेदार होते हैं, वे सेहरी के बाद इफतार और इफतार के बाद सेहरी की फिक्र नहीं किया करते। जो लोग रमजान के दिनों में सुबह शाम थैली लिए बाजार भागते नजर आते थे—कभी मुर्ग तो कभी तीतर के लिए, कभी लवे तो कभी बटेर, कभी मछली तो कभी बिरयानी के लिए मैं उनका मजाक उड़ाता था यह जानते हुए भी कि इससे हसीन को चोट लगती है क्योंकि मैं यही चाहता था।

—तुम न हीयों में हो और न शीयों में। न यहां न वहां। अल्लाह तुम पर रहम करे।

वह मुझसे कहता था।

यह सिर्फ एक दिन की बात नहीं थी। अक्सर हम दोनों किसी न किसी ऐसी बात पर लड़ते थे। गुस्से में एक-दूसरे से कभी न बोलने की धमकी देते थे

लेकिन अगले दिन या उसके अगले दिन फिर मिलते थे, फिर से लड़ने के लिए...

यह वह दौर था जब मुल्क में फसाद की फसल आयी थी और एक के बाद कई शहरों में दंगे हो रहे थे—जबलपुर, भिवंडी, जलगांव, अहमदाबाद, जमशेदपुर और ·· ····

हम लोग भोपाल–जैसे शहर में रह रहे थे जिसमें दंगे का कोई इतिहास नहीं था फिर भी डरे हुए थे क्योंकि शहर में तनाव था। सरकार सतर्क हो गयी थी। जगह-बेजगह पुलिस और होमगार्डस के जवान तैनात थे। रोज अफवाहें उड़ती थीं और बाहर से रोज खबरें आती थीं—हैबतनाक खबरें। बरसों से साथ-साथ रहे आए हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे को संदेह और डर से देखने लगे थे और छोटे-छोटे समूहों में बंट गए थे।

—देख लो, एक ऐसी ही शाम हसीन ने घबराए हुए स्वर में कहा था—सूअर के बच्चों ने मुल्क का बंटवारा करके क्या कर दिया है······

उसने सुबह के अखबार में कुछ और दिल दहलाने वाली खबरें पढ़ ली थीं। उसका शेव बढ़ा हुआ था और बाल रूखे थे—उड़े-उड़े से। वह और दिनों से ज्यादा गंजा लग रहा था।

—अब यह मुल्क रहने लायक नहीं रहा। वह बोला—किसी दिन हम लोग भी काटकर फेंक दिए जाएंगे और कोई रोने वाला नहीं होगा।

—क्यों, मैं जो हूं। मैंने हंसकर कहा। दरअसल, मैं अपने और उसके डर को हंसकर उड़ाना चाहता था—अंधेरे में गाए जाने वाले गीत की तरह।

—तुम भी नहीं होगे, उसने आंखें तरेरकर तल्खी से जवाब दिया—कल जब काफिरों का जत्था गण्डासे और खंजर लेकर तुम्हारे दरवाजे पर आएगा तब कोई नहीं पूछेगा कि तुम क्या सोचते हो या तुम्हारे ख्यालात क्या हैं। पहचान के लिए तुम्हारा नाम काफी है।

—तुम तो कह रहे थे कि पहचान के लिए सिर्फ नाम काफी नहीं होता ?

—वह और बात थी। दूसरे सिलसिले में कही गयी थी। मसलों को गड्ड-मड्ड मत किया करो। मैं जानता हूं तुम चालाकी कर रहे हो।

हां, मैं चालाकी कर रहा था। जानबूझकर अनजान बने रहने की चालाकी। सचाई से डरकर भाग खड़े होने की चालाकी। हसीन से असहमत होने और उसे आहत करने की चालाकी। मैं हसीन से बिल्कुल सहमत नहीं होना चाहता था क्योंकि उसकी बात मानना अपने पांवों के नीचे के उस टीले को काटना था जिसपर मैं खड़ा था।

इस बीच एक ऐसी बात हुई जिसके बारे में मैंने कभी सोचा भी नहीं था।

हसीन एकाएक मेरे लिए दुर्लभ हो गया था। सुबह उसका कालेज हुआ करता था, दोपहर में मेरा दफ्तर। एक शाम का ही वक्त था जिसमें हम अक्सर मिला करते थे लेकिन इधर वह कई शामों से गायब था। मेरे लिए हसीन का घर अपरिचित नहीं था, जमील भी मेरे लिए नया नहीं था। मैं जानता था कि वह हसीन का छोटा भाई है और उसी कालेज में पढ़ाता है। जब-जब मैं हसीन के यहां गप-शप-चाय या खाने पर होता, अक्सर जमील भी हुआ करता था—यहां तक कि उनके बाप भाईजान भी। वह इस मानी में अजीब घर था कि वहां पहुंचे किसी भी दोस्त या मेहमान से पूरा घर मिलता था और सभी लोग बातचीत में शरीक होते थे। मुझे भाईजान का अपने बीच होना कई बार खलता था क्योंकि उससे हमारी आजादी छिनती थी लेकिन जमील का होना मुझे अच्छा लगता था। दरअस्ल, मैं जमील को शुरू से पसंद करता था।

अब सोचता हूं तो लगता है कि जमील का पहले मुझसे न टकराना या हसीन के माध्यम से मिलना महज एक संयोग था वरना शायद मैं सीधे उसी का दोस्त होता। यह बात तब भी लगी थी जब मैं हसीन का अता-पता करने कई बार उसके घर गया था और जमील मुझे अकेले मिला था और फिर मैं धीरे-धीरे हसीन से कट गया था।

—हसीन भाई से आजकल शाम को मिलना मुश्किल है, मेरी दो-तीन बार की मायूसी के बाद जमील ने मुझे बताया था—दरअस्ल, वो और सईद महमूद उसी चक्कर में हैं।

—किस चक्कर में ?

—ताज्जुब है कि आपको पता नहीं। क्या आप नहीं जानते कि दोनों बाहर निकलने की जुगाड़ में हैं ?

—बाहर यानी ?

—बाहर यानी कहीं भी। मिडिल ईस्ट, लीबिया, अफ्रीका कहीं भी जहां जाब मिले, अच्छे पैसे मिलें। सईद महमूद की तो मजबूरी है। इस कालेज की मास्टरी में वह वैसे ही कंगाल है। चार-चार बेटियां सीने पर बैठी हुई हैं और बेटा पोलियो का शिकार है ·· हसीन भाई का ये है कि वे बेहतर जिंदगी चाहते हैं···

सईद महमूद तब भोपाल में था और उसी कालेज में अंग्रेजी पढ़ाता था। वह हम तीनों का दोस्त था लेकिन किसी के हाथ नहीं आता था क्योंकि हर वक्त वह जल्दी में होता था—एक ऐसी बेचैनी-भरी जल्दी जो उसे कहीं दो पल से ज्यादा टिकने नहीं देती थी। वह आता तो बैठता नहीं था। बैठता तो पर तोलने लगता था और सच तो यह है कि उसके आते ही यह धड़का लगा रहता था कि वह किसी भी पल चला जाएगा। हसीन और उसकी दोस्ती एक हद

तक पेशे की वजह से थी लेकिन मिजाज के लिहाज से वह मेरे ज्यादा नजदीक पड़ता था। फिर भी मुझे ताज्जुब नहीं हुआ क्योंकि दोनों एक ही मकसद के लिए इकट्ठे हुए थे, भले ही कारण अलग-अलग हों।

—क्यों, भग लिए ? कई दिनों के बाद जब हसीन पकड़ में आया तो मैंने उसे घर दबोचा। हसीन ने मुझे उसी अंदाज से देखा जिसमें उसकी छोटी-छोटी आंखें गोल होकर नोकीली हो जाती थीं और आक्रामक लगती थीं।

—कौन भाग रहा है ?

—तुम और कौन।

—मैं भाग नहीं रहा, जा रहा हूं।

—एक ही बात है।

—एक ही बात नहीं है, उसने जोर देकर कहा—भागने वाले पाकिस्तान में हैं और वे कभी लौटकर नहीं आएंगे।

—तुम कौन लौटकर आने वाले हो।

—क्यों, मैं क्या काले और हब्शियों के बीच मरने जा रहा हूं ?

—क्या पता।

—तुम जैसे दोस्त तो यही दुआ करेंगे। करो....

—मैदान तो छोड ही रहे हो।

—दो-चार साल के लिए घर से बाहर निकलना मैदान छोड़ना है, भागना है ? उसने बौखलाकर कहा—मैं अपने और अपने बच्चों के मुस्तकबिल के बारे में कुछ न सोचूं ? यहीं पड़ा सड़ता रहूं ? अपने आसपास लुच्चों, लफंगों, बदकारों और बदमाशों को पनपता हुआ देखता रहूं। रोज कुढूं......रोज लहू जलाऊं ?

—मुस्तकबिल और बच्चे तो मेरे भी हैं। मैंने कहा।

—तुम अगर कीचड़ में पड़े रहना चाहते हो तो कोई क्या कर सकता है, वह बोला—न तो तुम ऊपर उठ सकते हो और न उठना चाहते हो।

—पैसों के पीछे भागना ऊपर उठना है ?

—यह बीमारों निकम्मों और बुजदिलों की फिलासफी है, उसने चिल्लाकर कहा—इसे तुम अपने ही पास रहने दो।

और वह तेजी से चला गया।

नाइजीरिया जाने से पहले हसीन से यह मेरी आखिरी बातचीत थी। कम से कम इस सिलसिले में। उसके बाद हम मिले जरूर लेकिन हर मुलाकात सरसरी थी और हमारी बातों का कोई मतलब नहीं था। वैसे भी तब तक एक-दूसरे से हम लोग कट चुके थे। फिर एक दिन सुना कि वह चला गया—

मुझसे बिना मिले और मुझे कहीं गहरे चोट करता हुआ। गया सईद महमूद भी लेकिन उसका जाना एक उम्मीद पर लगायी हुई छलांग थी। वह बीवी के बचे-खुचे जेवर और मौरूसी जमीन बेचकर सऊदी अरब गया था जबकि हसीन को नाइजीरिया के किसी स्कूल में बाकायदा काम मिला था और उसके लिए हवाई जहाज का टिकट आया था।······

—और कुछ लाऊं? कनीज मुझसे कह रही थी—मेरे सामने खड़ी और रकाबी की ओर बढ़ती हुई। मैं जैसे चौंका।

—और क्या?

—कबाब या एकाध रोटी।

—बस, बस, मैंने कहा—अव्वल ही बहुत हो चुका। कायदे से मुझे खाना भी नहीं चाहिए था। दोपहर का खाना अक्सर मैं टालने की कोशिश करता हूं। खासकर बाहर। डाक्टर कहते हैं कि इसे नियम बना लो······

—और तुमने मान लिया? जमील ने मुस्कराकर टोका और मैं हंसने लगा। जमील जानता था कि दिल्ली के ये तीन-चार बरस मैंने डाक्टरों के पीछे कितनी एड़ियां रगड़ी हैं। अभी दिल्ली में पांव भी नहीं जमे थे कि मालूम हुआ मैं एक घातक बीमारी की चपेट में हूं। क्या करता? नफरत या उनके खिलाफ अपने बड़बोलेपन ने मेरी कोई मदद नहीं की और मैं अस्पताल पहुंचकर एक फाइल बन गया था—केस नं० सी-535। वे दोजख के दिन थे।

रकाबी उठाकर कनीज गयी नहीं। खड़ी रही फिर दो पल मुझे घूरकर पूछा—अभी पिछले दिनों तुम्हारा क्या सचमुच हार्ट-वार्ट का कुछ·······

मैंने चौंक कर देखा। हां, चोट लगी थी। क्या कनीज को खबर भी नहीं थी? मैं तो समझ रहा था कि इस घर में कभी मेरे लिए नीम-मातम का माहौल बना होगा और जब पहुंचूंगा तो मुझे ऐसे लिया जाएगा जैसे लगभग खोया हुआ आदमी अचानक बरामद हो गया हो।

—इसकी बुरी हालत हो गयी थी, जमील कनीज से कहने लगा—मैस्सिव हार्ट-अटैक था। कोई पचास घण्टे जिन्दगी और मौत के बीच झूलता रहा वो तो दिल्ली जैसी जगह थी, पेस-मेकर लगाकर बचा लिया वरना खुदा जाने क्या होता।

कनीज का चेहरा एक पल को सफेद हो गया—भय से। उसके बहनोई इसी से गए थे, बहन इसी से, ससुर इसी से और अब जेठ भी—जेठ यानी हसीन भाई। जाने से पहले वह सम्हलती हुई बोली···

—और सिगरेट पीना भर मत छोड़ना, अच्छा।

थोड़ी देर के बाद मेरी तिपाई के सामने चाय की ट्रे आ गयी। स्टूल खींचकर कनीज मेरे सामने बैठ गयी और चाय बनाने लगी। अंदर के कमरे में बाजी थीं लेकिन उनके वहां होने का आभास यहां से मुश्किल था। पहले तो खैर वह नमाज पढ़ रही थीं लेकिन इतनी देर में न तो वह बाहर आयी थीं और न मुझमें ही इतना साहस था कि उठकर मैं ही उनसे मिल लूं। मैं फिर से दीवारों को देखने लगा जिनपर कनीज की पेंटिंग्स लटकी हुई थीं—बरसों से उन्हीं जगहों पर और वैसी ही। लेकिन जैसे पहली बार ध्यान आया कि वे तुगरों के आसपास हैं। एक तुगरा था अल्लाह। दूसरा था मुहम्मद। उस दरवाजे के ऊपर, जो घर के भीतर खुलता था, कुरान की एक आयत थी—इनल्लाहे मुअस्साबेरीन यानी सब्र करने वालों के साथ खुदा है।

क्या मैंने सब्र किया था? चाय का आखिरी घूंट लेते हुए मैंने सोचा—क्यों मैंने उन मित्रों को माफ नहीं किया था जो अस्पताल में मुझे देखने या मुझसे मिलने नहीं आए थे और क्यों उन दुश्मनों के लिए भी मैं नर्म हो गया था जो मेरे पलंग के पास आकर खड़े हो गए थे?

—या अल्लाह। तभी अंदर से बाजी की गुहारती हुई आवाज आयी···

—रजा बे रब्बी···

कनीज ने बर्तनों को जरूरत से ज्यादा आवाज करते हुए समेटा और ट्रे में रखने लगीं—एक के बाद एक। फिर उठकर अंदर चली गयी।

—बाजी को कैसे सम्हाला था? कुछ पलों की चुप्पी के बाद मैंने पूछा।

—सब अपने आप सम्हल जाते हैं, वह बोला—जिस वक्त हसीनभाई की खबर नाइजीरिया से मिली थी, बाजी सख्त बीमार थीं। लगता था बचेंगी नहीं। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूं। डाक्टर से पूछा तो कहने लगा, पता नहीं ऐसी हालत में यह सदमा बरदाश्त भी कर पाती हैं या नहीं लेकिन उन्हें न बताना भी तो ज्यादती होगी। आखिर कब तक छिपाओगे? मैं दो दिनों तक सबसे लड़ता रहा कि उन्हें न बताया जाय। तुम तो जानते हो वे हसीनभाई को हम सबसे ज्यादा चाहती थीं। मेरा कहना था कि क्या यह मुमकिन नहीं कि उन्हें कभी पता ही न चले। झूठी चिट्ठियां मंगवायी जा सकती हैं या ऐसा ही कुछ। ज्यादा से ज्यादा उन्हें इतनी ही चोट तो लगती न कि लड़के ने आंखें फेर ली और नालायक निकल गया···लेकिन आखिर मुझे ही हारना पड़ा। फिर उन्हें बताया गया और अब सब कुछ तुम्हारे सामने है···

मैंने पूछ तो लिया लेकिन पूछने के साथ ही मुझे अपने सवाल के बेतुकेपन का

ध्यान आया। यह वही सवाल था जो हर मिलने वाला मुझसे भी पूछता था और मुझे झुंझलाहट होती थी। मैं कहने लगा—मेरा मतलब है कि इससे पहले कुछ····

—नहीं अभी कुछ नहीं। दो-एक दिन पहले अपनी तबीयत के ठीक न होने की शिकायत जरूर कर रहे थे। उस दिन वे रोज की तरह काम पर गए थे। भाभी से कह रखा था कि शाम को डाक्टर के पास चले चलेगें। शाम को वे तैयार भी हो गए थे लेकिन उसी वक्त उनका एक पाकिस्तानी दोस्त आ गया—एक वीडियो कैसेट के लिए और वे टी० वी० देखने लगे। शायद तुम नहीं जानते कि इधर उन्होंने हिन्दी फिल्मों के कैसेट्स और हिन्दुस्तानी संगीत के एल० पीज का कितना बड़ा जखीरा कर रखा था।

हां मैं नहीं जानता था। सात साल पहले जब हसीन यहां था तो वह हिन्दी फिल्मों से नफरत करता था और उसे हिन्दुस्तानी संगीत से कोई दिलचस्पी नहीं थी।

—अपने पाकिस्तानी दोस्त को ड्राइंग रूम में छोड़कर वे अंदर एक कैसेट लेने गए थे लेकिन कैसेट देखते देखते उन्हें बेचैनी हुई और वे लेट गए। बस, मुश्किल से दो मिनट लगे होंगे मैं समझ रहा था कि उनका कफन-दफन वहीं हो चुका होगा। हम लोग रो-धोकर चुप भी हो चुके थे। कोई दस-बारह दिनों के बाद जब भाभी और बच्चों को लेने मैं बम्बई पहुंचा तो मुझे गुमान भी नहीं था कि वे नाइजीरिया से हसीनभाई का ताबूत लेकर आयी हैं। फिर सबके जख्म खुले, फिर एक बार नये सिरे से मातम हुआ···

—और नसीब की संगदिली तो देखो, थोड़ी देर ठहरकर जमील कहने लगा—इसे तब होना था जब वे लौटने को ही थे। अभी छह महीने पहले जब वे यहां आए थे तो कहने लगे—बस कुछ दिनों की बात और है, इस कान्ट्रेक्ट के खत्म होने के बाद मैं हिन्दुस्तान लौट आऊंगा। कहने लगे—अब और वहां नहीं रहा जाता। कुछ भी कहो, अपना मुल्क फिर भी अपना मुल्क है··। उन्होंने यहां शमला हिल्स में अपनी पसंद का एक शानदार मकान बनवा लिया था। लौटने के बाद वे यहां क्या करेंगे यह तय हो चुका था और वे बहुत खुश थे। तब उन्होंने कभी नहीं सोचा होगा कि जिस घर की एक-एक ईंट उन्होंने इतने प्यार से रखवायी थी उसमें वे कभी नहीं रह पाएंगे। पिछली बार एक अजीब बात हुई थी। जब मैं उन्हें एयरपोर्ट छोड़ने गया था तो जिन्दगी में पहली बार एक हुमक-सी उठी थी। एकाएक जी-में आया था कि उन्हें बहुत जोर से भींच लूं, एकदम कलेजे से लगाकर, लेकिन फिर लगा कि यह कोरी जजबातियत होगी। हसीन भाई कौन हमेशा के लिए जा रहे हैं। और अपने को रोक कर मैंने वह

मौका हमेशा के लिए खो दिया। अब वही तकलीफ इतनी बड़ी कसक बन गयी है कि हर वक्त मुझे तंग करती रहती है। क्या तुमने कभी सोचा है कि हम अक्सर किसी जोम, किसी बौद्धिक गिरह या एक नामालूम-सी जिद के तहत ऐसे अवसरों को खोते रहते हैं जिनमें अक्सर वह आदमी छिपा होता है। हम उन्हें आगे के लिए मुल्तवी कर देते हैं—बिना यह जाने कि वे हमारी जिंदगी में फिर कभी नहीं आएंगे···

कनीज ने पान की तस्तरी मेरी तरफ बढ़ा दी। वह कब पानदान लेकर आ बैठी थी, मुझे पता नहीं था। मैंने चुपचाप पान ले लिया।

मैं जानता था कि जमील ने मुझे कहीं गहरे छू लिया है। लेकिन क्या वह सिर्फ छूना था, अपनी गिरफ्त में लेकर निचोड़ना नहीं? मैं सामने की दीवार की ओर देखने लगा जिस पर तुगरा लगा हुआ था—अल्लाह, अल्लाह, अल्लाह······

फिर तस्वीरें आयीं, हसीन की। हसीन भाई अपने ड्राईंगरूम में टी०वी० देखते हुए। हसीन भाई अपने बाग में तीनों छोटे बच्चों के साथ। हसीन भाई अपनी गाड़ी में स्टीयरिंग के सामने जबकि भाभी कार का दरवाजा पकड़े खड़ी हैं। मैंने वह तस्वीर उठा ली जो इधर हाल की थी—शायद यहीं की। उसमें सिर्फ हसीन था, सिर्फ उसका हंसता हुआ चेहरा। तस्वीर में वह बहुत तेजी से बुढ़ाता हुआ लगा और यह देखकर ताज्जुब हुआ कि उसके चेहरे पर सम्पन्नता की कोई छाप नहीं थी। उल्टे वह एक पेड़ की तरह सूख रहा था। वह पहले से कहीं ज्यादा गंजा हो गया था और उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी।

—यह तो यहीं की लगती है? मैंने कहा।

—हां, वे इसी जगह लेटे थे और मैंने तस्वीर ले ली थी। अभी पिछली बार।

—इसमें हजामत क्यों बढ़ी हुई है?

—इधर उन्होंने दाढ़ी रख ली थी। तुम उनसे कब मिले थे?

—तीन-चार साल पहले, यहीं पर। उस बार मैं दिल्ली से आया था तो इत्तफाक से वह यहीं था। बीच में एकाध बार वह अपने वीजा वगैरह के सिल-सिले में दिल्ली आया तो उसने खबर भेजी थी और मेरे घर भी पहुंचा था लेकिन मैं जाने कहां उलझा हुआ था कि वक्त पर नहीं पहुंच सका और वह बिना मिले चला गया।

मैं जमील से साफ झूठ बोल रहा था। सच तो यह है कि मैं हसीन से मिलना नहीं चाहता था और उसे जानबूझकर टाल गया था। शायद मैं उससे बचना चाहता था, पता नहीं क्यों। हालांकि अब मैं उसी की तस्वीर हाथ में लिए बड़ी

देर से देख रहा था और मुझे एक बेचैन करने वाली और नामालूम-सी तकलीफ हो रही थी।

—मालूम है जब मुझे दौरा पड़ा तो डाक्टरों ने क्या पूछा था ?

जमील मेरी ओर देखने लगा। कनीज वहां से जा चुकी थी और हम दोनों अकेले थे।

—कहने लगे बताइए, जिस दिन आपको यह तकलीफ हुई उस दिन या उसके दो-एक दिनों में क्या हुआ था। किसी तरह का तनाव, कोई सदमा, कोई ऐसी-वैसी खबर जिसने आपको डिस्टर्ब किया हो। मैंने कहा, नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं। यह ठीक है कि मेरठ में दंगे हो रहे थे लेकिन वहां मेरा कोई अजीज नहीं था। यह भी सही है कि पुरानी दिल्ली में तनाव था और कर्फ्यू लगा हुआ था लेकिन मैं तो नयी दिल्ली में रह रहा था। फिर मैंने कुछ सोचकर हसीन को बता दिया था, यह कहते हुए कि वह मेरा दोस्त जरूर था लेकिन इधर कई बरसों से हम दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर हो गए थे। अब लगता है कि पता नहीं उस बात में कहां तक सचाई थी। सच तो यह है कि सब कुछ के बावजूद हसीन एक साफ, ईमानदार और नेक आदमी था और मैं उसे बहुत प्यार करता था, बहुत···

और यह कहते-कहते मैंने देखा कि मेरा गला रुंध गया है, आंखें भर आयी हैं और मैं सचमुच रोने लगा हूं····

हां, सचमुच !

कामता नाथ

रिक्शावाला सामान दरवाजे पर रखकर चला गया। उसने होल्डाल वहीं बाहर चबूतरे पर पड़ा रहने दिया और बक्स लेकर जीना चढ़ने लगा। मां बाहर छत पर ही खरहरी चारपाई पर बैठी थीं। उन्होंने उसकी ओर देखा। पहचाना या नहीं, वह जान नहीं सका। वह इतना जानता है कि मां को अब बहुत कम दिखाई देता है। उसने बक्स वहीं फर्श पर रख दिया और झुककर मां के पैर छू लिये।

"आ गए" मां ने कहा।

"हां,", उसने कहा। एक क्षण रुका, फिर नीचे होल्डाल लेने चला आया।

होल्डाल लाकर उसे भी उसने वहीं छत पर पटक दिया और चारपाई पर बैठकर हांफने-सा लगा। होल्डाल खासी वजनी था। उसे लेकर सीढ़ी चढ़ने से वह थक-सा गया था।

सतीश, उसका छोटा भाई, अंदर कमरे से निकलकर आया और झुककर उसके पैर छुए। उसने कुछ कहा नहीं। बस, पैर समेटकर एक अन्यमनस्कता-सी व्यक्त की, जैसे उसे यह सब पसंद न हो। सतीश भी कुछ बोला नहीं। सीने पर हाथ बांधकर चुपचाप वहीं खड़ा हो गया।

उसने देखा, मां के चेहरे पर विचित्र-सी गंभीरता थी। तीन महीने उसे घर छोड़े हुए थे। परंतु इन्हीं तीन महीनों में जाने क्या हो गया था कि अपना ही घर उसे पराया लगने लगा था। उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर देखा—पाइप के पास वाली दीवार पर काई जमी थी। आंगन के जंगले के किनारे वाला सरिया टूटकर मगर के मुंह की तरह ऊपर उठ आया था। छत की मुंडेर की ईंटें अभी भी टूटी हुई थीं। कमरे की खिड़की का दरवाजा आधा टूटा हुआ था। पाइप के ऊपरवाली दुछत्ती में चैले भरे थे। हां, जीने के सामने बरोठे में एक कोने में लकड़ी के बुरादे का ढेर था, जो पहले नहीं था। कुछ विशेष तो नहीं बदला था, फिर

उसे अपना घर पराया क्यों लगने लगा था, वह सोचने लगा। शायद अधिक दिनों एक चीज को न देखने से ऐसा ही होता हो।

"नीचे किरायेदार हैं क्या ?" उसने मां से पूछा।

"आजकल घर गए हैं।"

"कौन हैं ?"

"कोई गुप्ता हैं !"

"कहां काम करते हैं ?"

"पी० डब्ल्यू० डी० में", छोटे भाई ने उत्तर दिया।

वह चुप हो गया।

कुछ देर सतीश वहीं खड़ा रहा। फिर अंदर कमरे में चला गया। एक क्षण बाद उसकी पत्नी सिर पर घूंघट डाले हुए कमरे से निकली और अपने को इस तरह बचाती हुई, जैसे कोई आग की लपट से बचता है, सामने रसोई में जाकर अंगीठी सुलगाने लगी।

उसने जूते खोल दिये और चारपाई पर पीछे खिसककर दीवार का सहारा ले लिया।

"संतू पकड़ गए," मां ने कहा।

"क्या हुआ ?" उसने पूछा। संतू उसके सबसे छोटे भाई का नाम था।

"कहीं से अफीम लाये थे," मां ने बहुत आहिस्ता से उसके निकट सरकते हुए कहा, "वही घर में बरामद हुई। पुलिस आयी थी। घर से पकड़कर ले गयी।"

"कहां रखी थी ?" उसने पूछा। वह संतू की आदतों से परिचित था।

"नीचे जीने वाली दुछत्ती में।"

"कब हुआ यह ?"

"कल रात में, दो बजे।"

"दो बजे !"

"हां, वह बनियों का लड़का है न, मुन्नन ! वही कहीं साइकिल-चोरी में पकड़ा गया था। उसी को लेकर पुलिस घर आयी थी।"

"सतीश नहीं थे घर में ?"

"थे", मां ने और धीमी आवाज में कहा, "उनका स्वभाव तुम जानते ही हो, घर से बाहर नहीं निकले।"

"सतीश !" उसने छोटे भाई को आवाज दी।

सतीश ने उसकी आवाज के उत्तर में कुछ कहा नहीं। चुपचाप बाहर चला आया।

"क्या हुआ था ?" उसने पूछा।

सतीश एक क्षण खामोश रहा। मां की ओर घूरकर देखा। फिर बोला, "हुआ क्या था! अफीम घर में लाकर रखी थी। वही बरामद हुई।"

"पुलिस को कैसे मालूम कहां रखी थी? तलाशी ली थी क्या?"

"मुन्नन को मालूम था। वही पुलिस लेकर आया था।"

"लेकिन मुन्नन तो संतू का दोस्त है। वह पुलिस लेकर क्यों आएगा?"

सतीश एक क्षण चुप रहा। फिर बोला, "साइकिल चुराने में कहीं पकड़ा गया था। पुलिस ने मारा-पीटा होगा। पूछा होगा कि और क्या करते हो तो बता दिया होगा।"

"तुम्हें ठीक से मालूम है, क्या हुआ था?"

"यही हुआ, जो बता रहा हूं। कोई आज से थोड़े यह धंधा हो रहा था!"

"कितनी अफीम थी?"

"रही होगी आधा सेर।"

"तो संतु कहां है?"

"जेल में।"

"पुलिस सीधे जेल में कैसे ले जाएगी? पहले मजिस्ट्रेट के यहां पेश करेगी।"

"पेश किया था।"

"तुम गए थे?"

"हां।"

"तो तुमने जमानत नहीं ली?"

"जेल के लिए रिमांड हो चुकी थी, जब मैं पहुंचा था।"

"कितने बजे गए थे तुम?"

"दो बजे?"

"दिन में?"

"हां।"

"रात में जब उसे पकड़कर ले गए तब तुम नहीं गए?"

"नहीं।"

"तो आज नहीं कोशिश की जमानत के लिए?"

"आज कोर्ट बंद है।"

"छुट्टी में भी तो एक मजिस्ट्रेट बैठता है।"

"मुझे नहीं मालूम।"

वह चुप हो गया। सतीश ने मुड़कर रसोई की ओर देखा। उसकी पत्नी चाय का कप लिये रसोई के द्वार पर खड़ी थी। कप उससे लेकर वह उसे देने लगा। उसने कप ले लिया। कहा, "अम्मा को भी दे दो।"

"दे रहे हैं," सतीश ने कहा और दूसरा कप लाकर मां को दे दिया। वह चाय पीने लगा।

होली की छुट्टियों में वह घर आया था। इससे पहले वह यहीं था। परंतु चार महीने पूर्व उसका ट्रांसफर पटना हो गया था। शुरू में वह अकेला ही गया, फिर एक महीने बाद जब उसे मकान मिल गया, तो पत्नी और बच्चों को भी ले गया। मां उस दिन बहुत रोयी थीं।

"इस घर को क्या होता जा रहा है," उन्होंने कहा था, "अभी तक तुम थे तो संतू जरा तुम्हारा लिहाज करते थे। अब तो उनको खुली छूट मिल जाएगी। सतीश को तुम जानते ही हो, किसी से कोई मतलब नहीं। पिंकी और गीता थे तो मेरा भी मन बहला रहता था। अब सारा दिन रोते बीता करेगा। कम्मन की वजह से मैं यहां फंसी हूं, नहीं तो मैं भी चली चलती तुम्हारे साथ।" और वह गीता और पिंकी को सीने से चिपटाकर रोने लगी थीं।

कम्मन उसका भानजा था। आठ वर्ष का। बहन की हैजे में मृत्यु हो गयी थी। तब कम्मन छह महीने का भी न था। मां ने ही उसे पाल-पोस इतना बड़ा किया था। वह शुरू से ही यहां रहा था और नानी को "अम्मा" कहा करता था। चौथे में पढ़ रहा था वह।

"कम्मन कहां है?" उसने पूछा।

"खेलने गया होगा कहीं," मां ने उत्तर दिया। तब तक कम्मन आ गया। "नमस्ते, बड़े मामा!" उसने कहा और इधर-उधर देखने लगा।

होली पर वह अकेला ही घर आया था। पत्नी बच्चों के साथ अपने मायके चली गयी थी। पहले उसी कमरे में वह रहा करता था, जिसमें सतीश रहता है। सतीश तब नीचे रहता था। उसके जाने के बाद नीचे का हिस्सा किराये पर उठा दिया गया। मां और कम्मन रसोई के बगल वाले कमरे में रहते हैं जिसे पूजा वाला कमरा कहा जाता है, क्योंकि उसमें लकड़ी का एक छोटा-सा मंदिर रखा है जिसमें भगवान की मूर्तियां रखी रहती हैं। मां रोज सबेरे उठकर पूजा करती हैं।

उसे ध्यान आया कि वह खाली हाथ घर आया है, कम से कम कम्मन के लिए उसे कुछ लेकर आना चाहिए था।

"पढ़ाई-वढ़ाई ठीक हो रही है?" उसने कम्मन से पूछा।

"जी", कम्मन ने कहा।

"मेरे लिए सिगरेट ला दोगे?"

"जी हां।"

उसने एक रुपये का नोट जेब से निकालकर उसे दिया । "एक पैकेट चारमीनार ले आओ । और बाकी पैसों का अपने लिए कुछ ले लेना ।"

"क्या ले लें ?"

"कुछ ले लेना । जलेबी ले लेना ।"

जलेबियां उसे बहुत पसंद थीं । जब यहां रहता था तो अकसर सुबह दही-जलेबी का नाश्ता करता था ।

कम्मन चला गया । वह सामान मां वाले कमरे में उठा लाया और तहमद निकालकर कपड़े बदलने लगा । उसके पीछे-पीछे मां भी चली आयीं ।

"मंदिर का क्या हो गया ?" कमरे में मंदिर न देखकर उसने पूछा ।

"शुक्लाइन के घर भिजवा दिया," मां ने कहा, "मेरी तबीयत ठीक नहीं रहती । सबेरे उठकर दो-एक दिन नहा लिया तो सर्दी लग गयी । सतीश की दुल्हिन से कहा था कि वह आरती कर दिया करे सो उन्होंने कह दिया उनसे नहीं होगा।"

वह चुप हो गया ।

"दरवाजे वाला कमरा भी किरायेदारों को दे दिया है क्या ?"

"नहीं । वह अपने कब्जे में है । संतू वहीं तो रहते थे ।"

कपड़े बदलकर वह चारपाई पर लेट गया । सामने दीवार पर पिता का चित्र लगा था । छह-सात वर्ष हुए उनका देहांत हुए । उसकी नौकरी तब लगी-लगी ही थी । सतीश उन दिनों ड्राफ्ट्समैन की ट्रेनिंग ले रहा था । संतू नवें में था । काफी कठिन दिन थे वे भी । पिता को रिटायर हुए चार-पांच वर्ष हो चुके थे । फंड का सारा पैसा बहन की शादी में निकल गया था । जैसे-तैसे उसने एम. ए. किया था । पिता ने किसी प्राइवेट फर्म में नौकरी कर ली थी । वह स्वयं पढ़ने के साथ साथ ट्यूशन करता था । तीन चार ट्यूशनें करता था एक साथ । उस पर भी घर का खर्च नहीं चलता था ।

मां ने बिस्तर लगा दिया था । वह लेट गया और लेटे लेटे कोई पत्रिका पढ़ने लगा जो उसने रास्ते में खरीदी थी । सफर की थकान उसे महसूस हो रही थी । एक बार उसके मन में आया कि मित्रों से मिल आए । उसने घड़ी देखी । साढ़े सात बजे थे । वह टाल गया । सुबह देखा जाएगा, उसने सोचा ।

"द्वारिका मर गए," मां ने कहा ।

"कब ?" उसने पूछा । द्वारिका बाबू मोहल्ले के सबसे पुराने बाशिंदे थे । उसके पिता के घनिष्ठ मित्रों में से थे । वह उनको चाचा कहा करता था ।

"एक महीना हुआ होगा," मां ने उत्तर दिया ।

"बीमार थे ?"

"दो-चार दिन बुखार आया होगा।"

उसके पिता की मृत्यु हो जाने के बाद भी द्वारिका बाबू होली पर हर वर्ष उसके घर आते रहे थे और मांगकर कुछ न कुछ खाते थे। पिता थे, तब तो हर वर्ष ठंडाई बनती थी। कभी कभी एक दो बोतलें शराब की भी खुल जाती थीं।

"होली का सामान बन गया ?" उसने पूछा।

मां ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"पापड़ बने हैं।" कम्मन ने कहा।

"गुझिया वगैरह नहीं बनी ?" उसने पूछा।

"सतीश कहते हैं, उनके पास पैसा नहीं है। खोया छह रुपया सेर बिक रहा है।"

वह चुप रहा।

"कम्मन !" सतीश ने अपने कमरे से आवाज दी, "बड़े मामा से पूछो खाना दे जाएं ?"

"ले आओ," उसने कहा।

कम्मन ने एक थाली में परांठे और आलू-बैंगन की सब्जी लाकर चारपाई पर रख दी। चारपाई पर खाने की उसकी पुरानी आदत है। खाना, पढ़ना, शेव—सभी वह चारपाई पर ही करता है।

मां ने गिलास में पानी लाकर नीचे फर्श पर रख दिया। उसने खाना शुरू किया।

"पिंकी साफ-साफ बोलने लगा अब ?" मां ने पूछा।

"अभी कहां ! तुम्हारे सामने जैसा बोलता था, वैसे ही है।"

"उन लोगों को भी लेते आते। चार महीने हो गए मुझे देखे।"

वह खाना खाता रहा। "कम्मन का इम्तिहान हो जाए तो तुम भी वहीं चली चलो। एक दो महीने रह आओ।" उसने कहा।

"देखो अभी तो दो ढाई महीने हैं। परांठा और लोगे ? दुल्हिन !" माँ ने सतीश की पत्नी को आवाज दी।

"नहीं नहीं, बस।" उसने कहा।

खाना खाकर उसने हाथ धोये और बिस्तर पर लेटकर सिगरेट पीने लगा। मां उठकर शायद खाना खाने चली गयीं।

वह लेटे-लेटे संतू के बारे में सोचने लगा। उसकी और संतू की उम्र में आठ वर्ष

का अंतर था। सतीश उससे पांच वर्ष छोटा था। संतू के बाद फिर मां के कोई संतान नहीं हुई। संतू छह महीने का था, तब मां को टाइफाइड हो गया था। साथ ही संतू को भी हुआ था। छह महीने तक रहा। तीन बार रिलैप्स हुआ था। दो एक बार तो ऐसा हुआ कि मां के प्राण अब निकले तब निकले, डॉक्टर लहरी का इलाज होता था। कई लोगों ने पिता को डॉक्टर बदलने की राय दी। परंतु उन्होंने उन्हीं का इलाज चलने दिया। आखिर उन्हीं के इलाज से फायदा भी हुआ। दोनों ठीक हो गए। मां और संतू। परंतु इसका असर यह हुआ कि संतू का स्वास्थ्य हमेशा के लिए बिगड़ गया। शुरू से ही वह दुबला-पतला था, सातवें में पढ़ता था तो फिर उसे भयंकर किस्म का टाइफाइड हुआ। तीन महीने रहा। ठीक होने के बाद डॉक्टरों की राय के अनुसार एक वर्ष के लिए उसका स्कूल जाना बंद करा दिया गया।

वही भूल हो गयी। एक वर्ष वह जी भरकर घूमा। संगत भी कुछ खराब हो गयी। पिता भी उन्हीं दिनों रिटायर हुए थे। वृद्ध भी हो चले थे। फिर आर्थिक कठिनाइयां भी थीं। वह कुछ देख सुन नहीं पाते थे। नतीजा यह हुआ कि अगले साल जब दुबारा संतू का स्कूल जाना शुरू कराया गया, तो उसका मन ही नहीं लगा पढ़ने में। अकसर स्कूल जाता ही नहीं। फीस लेकर खर्च कर डालता।

शुरू में तो पता नहीं चला। चार छह महीने बाद पता चला। कुछ मार-पीट हुई। मगर कोई अंतर न पड़ा।

वहीं से वह खराब रास्ते पर पड़ गया। वह उन दिनों एम. ए. में पढ़ रहा था। पिता ने उससे कहा कि वही उसे देखे। मगर वह लापरवाही कर गया। बाद में भी उसने संतू की ओर ध्यान नहीं दिया। नहीं तो कहीं-न-कहीं नौकरी ही लगवा देता। उसके कई मित्रों के पिता अच्छी जगहों पर काम करते थे। अब भी करते हैं। वह कह देता तो वे लोग उसे कहीं न कहीं छोटी-मोटी नौकरी पर लगवा सकते थे। परंतु उसने कभी उस ओर सोचा ही नहीं।

नतीजा यह हुआ कि शुरू में पतंग, गोली कंचा चला। फिर जुआ, बीड़ी-सिगरेट आदि। और अब यह अफीम और जेल।

मां खाना खाकर आ गयी थीं। पानदान खोलकर उन्होंने पान लगाया। एक उसे भी दिया।

"थक गए हो तो कम्मन से पैर दबवा लो।" मां ने कहा।

"नहीं, नहीं।"

मां थोड़ी देर चुप रहीं, फिर बोलीं, "संतू का क्या होगा? साल भर का त्योहार है बेटा, किसी तरह उसे छुड़ा लो।"

"कल कुछ करेंगे, देखो।" उसने कहा। मां चुप हो गयीं। फिर अपने आप बोलीं, "बड़ा नालायक निकला। आज तक खानदान में कोई जेल नहीं गया था। घर की सारी इज्जत मिट्टी में मिला दी।"

उसने कुछ कहा नहीं।

"कितने दिन की छुट्टी लाये हो ?" मां ने कुछ देर बाद पूछा।

"चार दिन।" उसने कहा।

"बत्ती बुझा दें ?" मां बिस्तर पर लेट गयी थीं।

"जलने दो अभी।" उसने कहा।

मां ने करवट बदल ली। वह पत्रिका पढ़ता रहा। परंतु अधिक देर जगा नहीं रह सका वह। उसने उठकर बत्ती बुझाई और आंखें बंद करके लेट गया।

सोने से पहले उसने सोचा कि सुबह उठकर खुर्शीद के घर जाएगा। खुर्शीद उसका सहपाठी था। उसके पिता ने कई वर्ष जेल की नौकरी की थी। खुर्शीद जेल वालों को जानता था। उसी के साथ, उसने सोचा, वह जेल जाकर संतू से मिलेगा। फिर देखेगा क्या हो सकता है।

सुबह वह कुछ देर से उठा, जैसी उसकी आदत थी। लेटे लेटे उसने कम्मन को आवाज दी।

कम्मन आकर उसकी चारपाई की बगल में खड़ा हो गया।

"अखबार आ गया ?" उसने पूछा।

कम्मन चला गया। शायद सतीश के कमरे में। लौटकर बोला, "अखबार नहीं आता अब।"

"अच्छा," वह चुप हो गया।

मां चाय ले आयी थीं। वह उठकर चाय पीने लगा।

"संतू को देखने जाओगे ?" मां ने पूछा।

"हां," उसने कहा।

"मैं भी चलूं ?"

"तुम क्या करोगी चलकर ?" उसने कहा। एक क्षण चुप रहा, फिर बोला, "देखो, आज जमानत का इंतजाम करूंगा कुछ।"

प्याला जमीन पर रखकर वह सिगरेट पीने लगा।

"कुछ रुपया हो तो दो-तीन रुपये का खोया मंगा लो।" मां ने कहा।

"अच्छा।"

उठकर उसने कोट की जेब से दस रुपये का नोट निकालकर मां को दे दिया।

"तुम्हीं कह दो सतीश से। मेरे कहने से वह नहीं जायेंगे।"

उसने सतीश को आवाज दी। सतीश आ गया।

"लो, यह रुपये लो। कुछ खोया वगैरह ले आओ।"

"खोया आ गया है," सतीश ने कहा।

"आ गया है ?"

"हां, कल ले आया हूं मैं।"

उसने मां की ओर कुछ संदेहात्मक दृष्टि से देखा।

"मुझको क्या मालूम ? मुझे कोई कुछ बताता है !" मां ने अपनी सफाई दी।

"इसमें बताने न बताने की क्या बात है ?" सतीश ने कहा।

मां ने कुछ कहा जो वह सुन नहीं सका।

वह बाहर आकर लैट्रिन जाने के लिए डोंगे में पानी लेने लगा। रुपये वह वहीं चारपाई पर छोड़ आया था।

हाथ-मुंह धोकर वह खुर्शीद के यहां जाने की तैयारी करने लगा।

"साइकिल है ?" उसने सतीश से पूछा।

"नहीं।"

"क्या हो गयी ?"

"संतू कहीं ले गए थे, लौटाकर नहीं लाये।"

"लौटाकर नहीं लाए ? क्या किया ?"

"क्या मालूम क्या किया ! बेच दी होगी। नहीं तो कहीं गिरवी रख दी होगी।"

वह चुप हो गया। कपड़े पहनकर पैदल ही घर से निकल गया। खुर्शीद जेल के दो एक अधिकारियों को जानता था। उसी के साथ वह जेल पहुंचा। जेलर ने संतू को वहीं अपने कमरे में बुलवा लिया। संतू आकर चुपचाप खड़ा हो गया। उसने देखा, संतू के कपड़े बहुत मैले थे। बाल रूखे थे। चेहरे पर बढ़ी हुई दाढ़ी थी।

"बैठ जाओ," जेलर ने उससे कहा तो वह कमरे में एक ओर पड़े लकड़ी के एक बक्स पर बैठ गया। वह भी वहीं जाकर उसी बक्स पर बैठ गया। खुर्शीद ने संतू की ओर देखा। फिर सिगरेट जलाकर जेलर से बातें करने लगा।

"क्या हुआ था ?" उसने संतू से पूछा।

"कुछ नहीं।"

"कुछ हुआ ही नहीं ? यों ही तुमको पकड़ लिया ?"

"मुझको नहीं मालूम।"

"अफीम नहीं निकली थी घर से ?"

"अफीम ! नहीं तो। कब निकली थी ?"

"फिर ? पुलिस से तुम्हारी कोई दुश्मनी है ?"

"मुझको नहीं मालूम।" वह चुप हो गया।

संतू की आदत है, वह ऐसे ही बात करता है। वह चुप हो गया और थैले का सामान निकालकर उसे देने लगा। डबलरोटी, मक्खन और दाल-मोठ वगैरह थी। दो पैकेट सिगरेट भी थी। वह जानता था, संतू सिगरेट पीता है हालांकि उसके सामने कभी नहीं पी।

खुर्शीद भी उठकर वहीं आ गया। "क्यों भइया, क्यों यह सब काम करते हो ? खुद परेशान होते हो और घरवालों को भी परेशान करते हो।"

संतू ने उसकी ओर देखा। बोला कुछ नहीं। जैसे जताना चाह रहा हो, "आप से क्या मतलब है ?"

"सतीश की साइकिल क्या की ?" उसने पूछा।

"मिल जाएगी।"

"है कहां ?"

"एक दोस्त के घर पर है।"

थोड़ी देर बाद वह खुर्शीद के साथ वापस चला आया। सारी दोपहर उसे वकील और कचहरी करते बीती। बड़ी कठिनाई से चार बजे के करीब जमानत मंजूर हुई। खासा खर्च भी हुआ। उसके पास अधिक रुपये नहीं थे। खुर्शीद के जरिये एक महाजन से सौ रुपये उसने सूद पर उधार लिये थे। पच्चीस वकील को दिये। चार पांच दर्खास्त वगैरह देने में लग गये। पांच पेशकार को दिये। तब उसने दस्ती रिलीज आर्डर बनाकर दिया। पांच बजे से पहले ही आर्डर पहुंच जाना चाहिए वरना रिहाई नहीं होती। खुर्शीद उसके साथ रहा। उसी की जान-पहचान के कारण पांच बजे के बाद जेल पहुंचने के बावजूद रिहाई हो गयी।

खुर्शीद जेल से ही लौट गया। वह संतू के साथ घर आया। रास्ते में उसने संतू से कोई बात नहीं की। संतू के चेहरे से कदापि ऐसा नहीं लगा, जैसे उसे कुछ पश्चाताप हो।

सात बजने के करीब वह घर पहुंचा। जीना चढ़कर ऊपर पहुंचते ही कम्मन ने जोर से कहा, "अम्मा, संतू मामा आ गये।"

मां शायद अपने कमरे में थीं। उठकर बाहर आ गयीं। किसी ने किसी से कोई बात नहीं की। मां चारपाई पर बैठ गयीं। उसी पर वह भी बैठ गया। संतू दूसरी चारपाई पर बैठ गया। सतीश शायद अपने कमरे में था। वह बाहर नहीं निकला। उसकी पत्नी अंदर रसोई में कुछ कर रही थी।

मां उसकी पीठ पर हाथ फिराने लगी। "कम्मन, जाओ, बड़े मामा के लिए कुछ खाने को ले आओ। सुबह से कुछ खाया-पिया नहीं बेटे ने।" मां ने कहा।

फिर संतू से बोलीं, "भइया, कुछ खयाल करो घर-खानदान का। आज यह न होता तो कौन छुड़ाता तुमको ?"

संतू ने कुछ कहा नहीं।

"गुझिया ले आएं ?" कम्मन ने मां से पूछा।

"नहीं, चाय बनवा दो जरा।" उसने कहा।

"जाओ, मामी से कहो, चाय बना दें।" मां ने कम्मन से कहा।

फिर उससे पूछा, "कुछ खाया पिया था दिन में ?" वह अब भी उसकी पीठ पर हाथ रखे थीं।

"हां," उसने उत्तर दिया।

चाय पीकर वह बाहर चला गया। राजीव शायद देहरादून से आया हो, उसने सोचा। राजीव उसका बचपन का दोस्त था। आयल एण्ड नेचुरल गैस कमीशन में साइंटिफिक असिस्टेंट था। आजकल देहरादून में पोस्टेड था। होली पर हर वर्ष वह घर आता है। उसके मकान से दूर नहीं है।

उसने जाकर राजीव को आवाज दी। राजीव बाहर आया। शायद कहीं बाहर जा रहा था। उसने कमरा खोला।

कुछ औपचारिक-सी बातें हुई। तभी यकायक राजीव ने पूछा, "संतू के बारे में.........क्या सच बात है ?"

"हां" उसने कहा।

"जमानत-वमानत नहीं हुई ?"

"हो गयी।"

राजीव फिर खामोश हो गया। उसने फिर घड़ी देखी।

"कहीं जा रहे हो क्या ?" उसने पूछा।

"हां, जरा भाभी के साथ पिक्चर जाने का प्रोग्राम था।"

उसने भी घड़ी देखी। नौ बजे थे।

"जाओ फिर। तुम्हें देर हो रही है।" वह खड़ा हो गया।

राजीव भी खड़ा हो गया।

"सुबह आऊंगा। घर पर ही रहोगे ?"

"हां-हां।"

वह बाहर सड़क पर आ गया। चौराहे पर उसने भोला की दूकान से सिगरेट ली।

"नमस्ते, भइया ! कब आये ?" भोला ने पूछा। यहां था तो रोज आफिस जाते समय वह साइकिल रोककर भोला की दूकान पर पान खाता था।

"कल", उसने कहा और सिगरेट जलाने के लिए टीन के डिब्बे से कागज का टुकड़ा उठाने लगा।

"माचिस लो, भइया !" भोला ने उसकी ओर माचिस बढ़ा दी।

वह सिगरेट जलाने लगा।

"संतू भइया की जमानत हो गयी ?" भोला ने पूछा।

"हां" उसने माचिस दुकान के तख्ते पर रख दी और अपने मकान की ओर चल दिया।

घर आ रहा था तो उसने देखा, होली पर लकड़ियों का ढेर लगा था। दो-चार बच्चे शीशियों में रंग भरे खेल रहे थे। एक ने उसके कपड़ों पर छोड़ भी दिया था। परंतु यह तो होली जलने के तीन चार दिन पहले से होने लगता है। जिस दिन होली जलती है, उस दिन तो खासा रंग चलता है पहले। लेकिन अब तो सभी त्योहार बदल से गए हैं। रस्म निभाने की बात रह गयी है।

"क्या आज होली जलेगी ?" घर आकर उसने मां से पूछा।

"हां।"

"हमारी पिचकारी देखोगे, बड़े मामा ?" कम्मन उसे पिचकारी दिखाने लगा। टीन की सस्ती सी पिचकारी थी। "प्लास्टिक वाली भी है।" उसने प्लास्टिक की एक जूतेनुमा बनी पिचकारी भी उसे दिखायी।

"हां, यह तो बढ़िया है।" वह उसे हाथ में लेकर देखने लगा।

"यह कह रहे थे, वह बोतल में लगाने वाला फव्वारा लेंगे।" मां ने कहा। "मगर सुना वह बहुत महंगा आता है।"

"ढाई रुपये का आता है," कम्मन ने कहा।

"अच्छा देखो, कल ले देंगे तुमको," उसने कहा।

"खाना खाओगे ?" मां ने पूछा।

"हां, लाओ," उसने कहा और कपड़े बदलने लगा।

खाना खाकर वह लेटने गया। "होली तापने जाओगे ?" मां ने पूछा।

"कितने बजे जलेगी ?"

"सुनते हैं चार बजे आग लगेगी।"

"हम नहीं जाएंगे," उसने कहा, "संतू कहां गए ?"

"बाहर वाले कमरे में नहीं हैं ?"

"बत्ती तो नहीं जल रही थी वहां।"

"तो कहीं निकल गए होंगे। इतना समझाया लेकिन उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता। अपने साथ ही लेते जाओ इनको, वहीं कहीं कोई नौकरी लगवा

दो। शायद सुधर जाए।"

उसने कुछ कहा नहीं। चुपचाप लेटा रहा।

दूर कहीं लोग फाग गा रहे थे। ढोलक मंजीरे के साथ गाने के कुछ अस्पष्ट-से स्वर देर तक उसके कानों में पड़ते रहे।

सुबह वह कोई नौ बजे सोकर उठा। मां ने चाय लाकर दी। उसने सिगरेट सुलगा ली और चाय पीने लगा।

कम्मन नीचे से रंग खेलकर आया तो ऊपर से नीचे तक रंग से सरोबोर था। थर-थर कांप रहा था। परंतु बाल्टी में रंग घोले जा रहा था। मुंह पर किसी ने कालिख लगा दी थी।

छोटा भाई छत पर खड़ा उससे हंसी कर रहा था। "अम्मा के ऊपर भी डाल दो थोड़ा-सा रंग।" वह कह रहा था।

"डाल दें, अम्मा ?" कम्मन ने पिचकारी भरते हुए पूछा।

"मुझ बूढ़ी के ऊपर क्या डालोगे," मां ने कहा, "जाओ, बड़े मामा के ऊपर डाल आओ।"

कम्मन ने मुड़कर उसके कमरे की ओर देखा। वह चाय पीकर प्याला नीचे रख रहा था। उसने कुछ कहा नहीं। कम्मन चुपचाप बाल्टी लेकर नीचे चला गया।

छोटे भाई की पत्नी रसोई में कचौड़ियां तल रही थी। दूसरे चूल्हे पर गोश्त पक रहा था, खुशबू से उसने अनुमान लगाया। कमरा रसोई के बगल में होने के कारण उसमें धुआं भर रहा था। वह उठकर छोटे भाई वाले कमरे में आ गया और बालकनी पर खड़े होकर नीचे गली में देखने लगा।

कम्मन बाल्टी लेकर गली के नुक्कड़ पर खड़ा था। गली में कुछ बच्चे एक दूसरे पर रंग डाल रहे थे। नीचे पाइप पर पुत्तन सुनार महरिन से ठिठोली कर रहा था।

"तुम्हारे किसी ने रंग नहीं डाला ?"

"तुम डाल देव न !"

"सबके सामने कैसे डाल दें ?"

तभी गली में रंग खेलने वालों की एक टोली ने प्रवेश किया। वह उनमें से कुछ लोगों को जानता था। इससे पहले कि वे वहां तक पहुंचें, वह बालकनी से हटकर कमरे में आ गया और बिस्तर पर लेटकर कम्मन की एक किताब उठाकर पढ़ने लगा।

किताब इतिहास की थी। वह पढ़ने लगा : "एक समय भारत बड़ा धनी देश था। उसे सोने की चिड़िया कहते थे···"

रंग खेलने वाले लोग नीचे गली में खासा शोर कर रहे थे। वे लोगों को मकानों से बुला रहे थे। कुछ लोग शायद भंग पिये हुए थे और जोर-जोर से हंस रहे थे। उसने सोचा, शायद उसे भी वे लोग बुलाएं। पर वे आगे बढ़ गए।

उसे यह सब कभी अच्छा नहीं लगा। जब से उसने होश संभाला, कभी इस तरह रंग नहीं खेला। जाने क्यों, उसे इस तरह रंग खेलना कुछ अजीब फूहड़पन-सा लगता है।

"कोई आया नहीं ?" उसने मां से पूछा।

हर वर्ष उसके यहां कुछ लोग होली पर आते हैं– जीवन मामा, चौथे साहब, पानदरीबा वाले मौसिया, बच्चू दादा आदि।

"अभी तो कोई आया नहीं," मां ने कहा, "कुछ खाओ तो ले आऊं।"

"नहीं," उसने उत्तर दिया।

तभी राजीवन ने उसे आवाज दी। वह उठकर बालकनी पर आ गया।

"क्या कर रहे हो ? निकलो बाहर !" राजीवन ने कहा।

जाना ही पड़ेगा, वह जानता था। उसने कपड़े बदले (होली के लिए एक पुरानी पैंट और कमीज वह साथ लाया था) और नीचे उतर आया। कमरा खोला। राजीव ने उसके गुलाल आदि लगा दिया। उसने भी उसी से गुलाल लेकर उसके माथे पर लगा दिया। छोटा भाई एक थाली में पापड़, गुझिया आदि दे गया।

"चलो, निकलोगे नहीं बाहर ?" राजीव ने पीक थूककर पापड़ मुंह में रखते हुए कहा।

"पी आये हो क्या कहीं से ?" उसने कहा, "चलो, चलें।"

"कहां चलोगे ?"

"यहां से तो निकलो।"

वह उठकर ऊपर आया। मां से बोला, "अभी आते हैं थोड़ी देर में।"

"उधर से ही मंझली चाची, बाबू और रमेश के यहां भी हो आना।" मां ने कहा।

"अच्छा।" वह नीचे उतर आया।

गली से बाहर निकल रहा था तो नुक्कड़ पर खड़े लड़कों ने उसे घेर लिया और उस पर रंग डालने लगे। वह रुक गया। "बस बस !" उसने घड़ी को पानी से भीगने से बचाने के लिए उसके ऊपर रूमाल बांध लिया।

"पियो तो थोड़ी सी ले लो चलकर।" राजीवन ने कहा।

"कहां ?"

"मेरे यहां। एक हाफ लाया था मैं। थोड़ी पी, बाकी रखी है।"

वह चला गया। राजीव ने अलमारी से बोतल निकाली। ऊपर से गिलास और एक प्लेट में भुना हुआ गोश्त ले आया।

थोड़ी देर वहीं बैठकर उन लोगों ने थोड़ी-थोड़ी पी। उसने सुबह मंजन भी नहीं किया था, वैसे ही पानी से कुल्ला कर लिया। उसे हलका हलका नशा चढ़ने लगा।

इसके बाद वे बाहर निकल आए। वैसे ही मोहल्ले में इधर-उधर निरुद्देश्य घूमते रहे। परिचितों और मित्रों से होली मिलते रहे।

"मुझे जरा लालबाग जाना था। चलोगे ?" कोई एक घंटे के बाद राजीव ने कहा।

"किसलिए ?"

"एक रिश्ते की भाभी हैं, उन्हीं के यहां जाना है। पीने को मिलेगी वहां।"

"तुम हो आओ।" उसने कहा।

राजीव चला गया तो वह अकेला रह गया। पान की दुकान से उसने सिगरेट लेकर पी और एक क्षण खड़ा सोचता रहा कि क्या करे। तभी उसे ध्यान आया मां ने दो-चार जगह जाने के लिए कहा था।

पहले वह मंझली चाची के यहां गया। मंझली चाची विधवा थीं। काफी दिन हुए चाचा की टी. बी. में मृत्यु हो गयी थी! संतान कोई नहीं थी। मकान खासा बड़ा था। उसी में चाची की एक छोटी बहन भी रहती थी। वह भी विधवा थी परंतु उसके एक लड़की थी, जिसका विवाह हो चुका था। लड़की-दामाद भी उसी घर में रहते थे।

उसने घर में प्रवेश किया तो आंगन में खासा हुड़दंग मचा था। छोटी चाची की लड़की के अतिरिक्त दो-एक और लड़कियां और कुछ नवयुवक आंगन में रंग खेल रहे थे। किसी ने उसके आने पर ध्यान नहीं दिया।

वह एक क्षण वहीं द्वार पर खड़ा रहा। फिर आगे दालान में बढ़ गया। बगल वाले कमरे में चाची एक खटोले पर बैठी थीं। उसने चाची के पांव छुए और वहीं बैठ गया।

"कौन है ?" चाची ने अपने मोटे चश्मे से उसकी ओर निहारा।

"मैं हूं—विपिन।" वह जानता था कि चाची को साफ दिखायी देता है। यह केवल उनकी आदत है।

"विपिन! बैठो, भइया।"

वह पहले ही बैठ चुका था।

"होली पर आ जाते हो तो देख लेती हूं, नहीं तो मुझको क्या मालूम मेरे भी कोई है।" चाची ने कहा।

"मेरा ट्रांसफर हो गया न !" उसने उनकी बात में छिपे कटाक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया।

"कहां ?"

"पटना।"

"कब हुआ ?"

"कई महीने हो गए।" उसे अच्छी तरह याद था कि पटना जाने से पहले वह उनसे मिलने आया था और अपने ट्रांसफर के बारे में उन्हें बताया भी था।

चाची कुछ देर चुप रहीं। फिर अपने आप बोलीं, "मैं तो तंग आ गयी इस घर से। सबेरे से हुड़दंग मचा रखा है इन लड़किनियों ने। अरे छोटी, सकुन, सबिता ! कोई नहीं सुनता।"

"क्या है ?" किसी ने कहा।

"अरे, तश्तरी में कुछ दे जाओ। विपिन आए हैं।"

"कौन विपिन ?" छोटी चाची ने रसोई से पूछा।

"अरे, फत्ते के लड़का।"

"अच्छा। आती हूं।"

आंगन अब भी लड़कियों की खिलखिलाहट से गूंज रहा था।

"कौन लोग हैं ये ?" उसने पूछा।

"छोटी की लड़किनी की सहेली हैं सबे। मेरी तो नाक में दम हो गया है। अरे, मैं कहती हूं अब बस भी करो।" वह कुछ हंसी, फिर बोलीं, "देवर आया है होली खेलने ! वहीं सबे जुटी हैं।"

"अच्छा। और लोग भी तो है," उसने कहा।

"उसी के दोस्त-वोस्त हैं।"

तब तक छोटी चाची कुछ खाने-पीने का सामान ले आयीं। "अरे, यह तो बहुत है।" उसने कहा।

"भाई, थोड़ा निकाल लो, ज्यादा हो तो। मुझको तो कुछ दिखाई नहीं देता।" चाची ने कहा। तब तक छोटी चाची का दामाद रामप्रसाद आ गया। रीजनल ट्रांसपोर्ट में काम करता था वह। खासी आमदनी होती थी। उसके साथ उसके दो-एक मित्र भी थे।

"अरे विपिन बाबू ! आओ भई, आओ। कब आए पटना से ?" वह उसे अपने कमरे में बुला ले गया। उसके मित्र भी वहीं बैठ गये। रामप्रकाश छोटे-छोटे गिलासों में शराब उंड़ेलने लगा। देसी शराब थी।

"मेरे लिए न दीजिएगा," उसने कहा।

"क्यों ? पीते नहीं हो क्या ?"

"वैसे ही कभी पी ली तो पी ली।"

"कभी कभी के लिए ही तो है।" उसने उसके गिलास में भी उंड़ेल दी। उसने आगे इनकार नहीं किया।

"संतू का सब ठीक हो गया न ?" रामप्रकाश ने पूछा।

"अभी तो नहीं।"

"अरे, सब ठीक हो जाएगा। इसमें कुछ है नहीं। बिशनसिंह से मैं कह दूंगा।"

"कौन बिशनसिंह ?"

"डी. वाई. एस. पी. सिटी। मेरे यहां तो आते रहते हैं। संतू अभी मिले थे। मैंने उनसे कहा है, मुझको दो-एक दिन में याद दिला दें।"

वह चुप रहा। आंगन में शोर कम हो गया था। वह थोड़ी देर और बैठा, फिर उठकर खड़ा हो गया।

"अच्छा, अब चलूं।" उसने कहा।

"चलोगे ? अच्छा।" रामप्रकाश उसे बाहर तक छोड़ने आया।

आंगन में रंग खेलना बंद हो गया था और एक दूसरे के मुंह में चमकीले सुनहले पाउडर लगाए जा रहे थे।

"अरे भाई, इनके ऊपर भी रंग डाल दो जरा।" रामप्रकाश ने लड़कियों से कहा।

"आप तो, जीजाजी, वहां कमरे में जाकर छिप गये !" किसी लड़की ने कहा।

"छिपा नहीं हूं। तुम्हारे साथ रंग खेलने की तैयारी कर रहा हूं।"

वह चाची के पास आ गया। "चलता हूं चाची !" उसने कहा।

"अच्छा, भइया। पान ले लिया ?"

"हां," उसने कहा।

"ये संतू के बारे में सुनने में आया कि जेल हो गयी।"

"हां।"

"छूट गए ?"

"अभी नहीं।"

"जेल में ही हैं ?"

"नहीं, अभी जमानत हो गयी है। अच्छा नमस्ते, चाची !"

वहां से वह बाबू दादा के यहां आ गया। बाबू दादा उसके चचाजाद भाई थे। उससे आयु में काफी बड़े थे, बल्कि उसे गोद में खिलाया था। उनकी शिक्षा-

दीक्षा उसी के घर उसके पिता की देख-रेख में हुई थी। विवाह भी। परंतु विवाह के चार पांच वर्ष पश्चात वह अपने परिवार को लेकर अलग हो गए थे। कुछ दिनों दोनों घरों में आना जाना भी बंद रहा था। काम-काज में एक घर से दूसरे घर में निमंत्रण आता, परंतु शामिल कोई न होता। आखिर काफी दिनों बाद धीरे-धीरे फिर आना-जाना शुरू हो गया।

शुरू में बाबू दादा बड़े गुस्सेवर मिजाज के थे। उनका सारा घर, पत्नी, बच्चे —सब उनके आगे थर-थर कांपते थे। परंतु अब वह काफी नर्म पड़ गए हैं।

"आओ, आओ!" बाबू दादा ने उससे कहा और उसे कुर्सी पर बिठा कर खुद तख्त पर बैठ गए।

काफी देर उससे इधर-उधर की बातें करते रहे। पटना शहर के बारे में। अपने आफिस के बारे में। अपने और उसके बाबा के बारे में। इस बीच उसे सिगरेट भी पेश की।

उसने आज तक उनके सामने सिगरेट नहीं पी थी। अतः उसने इनकार कर दिया।

"पियो, पियो। अब तुम बड़े हो गए हो। नौकरी करते हो। यह सब कब तक चलेगा?" उन्होंने कहा।

उसने सिगरेट जला ली।

उनके कमरे में घर के और किसी व्यक्ति को आने की अनुमति नहीं थी। अतः घर के बच्चे उसे वहां बैठा देखकर द्वार से ही नमस्ते करके चले गये।

"शराब पियोगे?" उन्होंने पूछा।

"नहीं—नहीं।"

"पीते हो?"

"जी नहीं।" उसने सोचा, कहीं उसके मुंह से बू तो नहीं आ रही है।

"पीते हो तो दूं थोड़ी। न पीते हो तो मत पियो।" उन्होंने कहा और अपनी लड़की को आवाज दी, "रेखा, चाचा को अंदर ले जाओ। नाश्ता-वाश्ता कराओ।"

"मैं चला जाता हूं।" वह उठकर खड़ा हो गया।

"आओ लालाजी, तुम तो दिखाई ही नहीं देते," उसके अंदर घुसते ही भाभी ने कहा।

"कैसी तबीयत है आपकी?" उसने पूछा। भाभी प्रायः बीमार रहती हैं। उनके हाथ पैर में सूजन आ जाती है। दिल धड़कने की भी बीमारी है।

"आज उठी हूं थोड़ी देर के लिए। त्योहार में न उठा जाए तो भी काम

नहीं बनता। मगर देखो, जरा सा काम किया है, पांव फूल आए। वह धोती उठाकर पांव दिखाने लगी।

वह चारपाई पर बैठ गया।

"मुन्ना !" भाभी ने लड़के को आवाज दी, "ला बेटा, जरा लोटे में रंग घोल ला। लालाजी से होली तो खेल लूं। हालांकि नहा चुकी हूं मैं।"

"नहीं-नहीं, रहने दीजिए। ऐसे ही अबीर लगा देता हूं," उसने थोड़ा सा अबीर जेब से निकालकर भाभी के माथे पर लगा दिया।

भाभी ने हाथ में अबीर लेकर उसके सारे मुंह में और बालों में भर दिया। वह चुपचाप खड़ा रहा।

तब तक रेखा थाली में गुझिया पापड़ आदि ले आयी।

"सराब पिये हैं चाचा।" उसने कहा।

"अच्छा," उसने कहा, "तुमको कैसे पता ?"

"बाबू पूछ नहीं रहे थे ?"

"चल, भाग यहां से !" भाभी ने उसे डांटा।

"किस दर्जे में है यह ?" उसने पूछा।

"तीसरे में नाम लिखाया है इस साल।" भाभी ने उत्तर दिया।

वह गुझिया खाता रहा।

"एक पूड़ी ले आएं, लालाजी !"

"नहीं–नहीं, भाभी !"

"एक ठो, बस।"

"नहीं, फिर कभी खायेंगे। बहुत पेट भरा है।"

"अच्छा, यह गुझिया सब खा डालो।" भाभी पान लगाने लगी।

"जब हमारी शादी हुई थी तो तुम अपने दादा के साथ रंग खेलने आए थे," भाभी ने कहा, "चार बरस के रहे होंगे। जरा सी पिचकारी लिये थे। तुमको याद नहीं होगा। मैंने तुम्हारे ऊपर रंग डाल दिया था तो तुम रोने लगे थे— ई ई.। चुप कराएं, चुप ही न हो। फिर हमारे बाबूजी ने तुमको पांच रुपये का नोट दिया तो तुम चुप हुए। गुझिया तुमको खाने को दी तो तुमने जेब में भर ली थी। याद नहीं होगा तुमको।"

वह हंसने लगा। "याद कहां होगा !" उसने कहा।

हर वर्ष होली पर भाभी उसे इस बात की याद दिलाती हैं। और वह ऐसे सुनता है जैसे पहली बार सुन रहा है।

चलने लगा तो भाभी ने पूछा, "छोटे लाला और संतू लाला नहीं आए ?"

"घूम रहे होंगे इधर–उधर।"

"संतू लाला की कहीं नौकरी लगी ?"

"नौकरी क्या लगेगी उनकी ! अभी कल तो जेल से छूटकर आए हैं।"

"जेल से ?"

"हां, आपने नहीं सुना ? पता नहीं कहां से अफीम-वफीम ले आए थे। वहीं पुलिस पकड़ ले गयी थी।"

"तो अब मुकदमा चलेगा ?"

"हां, चलेगा ही।"

"राम–राम ! यह संतू लाला को क्या हो गया ?"

"दिमाग की खराबी। और क्या कहा जाए ?"

भाभी उसको छोड़ने दहलीज तक आ गयीं। दादा कमरे में अकेले बैठे थे।

"सुना," भाभी ने कहा, "संतू लाला पकड़ गए थे। कल जेल से छूट कर आए हैं।"

"क्या हुआ ?" दादा उठकर खड़े हो गये।

उसने संक्षेप में सारी बात बतायी।

दादा कहने लगे, "आजकल के लड़कों की समझ में ही कुछ नहीं आता। हमारे भी तो साहबजादे हैं। इनको भी किसी दिन जेल होगी।"

मुन्ना वहीं खड़ा था। उसने उनकी ओर देखा। "अच्छा, चलें, दादा !" उसने कहा। उसे देर हो रही थी।

"चाची तो अच्छी तरह हैं ?"

"हां।"

"देखो शायद शाम तक मैं आऊंगा।"

"अच्छी बात। अच्छा, नमस्ते, दादा ! नमस्ते, भाभी !"

वह चला आया।

कोई पौने दो बजने वाले थे। रंग चलना लगभग बंद हो गया था। हां, सड़कें अभी तक भीगी थीं। मकानों की दीवारों पर, दुकानों पर, साइनबोर्डों पर हर जगह रंग खेले जाने के निशान थे। यहां तक कि गायों और कुत्तों के ऊपर भी रंग पड़ा था। कुछ लोगों ने सिनेमा के पोस्टरों के साथ भी रंग खेला था।

रमेश के यहां जाए या न जाए, वह सोच रहा था। मां ने कहा था, अतः उसने सोचा, दो मिनट में निपटा ही लें।

रमेश उसकी बुआ का लड़का था। उसी की उम्र का रहा होगा। फूफा तीन-चार वर्ष हुए कहीं तीर्थ करने गए थे। तब से लौटकर ही नहीं आए। बुआ हैं।

रमेश, उसकी पत्नी और उनके चार बच्चे हैं। रमेश का विवाह उसके विवाह से कई वर्ष पहले हो गया था। यद्यपि पत्नी की आयु ज्यादा नहीं है, परंतु चार बच्चे होने के कारण उसका स्वास्थ्य अवश्य गिर गया है।

वह पहुंचा तो रमेश घर में नहीं था। उसकी पत्नी, कुंती, रंग से भीगे कपड़े पहने धूप में बैठी थी।

"बड़ी राह दिखाई आपने" उसने कहा, "आपकी ही वजह से अभी तक नहाया नहीं मैंने। अम्माजी ने कहा भी, नहा डालो, अब आप नहीं आएंगे। लेकिन मुझे विश्वास था कि आयेंगे जरूर।"

"हां, देर हो गयी," उसने कहा और फर्श पर पड़ी चारपाई पर बैठने लगा।

"अब बैठिए नहीं। इधर आ जाइए पहले" उसने कहा। रंग पहले से घुला रखा था दो बाल्टियों में। एक में हरा, दूसरे में लाल।

वह उठकर खड़ा हो गया। कुंती उसका हाथ पकड़कर छत पर जिधर रंग पड़ा था, उधर ले आयी और लोटे से बाल्टी में से रंग लेकर उसके ऊपर डालने लगी।

उसने उसके हाथों से लोटा छीन लिया और रंग लेकर उसके ऊपर डालने लगा। कुंती चुपचाप सीने पर हाथ रखकर खड़ी हो गयी। उसने उसके बालों में, ब्लाउज के अंदर, सब कहीं रंग डाला।

"अच्छा, अब आपको चुप बैठना पड़ेगा।"

"खड़े-खड़े ही डाल लो न," उसने कहा।

"आप लंबे जो पड़ते हैं।"

"झुका जाता हूं।"

वह झुक गया। कुंती ने लोटे से खूब उसके ऊपर रंग डाला। और हाथ में रंग लेकर उसके मुंह में लगाने लगी।

"अच्छा, ठीक है, लगा लो," उसने कहा और अपने हाथ में भी रंग लेकर उसके मुंह में लगाने लगा। उसने बचना चाहा। परंतु उसने उसे पकड़ लिया और मुंह में रंग लगा दिया। उसका मुंह चमकने लगा।

वह वापस चारपाई पर आकर बैठ गया और धूप में कपड़े सुखाने लगा। कुंती रिश्ते में उसकी भाभी थी, परंतु वह उसे कुछ कहता नहीं था। शायद इसलिए कि वह उम्र में उससे काफी छोटी थी। जब वह एम. ए. में पढ़ता था तो अकसर उसके यहां आया-जाया करता था। घंटों उससे बैठ कर बात किया करता था। कभी कभी वह उसे पढ़ाया भी करता। उसी के कहने से उसने हाई स्कूल का फार्म भरा था। और शायद उसी की सहायता से पास भी हो गयी थी। थर्ड डिवीजन। परंतु उसके बाद धीरे-धीरे आना-जाना कम हो गया।

कुंती अंदर से खाना ले आयी । पूरी-सब्जी वगैरह । थाली चारपाई पर रखकर वह बच्चे को गोद में ले दूध पिलाने लगी ।

"अरे, यह खाना क्यों ले आयी हो ?" उसने कहा ।

"खाना ही पड़ेगा आपको ।"

"नहीं भाई, बहुत पेट भरा है । शाम को खा लूंगा ।"

"मैं जानती हूं शाम को आप नहीं आएंगे ।"

"आऊंगा, जरूर आऊंगा ।"

"हमेशा आप ऐसे ही झूठ बोल देते हैं । एक टुकड़ा खा लीजिए अच्छा ।"

उसने थोड़ा-सा खा लिया । "बुआ कहां हैं ?" उसने पूछा ।

"ऊपर छत पर धूप सेंक रही हैं ।"

वह उठकर उनसे मिलने चला गया ।

लौटकर घर आया तो कोई तीन बजने वाले थे । कम्मन नहा-धोकर नये कपड़े पहनकर इधर-उधर टहल रहा था ।

"कोई आया था ?" उसने मां से पूछा ।

"हां, चौथे साहब आए थे ।"

"जीवन मामा नहीं आये ?"

"न ।"

"और पानदरीबा वाले मौसिया ?"

"वह भी नहीं आए । वह तो परसाल भी नहीं आए थे ।"

वह चुप हो गया ।

"तुम सब कहीं हो आए ?" मां ने पूछा ।

"हां ।"

"तो अब नहा डालो । पानी गर्म है ।"

वह नहाने बैठ गया । हाथ-पैर का रंग छुड़ा रहा था, तभी उसे ध्यान आया कि जब उसने बाहर कमरे में राजीव को बिठाया था तो कमरा बहुत गंदा था ।

"बाहर का कमरा किसी ने साफ किया ?" उसने पूछा ।

"कौन साफ करेगा ?" मां ने पूछा, "मैं ही साफ करूं तो करूं, सो मुझे अब दिखाई ही नहीं देता ।"

वह नहाने के बीच से उठ पड़ा और कमरा साफ करने लगा । कमरा साफ करने के बाद उसने स्नान पूरा किया । तौलिये से बदन पोंछ रहा था, तभी संतू

आया। आंखें चढ़ी थीं। पैर ठीक नहीं पड़ रहे थे। आकर फर्श पर बैठ गया। फिर वहीं लेट गया। आंखें बंद कर लीं।

वह चुपचाप बदन पोंछता रहा। मां भी खामोश रहीं।

थोड़ी देर में संतू उठा और नाली के पास बैठकर कै करने लगा। कै करके फिर लेट गया। मां बाल्टी से पानी लेकर कै बहाने लगीं।

"खाना ले आएं ?" मां ने उससे पूछा।

"नहीं, पेट भरा है," उसने कहा। उसे ध्यान आया, उसने सुबह मंजन नहीं किया था। वह टूथ ब्रुश लेकर दांत साफ करने लगा।

"विपिन !" जीवन मामा सदा जीने पर से ही आवाज देते हैं।

"आइए, मामा !" उसने कहा।

"आ जाऊं ?"

"हां-हां, आ जाइए।" वह जीने के सामने आ गया।

"लाओ भाई, गोश्त-पूरी खिलाओ।" जीवन मामा छत पर निकल आए। हर वर्ष होली पर वह गोश्त खाने आते हैं। उनके यहां सब लोग शाकाहारी हैं, अतः घर में पकता नहीं। वह छत पर पड़ी कुर्सी-मेज ठीक करने लगा।

"इनको क्या हो गया ?" जीवन मामा ने संतू को छत पर आंखें बंद किये पड़े देखा तो पूछा।

"कहीं से पी-पिला आए होंगे," उसने कहा।

जीवन मामा चुप हो गए। "कब आए तुम ?" उन्होंने पूछा।

"दो-तीन दिन हो गए।"

"बच्चों को नहीं लाए ?"

वे अपने नाना के यहां गए हैं।"

"बहनजी कहां हैं ?" मामा कुर्सी पर बैठ गए।

"अंदर होंगी," उसने कहा और मां को आवाज देने लगा, "अम्मा, जीवन मामा आए हैं।"

मां बाहर छत पर आ गयीं।

"नमस्ते, बहनजी।" मामा ने कहा।

"नमस्ते," मां ने कहा, "बैठो।"

मामा पहले से ही बैठे हुए थे। "और क्या हाल-चाल हैं ?" उन्होंने कहा, "आपको साफ दिखायी नहीं देता ?"

'कहां साफ दिखायी देता है ! जान पड़ता है बस कोई बैठा है। शक्ल नहीं दिखाई देती तुम्हारी साफ।"

"भाई साहब के न रहने के बाद से आपकी तंदुरुस्ती काफी गिर गयी।"

"रह थोड़े ही गया है कुछ शरीर में," मां ने कहा।

"अम्मा, मामा के लिए गोश्त-पूरी लाकर दो।" उसने कहा।

"गोश्त तुम परस दो, पूरी मैं निकाले देती हूं।" मां ने उठते हुए कहा। वह गोश्त निकालने के लिए प्लेट ढूंढ़ने लगा। जीवन मामा कुर्सी पर बैठे-बैठे संतू को निहारते रहे।

जीवन मामा बहुत दूर के रिश्ते से उसके मामा लगते थे। उसके पिता के घनिष्ठ मित्रों में से थे, हालांकि उम्र में उनसे बहुत छोटे थे। पिता थे तो वह रोज बिला नागा शाम को आते थे। बातचीत का सिलसिला खत्म होने में ही नहीं आता था। पहले, जब स्वतंत्रता नहीं मिली थी, तब जीवन मामा कांग्रेस की बड़ी तारीफ करते थे। स्वतंत्रता मिलने के बाद अब वह कांग्रेस की बुराई करने लगे हैं। कम्युनिस्टों की तारीफ करते हैं।

पहले जब पिता थे तो होली पर जीवन मामा के आने पर घर में बोतल खुलती थी। हालांकि दोनों आदमी मुश्किल से एक एक छटांक पीते थे। परंतु उसके बाद इतनी गर्मागर्म बहस होती थी, कि मां कहने लगती थीं, "पीते तो मैंने सबको देखा, लेकिन पीकर इस तरह झगड़ा करते नहीं देखा किसी को।" पिता की मृत्यु के समय जीवन मामा अपने घर गए हुए थे। लौटकर आए तो उसके घर आकर घंटों रोते रहे थे। उसी के बाद से धीरे-धीरे उनका आना जाना कम हो गया। अब तो होली-दीवाली पर ही आते हैं।

मां पूरी निकाल लायी थीं। वह प्लेट में गोश्त निकाल रहा था तो मामा ने कहा, "हड्डी वाली बोटी देना, भाई।"

उसने छांटकर बोटियां निकालीं और प्लेट लाकर मेज पर रख दी। "तुम नहीं खाओगे?" मामा ने पूछा।

"मैं खा चुका।" उसने कहा।

मामा खाने लगे। "गोश्त तो बहुत बढ़िया बना है, भाई।" उन्होंने कहा। खाने की तारीफ वह हमेशा करते थे। पिता अकसर इस पर उन्हें टोकते थे, "भई, खाने के बाद तारीफ करते तो मैंने लोगों को सुना है। तुम तो खाते जाते हो, तारीफ करते जाते हो।"

"इससे खाना और अच्छा लगने लगता है," मामा कहते।

संतू उठकर बैठ गया था। थोड़ी देर बदहवास-सा बैठा रहा। फिर उठकर नीचे चला गया। जीवन मामा के चेहरे पर कुछ रेखाएं उभर आयीं। उन्होंने खाना रोक दिया।

"चू चू। बताइए" उन्होंने कहा, "यह कौन सा तरीका है। भाई साहब होते

आज तो कितना अफसोस होता उनको । ऐसे आदमियों के साथ तो बिलकुल भी हमदर्दी नहीं करनी चाहिए ।"

"अब क्या बताएं आपको, यह तो पकड़ गए थे ।" उसने कहा ।

"मैंने सब सुना है । तुमने गलती की जो छुड़ा लाए इन्हें ।"

"मैं तो पड़ा रहने देता । सिर्फ अम्मा का खयाल था ।"

"ममता नहीं मानती, भइया ।" मां ने कहा, "नहीं तो ऐसे लड़के से बिना लड़का ही भला ।"

"नहीं बहनजी ।" जीवन मामा ने कहा, "आप जितनी ममता कीजिएगा, उतने ही यह और खराब होंगे ।"

मां चुप रहीं । जीवन मामा फिर खाने लगे । खाना खाकर वह हाथ धोने लगे तो मां पानदान खोलकर पान लगाने लगीं । पान खाकर मामा जाने लगे तो वह उनको नीचे तक पहुंचाने गया । द्वार पर था, तभी देखा कि सतीश कहीं बाहर से आ रहा है ।

"कहां गए थे ?" उसने पूछा ।

"ऐसे ही एक दोस्त के यहां गया था ।"

वह जीना चढ़ रहे थे ।

"तुम बैठोगे कुछ देर दरवाजे ?"

"नहीं," छोटे भाई ने कहा । मां ने पान लगा रखे थे । तश्तरी लेकर वह चुपचाप नीचे उतर आया और दरवाजे का कमरा खोलकर बैठ गया ।

गली में होली मिलने वाले लोग आ-जा रहे थे । मशीन की तरह वे उसके कमरे में भी आते, उससे गले मिलते, तश्तरी से पान लेकर खाते, एक-दो बात करते जैसे "कब आए ?", "कब तक रहोगे ?" आदि-आदि और उठकर चले जाते । कुछ लोग खड़े-खड़े ही एक मिनट के लिए रुकते । कुछ एक-दो मिनट बैठ जाते । लोग बैठते तो वह भी बैठ जाता । उनके चलते समय फिर उठकर खड़ा हो जाता । उसे यह सब पसंद नहीं था । मां के खयाल से ही वह इतनी देर बैठा रहा ।

आठ बजे तक लोगों का आना कम हो गया तो उसने दरवाजे के किवाड़ बंद किये और ऊपर आ गया । "अभी आ रहा हूं थोड़ी देर में," उसने मां से कहा और बाहर चला आया । दो-एक मित्रों के यहां गया, परंतु कोई मिला नहीं । कुछ देर वैसे ही इधर-उधर घूमता रहा । कोई दस बजे के करीब लौट आया ।

मकान के अंदर घुसा तो मां जीने से थाली में खाना लेकर उतर रही थीं ।

"यह खाना कहां ले जा रही हो ?" उसने पूछा ।

"संतू के लिए ले जा रही थी । खाएं, चाहे न खाएं, मुझको क्या करना ।

पूछ लेती हूं। इनको तो तुम जेल में ही पड़े रहने देते तो अच्छा था।" उन्होंने कहा।

वह एक क्षण दहलीज पर रुका रहा। मां ने कमरे के भिड़े हुए किवाड़ खोले तो उसने देखा, संतू तख्त पर पेट के बल लेटा था। अभी तक वह रंग भरे कपड़े पहने था।

वह जीना चढ़कर ऊपर आ गया। कम्मन चारपाई पर सो रहा था। छोटे भाई का कमरा बंद था। कपड़े बदलकर वह बिस्तर पर लेट गया।

थोड़ी देर में मां ऊपर आ गयीं।

"खाना खाया संतू ने ?" उसने पूछा।

"खाना क्या खाएंगे ! पिये पड़े हैं।" मां ने कहा। फिर थोड़ी देर बाद बोलीं, "खाएं चाहे न खाएं। अब मैं नहीं जाऊंगी पूछने। तुमको दूं खाना ?"

"मैं नहीं खाऊंगा। दिन भर उलटा-सीधा खाते-खाते पेट खराब हो गया।" उसने कहा।

"थोड़ा-सा लो।"

"नहीं," उसने कहा।

"तुमने खाया ही नहीं कुछ। गुझिया ही खालो एक-दो। दूं ?"

"नहीं, भूख नहीं है।" उसने कहा। मां चुप हो गयीं।

"सतीश कहीं गए हैं क्या ?" उसने थोड़ी देर बाद पूछा।

"सनीमा गए हैं। दुल्हिन भी तो गयी हैं।"

"अच्छा," उसने कहा।

वह थोड़ी देर लेटा रहा। "बत्ती बुझा दूं ?" उसने पूछा।

"बुझा दो। मुझको क्या जरूरत बत्ती की। मेरे लिए तो बत्ती न बत्ती बराबर है।" मां ने कहा।

"बाहर के किवाड़ बंद हैं ?"

"हां।"

उसने उठकर बत्ती का स्विच ऑफ किया तो कमरे में अंधेरा फैल गया।

"कल मैं लौट जाऊंगा।" उसने कहा।

"अच्छा," मां ने उसकी ओर करवट ले ली।

अंधेरे में वह उनका चेहरा नहीं देख सका।

तीसरी हथेली

राजी सेठ

इतनी देर हो जाने से उसे लगा कि आज वह नहीं आयेगी।

उसने घड़ी देखी। निश्चित समय से पौन घण्टा ऊपर हो गया था। साधारणतया ऐसा नहीं होता था। वह दोनों अपनी-अपनी जिम्मेवारी पर समय से पहुंचते हैं। अक्सर जाने का कोई कारण या इच्छा नहीं भी हुई है तो भी··· क्या यह महज आदतन था?

वह भी कुछ उत्साह में भरी हुई हो, ऐसा नहीं है।

"आज आ सकती हो?"

"आ सकती हूं," बिना किसी सोच या हिचक के वह जवाब देती है। अब अकसर जवाब इतना सपाट होता है कि वाक्य को पलटने की गुंजाइश ही नहीं होती।

"तो फिर···" वह हवा में लटका रहता है।

"जगह बता दो!"

"तुम ही क्यों नहीं बता देतीं···? तुम्हें कहां सुविधा है?" वह थोड़ा खीज कर कहता है।

"मुझे सब··· किसी जगह भी सुविधा है," उसकी आवाज इतनी निरुद्वेग है कि ठण्डेपन का अहसास देती है। इन शब्दों से यह व्याख्या कतई नहीं की जा सकती कि वह उससे कहीं भी, कभी भी मिलने आ सकती है, कोई भी पहाड़ काट कर।

"इधर···जनपथ की तरफ आ सकोगी?"

"आ सकूंगी।"

"या कहीं और···जहां तुम्हें ठीक लगता हो।"

"जनपथ आ जाऊंगी···कहां?"

"एम्पोरियम के सामने मिल जाना···क्यों, ठीक रहेगा?"

"कितने बजे ?"

"पांच ···साढ़े पांच तक ?"

"जितने बजे भी····ठीक बता दो।"

"साढ़े पांच।"

'ठीक है। कह कर वह फोन रख देती है। इधर वह उससे लगातार पूछता रहता है कि क्या उसे अपने आफिस में आसपास के लोगों के कारण फोन पर खुल कर बात-चीत करने की दिक्कत है ?"

'नहीं···नो बड़ी केयर्स···नो प्रॉब्लम।"

वह कुछ प्रॉब्लम बता देती तो उस ठण्डेपन को समझ जाने का कोई कारण मिल जाता···परंतु प्रॉब्लम नहीं है, यही तो मुख्य प्रॉब्लम है। किसी कारण के बिना उनके बीच होने इस अनाम परिवर्तन को कोई नाम नहीं दिया जा सकता।

एक घण्टे से ऊपर हो गया। वह बेचैनी से इधर-उधर टहलने लगा। पास वाली पुस्तकों की दुकान में घुस गया। पुस्तकों से उसकी लम्बी साझेदारी रही है··· वह उसे सदा आमंत्रित करती लगती है···इसीलिए डरता है वह उनसे। यह आमंत्रण कभी इतना हावी न हो जाये कि उसे अपनी लपेट में ले ले···और किसी लपेट में फंसना नहीं चाहता वह नन्दिता के सिवा··

अधिकार···उग्र अधिकार···पाना या देना अच्छा लगता है उसे। नन्दी जब से मिली है, उसे ही सोचना-जीना चाहता है वह।

नन्दी ने कैसी चुटकी ली थी उस दिन··· चाहे अनजाने—"श्रीमती जी के साथ रहते क्या यह नहीं लगता तुम्हें कि उन्हें ही सोचना-जीना चाहते हो···मेरी जरूरत फिर कैसे पड़ी···तुम्हारे अपने सिद्धांत के विरुद्ध हुई न बात ?"

उन दिनों वह खुल कर कह लिया करती थी ऐसी बातें – पूरे अधिकार से···· कुछ भी···कैसी भी। उसे नाराज कर देने का डर मन में नहीं रहता था। यूं नाराज तो वह न तब होता था, न अब होता है, फिर भी·· पता नहीं क्यों ?···

किताबें पलटते हुए उसे ध्यान आया कि वह उसे बाहर खड़ा न पाकर कहीं लौट ही न जाये। मन के एक हिस्से को मालूम था कि यह भय निर्मूल है, परंतु आशंका नहीं मिटी। पुस्तक उसने रेक पर रख दी और बाहर निकल आया।

बाहर हल्की-हल्की बूंदा-बांदी शुरू हो गयी थी। जब वह आफिस से चला था तो आकाश साफ था।

उसे लगा कि पानी बरसने लगा तो उसे आने में दिक्कत होगी। आफिस छूटने के समय पर रिक्शे यों भी देर से मिलते हैं—और पानी बरसने लगे, तब तो और भी।

क्यों वह उसे स्वयं लेता हुआ नहीं आया··· क्यों उसकी सुविधाओं की तरफ से उदासीन होता जा रहा है वह ?

सड़क के एक किनारे पर खड़ा होकर वह इधर-उधर देखने लगा। परंतु एक जगह पर देर तक खड़े रहना उसे असुविधाजनक लगने लगा। जैसे हर कोई उसके प्रतीक्षा करते होने की बात पर ध्यान दे रहा है। फुट पाथ पर खड़े होकर उसने दस पैसे देकर ईवनिंग न्यूज खरीदा और उसे उलटने-पलटने लगा।—'श्री चव्हाण ने राष्ट्रपति को मंत्रिमण्डल चला सकने की अपनी असमर्थता से अवगत कराया।'

'असमर्थता से अवगत कराना' ? - कितना अच्छा होता है ऐसा कर पाना। कितनी स्वतंत्रता देने वाला·· परंतु ऐसा हो पाता है क्या···? क्यों करता है ऐसा व्यक्ति—टुकड़ों को हाथ में रखे रहने के भुलावे से खुश रहता है, वस्तु के टूट जाने की स्थिति से त्रस्त नहीं होता।

एक आटो-रिक्शा आकर रुका। उसने जल्दी से पेपर समेट लिया, जैसे वह कुछ भी नहीं कर रहा था। बस प्रतीक्षा कर रहा था।

रिक्शे से जो पैर बाहर निकला वह किसी पैंटधारी का था। उदासीनता से वह आगे टहल गया।

आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि कह देने पर वह न आयी हो। इच्छा, उत्साह न भी रहा हो तो भी आयी है। अपनी अनिच्छा को उसने कभी इस प्रकार प्रकट नहीं किया। बस आ गयी है···चुप रहे या बोले। खुश हो या नाखुश ···आ जाती हैं बिना प्रतिकार या उज्र के।

ऐसे में अचानक लगने लगता है, जैसे हाथ में भीगा हुआ दस्ताना पहना हुआ हो।

उसने जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगायी। धुआं अंदर ऐसे उतरा जैसे किसी खाली कोष्ठ में बुंध भर गयी हो। उसने इधर-उधर देखा। पास में ही एक खोमचे-वाला आलू-कचालू की चाट बेच रहा था, दूसरी तरफ छोले-भटूरे की परिचित गंध उठ रही थी।

भूखा होने के बावजूद अभी तक उसका ध्यान उधर नहीं गया था, शायद यह सोच कर कि रेस्तरां में बैठते ही खाना आवश्यक हो जायेगा।

भूख की बात सोचते ही उसकी भूख भड़क आयी और मुंह अतिरिक्त गीला होने लगा।

उसके मन में आया कि वह एक पत्ता चाट बनवा कर खा ले, पर पता नहीं क्यों

उसे लगा कि चाट खाने और उसके आने का क्षण जरूर एक ही होगा। वह प्रतीक्षा करता हुआ नहीं दीखेगा। कितनी भद्दी लगेगी यह उतावली।

"यूं देखा जाये तो हर किसी की भूख हर किसी की अपनी जरूरत है—नितांत अपनी।" नन्दी अकसर उससे कहने लगी है, "अपनी भूख-प्यास अपनी ही रहती है, बांट लेने का गुमान हो जाता है अकसर कभी देर तक बना रहता है··· कभी जल्दी टूट जाता है···"

"क्या अनुभवियों की तरह बातें कर रही हो?" वह तिक्तता से कहता है, "मुझे तुम्हारा अनुभवी होना अच्छा नहीं लगता।"

"लगता तो मुझे भी नहीं···फिर भी मैं तुम्हारे अनुभवी होने को कुछ नहीं कहती···तुम्हें देखती हूं, तुम्हारे अनुभवों को नहीं।" उसकी आंखों में छेड़-छाड़ नहीं, बहुत गहरी उदासी होती है।

वह बात बदल देता है। एक मैली-सी लज्जा भी आती है उसे।

नन्दी है कि अब इन बातों को दूर तक नहीं खींचती, सोचती जो कुछ भी हो। कभी उसके घर की बात चलाओ तो कहेगी—"उस नरक में तो रहना ही है। इन घड़ियों को उस याददाश्त से काला क्यों कर रहे हो?"

शुरू-शुरू में, अपने घर की बातों पर वह उसके कंधे से लग कर रो दिया करती थी। वह उस समय किसी बाग में बेंच पर बैठे हुआ करते थे। वह उसे बांहों में घेर कर चूमता तो कहती—"तुम्हारे पास आकर जी जाती हूं, मेरे मन की क्लाइमेट ही बदल जाती है···क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मैं सदा···तुम्हारे पास ही रहूं?"

"कैसे हो सकता है?" जाने कैसे उसके मुंह से निकल गया था, यद्यपि वह नहीं चाहता था कि ऐसा कुछ भी उसके मुंह से निकले। और कुछ नहीं तो वह उसे ऐसा कर सकने का दिलासा तो दे सकता था···ऐसे दिलासों में जान नहीं होती, यह उसे कहना नहीं पड़ा था। उसकी बांहों की जकड़ ने वह बात वैसे ही स्पष्ट कर दी थी।

"हां···नहीं हो सकता," एक गहरे उच्छ्वास से वह उस जकड़ से स्वयं अलग हो गयी थी, "तुम्हारा अपना एक घर है। मुझे क्यों भूल जाना चाहिए।"

उस क्षण वह बिल्कुल समझ न सका कि वह उसे ज्यादा महत्व दे रही है या घर को···स्त्री को शायद सब-कुछ मिल जाने के बाद भी एक घर की जरूरत होती है।

इसके बाद से ही वह काफी कुछ अपनी जगह पर स्थिर होती गयी थी··· बहुत इसरार नहीं, कभी घर की बात चल जाये तो कहेगी—"क्यों पूछते हो बार बार···वहां क्या बदलने वाला है···या कहीं भी, कुछ भी क्यों बदलेगा ?··· बदलने के लिए हिम्मत चाहिए जो मैं तुममें पैदा नहीं कर सकती।" आगे कुछ कहना चाहते हुए भी रुक जाती है वह।

उसने अचानक ध्यान दिया कि अपनी धुन में टहलता-टहलता वह काफी आगे निकल आया है··· जनपथ को समाप्त करते चौराहे तक।

बादलों ने आकाश को गहरा घेर लिया और बूंदाबांदी की जगह मूसलाधार पानी बरसने लगा। देखते-देखते सड़कें खाली हो गयीं···लोग इधर-उधर फुटपाथों पर सिमट गये। ऐसे में फुटपाथ के साथ सिमटते-सिमटते जाना···सबकी दृष्टियों के सामने से गुजरना···ऐसी उतावली में जैसे वह ही है, जिसे कोई जरूरी काम है और सब तो सब-कुछ स्थगित करके बारिश के थमने का इंतजार कर सकते हैं।

इधर कुछ समय से उखड़ी-उखड़ी रहती है। पिछली बार पिक्चर गये थे तो बीच में ही उठ आने को व्यग्र हो आयी थी।

"चलो, बाहर चलें। यहां बैठे, बेमतलब बेवकूफों जैसे क्यों हम दूसरों का तमाशा देख रहे हैं।" वह उसका हाथ पकड़ कर उठ खड़ी हुई थी और अंधेरे को चीरती हुई बाहर चली आयी थी।

वह एकदम कुछ न समझ सका सिवाय इसके कि उठ कर चले आने के पहले के क्षण उसके लिए बहुत घुटन के रहे होंगे।

बाहर आकर "कैफे" के काउण्टर पर एक गिलास पानी पीकर वह सीढ़ियां उतरते-उतरते बोली, "क्या तुम्हें नहीं लगता अब हमारे लिए एक-दूसरे की जरूरत कम हो गयी है··· तभी न साथ होकर भी हम दूसरों के तमाशे देखने बैठते हैं···ऐसा न हुआ हो तो एक-दूसरे के सामने बैठ कर जीने की ताकत न बटोरें ?" वह एकदम गंभीर और अपनी धुन में थी।

वह कुछ क्षणों के लिए विमूढ़ हो गया···एकदम रिक्त। और कोई क्षण होता तो वह उसे बहुत जोर से झिड़कता, परंतु ऐसी उग्र प्रतिक्रिया उसके मन में नहीं उपजी। कुछ सोच कर बोला, "हमेशा बेढंगी बातें ही तुम्हारे दिमाग में क्यों आती हैं ?"

"तुम्हें बेढंगी लगती हैं ये बातें··· तुम्हें तो यह भी नहीं मालूम कि खतरे अपने ही भीतर से उठ रहे हैं···"

उसके बाद वह उखड़ी रही थी। कभी-कभी उसे अचानक लगने लगता है कि वह नन्दी के दिमाग का गणित भूल गया है···उसके उखड़ने-संभलने के बिंदु

पर हाथ नहीं रख पाता। सामने तैरते हुए लकड़ी के टुकड़े की तरह दूर होते जाने का अहसास देती है वह···क्यों नहीं आगे लपक कर, अधिकार से उसे थाम लेता ···उसे अच्छा लगेगा···आश्वस्त होगी···फिर ऐसा क्यों नहीं कर पाता वह····?

कोई भविष्य उसकी मुट्ठी में नहीं थमा पाता वह···क्या इसीलिए ?

किसी स्त्री को शायद यह समझा पाना कठिन होता है कि क्षण कीमती है अपने-आप में · वर्तमान या भविष्य के आकार के बिना भी·· पूरा जीने की वह चौंध कीमती है··· क्या जरूरी है कि वह घर और अधिकार की चौखटों में ही मिले।

पर स्त्री के लिए प्यार एक घर होना है, एक समाज, एक बचाव, बच्चों से चहकता-महकता एक आंगन।

इस समीकरण का क्या करे वह ?

पानी तेजी से बरसने लग गया ·· अब तो बिजली भी चमकने लगी। अंधेरा-सा उतरने लगा। वह तो बरसाती लेकर घर से नहीं चला था। एकदम खुला-सा दिन था आज सुबह···

जहां वह आकर खड़ा हुआ, वहां घड़ियों की दुकान थी। उसके मन में आया इस खाली समय में क्यों न घड़ी का फीता बदलवा लिया जाये ?

उसने अपने हाथ में बंधी घड़ी के फीते को थोड़ा खींच कर देखा····आज नहीं तो कल ·· उसे शीघ्र बदल देना पड़ेगा ··नहीं तो अनजाने में घड़ी गिर भी सकती है।

यह सोचकर वह दुकान में घुस गया। काउंटर पर पहले से दो-तीन आदमी खड़े थे। एक किसी बात पर मालिक से उलझ रहा था ···

जो स्थगित हो सकता है—जैसे इस फीते का एक सप्ताह का जीवन—उसे अभी, इस समय कर डालना उसे एक विशेष प्रकार का अपव्यय लगा ·· साथ ही लगा कितनी सावधानी, कितनी संभाल की जरूरत होती है कमजोर चीजों को साधने के लिए ·· वह चाहे वस्तुएं हों या संबंध—यह संभाल कभी-कभी सुख से अधिक उत्तरदायित्व का अहसास देने लगती है।····

उसने हाथ से घड़ी उतार कर काउंटर पर खड़े आदमी के हवाले करते हुए कहा, "साहब, जरा जल्दी है····" और दुकान के प्रवेश-द्वार पर आकर बाहर देखने लगा···

क्या इसी निर्लिप्तता से अपने बीच कमजोर हो गये हर सूत्र को तोड़ कर पुनर्जीवित करने का साहस पा सकता है वह ?

क्यों ऐसा नहीं हो सकता ? क्यों हर क्षण का सामना अपने उत्कट वर्तमान में नहीं हो पाता···घड़ी का फीता जब नया था नया था····अब पुराना है तो

पुराना है···और पुरानी चीजों के प्रति वही लगाव नहीं हो पाता···यह बात कपड़ों पर, वस्तुओं पर लागू की जाती है तो इतनी बुरी नहीं लगती···व्यक्तियों, संबंधों पर चिपका देने पर इतनी अरुचिकर या क्षुद्र लगने लगती है···क्यों व्यक्तियों या संबंधों को जडता के नियम के हवाले करके हम अधिक खुश रहते हैं···

एक क्षण को उसके जी में आया कि आज नन्दी आये तो वह उससे कह दे खुल कर कि इस तरह कमजोर हो गयी चीजों की संभाल के तनाव से अच्छी है —मु···मुक्ति···मुक्ति····

नहीं, नहीं···

नहीं। ऐसी कोई पहल वह नहीं करना चाहेगा, क्योंकि इस कारण से की गयी पहल के तर्क को वह कभी समझा नहीं पायेगा।

"लीजिए साहेब" दुकान वाले ने उसका ध्यान चीर दिया···उसने मुड़ कर पैसे दिये और बाहर लौटा।

इस बार उसे पूरा विश्वास था कि बाहर आते ही उसका नन्दी से साक्षात्कार हो जायेगा। दुकान की सीढ़ियां उतरते ही उसने व्यस्त नजरें इधर-उधर दौडायीं ··· अधैर्य का एक क्षुब्ध गुबार उसके भीतर उठा।

"क्यों न घर वापस चला जाये," उसने अपने-आपको सुझाया। इस सुझाव से उसे हल्की-सी खुशी हुई। यह सोचना उसे अच्छा-सा लगा कि वह आयेगी और परेशान होगी···शायद यह सोच कर न भी आये कि वह अब तक वापस चला गया होगा।

उसे अचानक अपना वहां खड़े रहना मूर्खतापूर्ण लगने लगा। जेब से स्कूटर की चाबी निकाल कर वह हाथ में घुमाता-फिराता रहा। सोचा, बारिश कुछ थम जाये तो लौटा जाये।

लौटने के विचार से उसे तसल्ली जरूर हुई, परंतु प्रतीक्षा खीज में बदलने लगी। "कल फोन आयेगा सुबह-सुबह···यह कारण था ··या·· वह कारण था··· वह साफ कह देगा···क्या कह देगा···वह कुछ भी नहीं कह पायेगा ··कोई बात नही," कहकर अपनी उदारता का एक और फंदा उस पर फेंकेगा और एक इंच और उसे अपने कब्जे में रखने की कोशिश करेगा।

कब्जे की बात कभी उससे करो तो कहेगी—"अब कब्जा कहां···अब, एक-दूसरे के होने से मन की क्लाइमेट नही बदलती····एक-दूसरे की अपेक्षा अपने-अपने बारे में अधिक सोचते हैं हम।"

"अपने-अपने बारे में सोचते है तो दूसरे के बारे में सोचते होने का नाटक करने की जरूरत क्या है ?" आज एकदम ऐसा कुछ कह देगा वह नन्दी से ।

एक नया-सा स्फुरण, स्वतंत्रता और उसने अपने भीतर महसूस की ।

उसे लगा वह अभी आ जाये ''इसी समय'''कह सकने का साहस महसूस कर पाने के क्षण, तो अच्छा है'''कल तक तो एक और नपुंसक दिन बीच से गुजर चुकेगा और तनाव का यह इलास्टिक अपनी जगह वापस आ चुकेगा । फिर कुछ नही कहा जा सकेगा''''

परंतु वह कही नहीं थी । अचानक उसे याद आया कि एकाध बार जब भी वह नहीं आयी है, उसके मूल में एक ही स्थिति रही है—उसके विवाह का प्रसंग । कुछ लोग उसे देखने आने वाले थे ।

शायद आज भी यही बात हो'''जरूर यही बात होगी'''मेरे फोन के बाद उसके पिता का फोन आया होगा'''और वह मीठे, नमकीन के पैकेट्स से लदी-फंदी घर पहुंची होगी ।

क्यों वह अब तक इस छोटी-सी बात का अनुमान नही लगा पाया'''अब शायद वह नहीं आयेगी कल सीधे सपाट शब्दों में उसे बतायेगी कि कैसे बिना किसी हिचक के उसने सामने वाले को 'न' कह दिया है । चार दीवारों वाले घर की ऐसी उत्कट इच्छा और बार-बार ऐसी विवेकहीन 'न' ।

"क्यों बार-बार कह देती हो 'न' "'''घर भी चाहती हो और'''अपनी जिंदगी बिगाड़ने पर पड़ी हो'''"

"सवाल तो मेरी जिंदगी का ही है न ''तुम तो जहां खड़े हो, वहीं खड़े रहोगे । ''''बात मेरे मूवमेण्ट की है, मैं तुम्हारे साथ खड़ी रहूं या चल पड़ूं'''तय मुझे ही करना है । तो मैं जब भी करूं''''

और वह कभी तय नही करती '' वह तय कर ले तो वह संतोष कर ले, नन्दी को घर चाहिए था, उसने उसे घर चुन लेने दिया ।

वह ऐसा नहीं करती'''शायद वह भी उस पर अपनी उदारता का फंदा डाले रखना चाहती है कि उसके कारण, उसी जगह पर, वह उसके साथ खड़ी है, कुछ भी स्वीकार नहीं कर रही अपनी इच्छा होने के बावजूद ।

वह स्वयं ही क्यों नहीं कह देता उसे 'न''''? क्यों पहल नहीं करता '''? क्यों निर्णय नहीं लेता'''? यदि वह ऐसा कर दे तो अपने पिता द्वारा सुझाये, किसी भी संबंध को वह स्वीकार कर ले'''चुन ले वह दीवारों वाला घर'''

पहल वह किसी भी दृष्टिकोण से करे, इस आरोप से वह बच नहीं सकता कि हाथ खींचने की पहल उसने की है ।

जताना वह नहीं चाहती कि हाथ उसने खींचे हैं। जताना वह भी नहीं चाहता। छद्म मुरव्वतों, लिहाजों, के फंदे डाल कर आपसी तनाव से पैदा हुए संतुलन में वे दोनों एक-दूसरे को शायद इसी तरह कायम रखना चाहते हैं।

कुछ अतिरिक्त तेजी से वह फुटपाथ पर चहलकदमी करने लगा। प्रतीक्षा करते होने की बात उसके ध्यान से उतरने लगी। दुकानों के दरवाजे धड़ाम-धड़ाम गिरने लगे तो उसे अपने-आप का भान हुआ।

वह दोनों शायद कुछ भी नहीं कर पायेंगे। अतीत के प्रगाढ़ उष्ण दिनों की स्मृतियों को सामने रख कर आज के बदरंग यथार्थ की तुलना कर-करके रोयेंगे ···टूटेंगे···ठंडे होंगे।

यह ठंडा होना एक दिन पूरा हो जायेगा···अपने-आप···निर्णय के बिना··· पहल के बिना··अनिष्ठा के आरोप के बिना। दोनों अपनी-अपनी जमीन पर खड़े रहेंगे। साफ बच जायेंगे। समय को कोसेंगे, जिसने उन दोनों की हथेलियों के बीच इस तरह अपनी हथेली अंटा दी है।

ऐसी भीगी बरसात में समय की छतरी के नीचे उसने क्षण-भर अपने को सुरक्षित महसूस किया···एकदम निर्द्वन्द्व।

किताबों की दुकान अभी बंद नहीं हुई थी। वह उसमें घुस गया। एक पुस्तक खरीदी फिर दो पत्ते चाट लगवा कर खाये। बस, अब उसे घर जाना था।

जनवरी, 1980

अगले मुहर्रम की तैयारी

रमेश बक्षी

सोच रहा हूं कि दरवाजा खुले तो जाऊं उनके घर और पांचेक मिनट को बैठ जाऊं। पर अजीब हैं ये कि सई-सांझ साढ़े आठ को दरवाजे भिड़ा सो गये! नहीं, यह तो मेरा सोचना है, सोये थोड़े ही होंगे, अंदर खाना-वाना खा रहे होंगे, सो बाहर का दरवाजा लुढ़का दिया। नहीं तो ऐसी धमा-चौकड़ी में किसी को नींद आती है? पर उन बेचारों को बाजे-गाजे, जुलूस-जमासे से क्या? गम-डूबों की तो एक अलग अपनी दुनिया होती है। उनके कान में शहनाई फूंको फिर भी उन्हें सुन नहीं पड़ता। तकिये पर सिर रख पड़ा हूं तो उठ बैठा, क्योंकि बाहर आंगन में सोया हूं। हवा हलके-हलके चल रही है और मेरा सोचना लोरी सुनने सा है। सोचना शुरु किया नहीं कि नींद आयी नहीं।

इस समय कुछ-कुछ लोग करबला से लौट रहे हैं। बच्चों का है मजा तो। वे दोनों बच्चे किरकिरी खरीद लाये हैं और बजाते जा रहे हैं। मोटे पेट वाला बच्चा निकर की जेब से रेवड़ियां निकाल-निकाल कर चबा रहा है। वह बच्ची बड़ी प्यारी है, उम्र सातेक की और कपड़े बीसी-उम्र के। कली वाली सलवार, घुटनों से नीची कुरती और गोटा-लगी चुन्नट। माथे पर गोटा खूब चमक रहा है, इसकी पसंद भी खूब है, खरीदकर लायी है लकड़ी पर नाचने वाला बंदर और रास्ता चलते मगन है बंदर नचाने में कि कभी लगती है ठोकर और कभी साथ-चलतों से बिछुड़ जाती है। इन बच्चों को आता देख बड़ा दर्द लगता इनको, भला है कि दरवाजा बंद कर रखा है पर कुछ देर में दरवाजा खोलेंगे तो कुछ देर को हो आऊंगा इसके घर। न भी जाता पर आज सवेरे उनके चेहरे देखे तब से मन आंसू आसू हो रहा है।

कैसा है यह बुश्शर्ट वाला बाबू भी कि हर साल इसके चेहरे पर एक-न-एक नयी झुर्री आ जाती है। इसका ब्याह हुआ तब से जानता हूं। मुझे यह कमरा किराये पर अटकाये कोई तीन साल या साढ़े तीन साल हुए होंगे। जब मैंने इस कमरे में ताला लगाया तभी था इसका ब्याह। कंपनी का एजेंट है न, तो कभी सप्ताह,

कभी पखवारे और कभी माह-तिमाह यहां आता हूं। किराया सात है इस कमरे का, सो अपने नाम पर अटका रहा है, पांव रखने को जगह तो है, नहीं तो इस शहर में तो धर्मशाला, होटलें भी भरी रहती हैं। यह मकान तो एक चाल है। बीसेक किरायेदार तो रहते ही होंगे पर मुझे सब जानते हैं क्योंकि जब कभी मैं आता हूं तो सबको कंपनी का कैलेंडर दे जाता हूं। सामने चाचा रहते हैं, साल-की-साल सरकारी ताजिया ये ही बनाते हैं। एक जमाना था कि जब चालीस खन (खंड) का बनता था ताजिया। शहर के सैकड़ों कंधे उसे उठाते थे और ताजिये से आध-आध फर्लांग दूर उसकी रस्सी खींची जाती थी। लोगों का मन भी छोटा होता गया और ताजिये के खन भी छोटे होते गये। पहले तो इमामबाड़े में साल-भर धूम रहती थी पर अब मेहंदी की रात से पखवारे पहले कागज कटते हैं और तीन बड़े, चार छोटे खनों का ताजिया आनन-फानन में खड़ा हो जाता है। चाचा को मैं जो कैलेंडर देता हूं, उसकी तसवीर काटकर वे हर साल ताजिये में लगा देते हैं।

दरवाजा बजता है। मैं उठता हूं, जूते पहनता हूं पर दरवाजा नहीं खुलता। मैं जूते पहने ही बिस्तर पर अधलेटा हो जाता हूं, हां पहली बार इसके ब्याह-बरस मैंने जब कैलेंडर दिया था न तो बड़ा खुश हुआ था यह बुश्शर्ट वाला बाबू। कैलेंडर पर बनी थी एक बच्चे की तसवीर और उसकी नयी दुलहिन के पैर भारी थे। एक दिन उसकी बीवी को देखा था मैंने : भरा हुआ शरीर, तेज साफ रंग और मां बनने से पहले की गंभीरता उसके चेहरे पर थी। पशु–पक्षी की मादाएं मां बनने से पहले बड़ी तेज और चपल दिखने लगती हैं क्योंकि गुफा घोंसले के प्रबंध में लगी रहती हैं वे पर औरतें उसी दशा में होने पर भी जाने क्यों बड़ी आलसिन लगने लगती हैं। ऐसे ही आलस के भाव बुश्शर्ट वाले बाबू की भरे बदन वाली बीवी के चेहरे पर ही नहीं सारे शरीर पर थे···और यही भाव मुझे हमेशा उसके चेहरे पर दिखायी देता रहा। मैं सोचता कि साल में एक बच्चा भी होता होगा तो कम-से-कम तीन महीने तो इसकी हालत ठीक रहनी चाहिए, पर उन तीन महीने वह अपनी या अपने बच्चे की बीमारी में डूबी रहती होगी गले-गले कि कभी दिख ही नहीं पड़ती।···पर इस बार तो वह वैसी नहीं दिखायी दी।···पर बच्चा भी तो दो या ढाई महीने का ही हुआ होगा।

दरवाजे फिर बजे। मैंने उधर झांककर देखा, अंदर लालटेन जल रही है और दरवाजा खुलने का भ्रम इसलिए हो रहा है शायद कि हवा के झोंके से सांकल बार-बार हिल जाती है। होगा भी ·· आज नहीं कल हो आऊंगा क्योंकि कल तो ठहरना ही है मुझे। ऐसे ही दो साल पहले भी चार दिन ठहरा था मैं यहां। तभी बुश्शर्ट वाले बाबू के यहां सोहर गूंजी थी और उसने एक पेड़ा लाकर मेरा मुंह मीठा कराया था। फिर दोबारा जब आया तो पता लगा कि वह बच्चा मर

गया । जाने कौन-से रोग की बात कह रहा था बुश्शर्ट वाला बाबू कि डाक्टर ने मां का दूध छुड़वा देने को कहा और डिब्बे का दूध उसे रास न आया, बच्चा सूखता ही गया । एक नंगा कांटा-सा हो गया था उसका शरीर । कहता था कि दवा-दारू में हाथ नहीं खींचा, बीवी की चूड़ियां भी रहन के पेट में गिरफ्तार हो गयीं पर वह नहीं बचा । मैं डेढ़ माह में फिर आया तो देखा कि उसकी भरे बदन वाली बीवी के पांव फिर भारी हैं, चेहरे पर आलस पुता है और साड़ी की पटलियां उसके शरीर पर चाय की गोल केटली की आकृति बना रही हैं । फिर मेरे तीन-चार बार आने के बाद वह बुश्शर्ट वाला बाबू एक लड़की का बाप बन गया । उसने लड़की का कोई नाम नहीं रखा था । मैंने छह महीने की उसकी लड़की को देखा कि, गुदगुदा बदन और सुंदर नाक-नक्श । उसी समय मैंने उसकी मां को भी देखा, वह फिर उसी हालत में थी, भरा बदन और भारी पांव, चेहरे पर आलस की रेखाएं और पटलियों की वर्तुल रेखा । कोई पखवारे बाद जब मैं आया और उसे कैलेंडर देने गया तो पूछा, "तुम्हारी बेबी कहां है ?" वह कुछ नहीं बोला । मैंने जब फिर पूछा तो वह इतना कह अंदर चला गया—"मर गयी" कहना अच्छा नहीं लगता । मैं बड़ा दुखी हो गया । चाचा से पूछा तो बोले, "इसकी बीवी के दूध में कोई खराबी है । उसकी बच्ची अच्छी भली थी पर एकदम सूख गयी और चल बसी ।" चाचा कह रहे थे, "इस बार इमाम हुसैन की मिन्नत मनवा दी है । चारेक रुपयों का एक ताजिया बनवाकर उससे रेवड़ी बंटवा दूंगा ।···

अब तो दरवाजा खुल ही गया । कौन है यह ? बुश्शर्ट वाला बाबू ही तो है, पर यह तो बड़ा खुश दिख रहा है···इतना ही खुश दो-ढाई महीने पहले भी तो था जब इसके घर पलने में तीसरा बच्चा आया था । इस लड़के की खुशी उसके चेहरे पर तो आ गयी थी पर उसने कहा था मुझे, "इस बार हम कोई खुशी नहीं मना रहे हैं, इसीलिए कि बच्चे को नजर न लग जाये ।" मैंने हमदर्दी से उसके कंधे पर हाथ रख दिये थे और मेरा जी हुआ कि इसे नये छपे कैलेंडर का एक और डिजाइन दे दूं । मैंने केवल इसी बार उसकी बीवी के पांव हलके देखे । जाने क्यों मेरा जी हुआ कि इसे कोई नेक सलाह दे दूं कि बीवी की सेहत का भी थोड़ा खयाल रखा करो । मिसाल के रूप में मैं स्वयं को ही रखना चाहता था कि मैंने तीन बच्चों का बाप बनते ही डाक्टर की सलाह मान ली, पर कुछ बोला नहीं क्योंकि दरवाजे में खड़ी उसकी बीवी दिख रही थी और उसकी साड़ी की पटलियां पैर के अंगूठे को छूती हुई सीधी लकीर बना रही थीं । वह मुझसे बोला था, "मेरी जिंदगी में मेरी बीवी के अलावा कोई और नहीं है ।" मैंने मजाक किया था, "और हर साल आने वाले बच्चे का जिक्र क्यों नहीं करते ?" उसे

इस प्रश्न ने जरूरत से ज्यादा गंभीर बना दिया था। उसके चेहरे की झुर्रियां दर्द से वैसे ही ऐंठ गयी थीं जैसे भीगने पर सन की रस्सी। वह बोला था, "हर साल आने वाले बच्चों का आना मैं कैसे रोकूं? नहीं रोक सकता, क्योंकि उन बच्चों के चले जाने का गम भी तो मुझे गलत करना पड़ता है।" मैंने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया था।

तो मैं इसके घर आने वाला था और इस भले आदमी ने फिर दरवाजा बंद कर लिया है। चाहूं तो अपने कमरे से उसके कमरे को जोड़ने वाले सदा बंद दरवाजे की सेंध में से देख सकता हूं कि वह क्या कर रहा है अंदर! पर ऐसा करना किसी की पीड़ा का मजाक उड़ाना होगा और मैं कंपनी का एजेंट हूं तो हूं पर किसी के दर्द को संदेहक आंखों से देखकर उसकी गहराई पर अविश्वास नहीं करूंगा। मैं फिर बिस्तर पर अधलेटा हो गया हूं। इस बार यहां बहुत रहा हूं। परसों किसी भी हालत में लौट जाना होगा। हेड आफिस में सारा अकाउंट देना है और आर्डर सप्लाई करवाने हैं। इन दिनों यहां कटी मजे में। मेहंदी की रात तो ऐसा जी हुआ कि मैं भी गाने लगूं। इमामबाड़े में खूब रोशनी हो रही थी। ताजिये के खन जगमग-जगमग कर रहे थे और गूगल की धूनी दूर तक फैल रही थी। इस बार खूब रेवड़ियां खायी हैं और चाचा के साथ रतजगार की है। कल बादल घिर आये। बुश्शर्ट वाले बाबू का बच्चा महीने-ऊपर से रोंव-रोंव कर रहा था। पिछले बच्चे की तरह वह भी सूख गया और कल जब कत्ल की रात थी तो वह नहीं रहा। किसी फिल्म में एक के बाद एक मौत जब देखता हूं तो उसकी कहानी लिखने वाले को वैसी अस्वाभाविकता के लिए गाली दिये बिना नहीं रहता पर असल जिंदगी में जब ऐसा हो तो किस कहानीकार को गाली दूं? मुझे उस क्षण सारी दुनिया सिर झुकाकर बोझ ढोने वाले गधे की तरह लगती रही। मैं शहर गया था। लौटा तो बुश्शर्ट वाले बाबू के तीसरे बच्चे का गुजर जाना सुना। दिन में चाहा था उसके घ हो आऊंगा।

अब फुरसत में हूं, जा सकता हूं उसके घर पर दरवाजा बंद किये है वह तो। बेचारे दोनों सिर से सिर लगाये रो रहे होंगे। कल रात उसकी भरे बदन वाली बीवी का रोना मैंने सुना था। उधर इमामबाड़े में शामे-गरीबां के उनवान से तकरीरें हो रही थीं, मर्सिये पढ़े जा रहे थे, लोग नौहाख्वानी में उदास हो रहे थे, सोजख्वानी में डूबे थे और इधर ये दोनों भी अपने फूल से बच्चे की याद में बेजार रो रहे थे। वे बहुत परेशान हैं, मुझे उनके घर जाना ही चाहिए। मैं उठता हूं तो देखता हूं कि चाचा इमामबाड़े की रोशनी में बैठे बांस छील रहे हैं। मैं पूछता हूं, "मुहर्रम तो हो गये न चाचा, अब इस रात को बांस क्यों

छील रहे हैं। ?" मुझे बैठने को कह वे बोल रहे हैं, "अगले मुहर्रम के लिए बांस छील रहा हूं। पहले जब सरकारी ताजिया बनता था न, तो यही करते थे हम, कि करबला से लौटे और शुरु कर दी अगले मुहर्रम की तैयारी। अब तो एक बांस छीलकर रख देते हैं··· ।" मैं उनकी बातें सुनता रहता हूं पर नींद बड़ी जोर से आ रही है तो उठ जाता हूं। बिस्तर पर जाते सोचता हूं कि कल सुबह ही पांचेक मिनट को हो आऊंगा, तभी बुश्शर्ट वाले बाबू के घर में से अजीब आवाजें सुनायी देती हैं—कहीं बेचारी मां बच्चे की याद में पागल न हो जाये ! मैं उठकर अंदर जाता हूं। उसके और मेरे कमरे को मिलाने वाले सदा बंद दरवाजे की सेंध में से झांकता हूं, जो कुछ देखता हूं उसे देखते ही अपने-आपको उस सेंध से दूर खींच लेता हूं। मैं सुनता हूं, उसकी पत्नी कह रही है, "देखो, कोई है, दरवाजा बजा रहा है।" बुश्शर्ट वाला बाबू कोई जवाब नहीं देता। मेरा मन करता है कि उस सेंध में से झांककर फिर देखूं पर मन को रोक लेता हूं क्योंकि विवाहित आदमी हूं, मेरे लिए यह सब जिज्ञासा की बात नहीं रही।

पत्नी फिर कहती है, "देखो, कोई है, दरवाजा बजा रहा है।"

बुश्शर्ट वाले बाबू की व्यस्त आवाज सुनायी पड़ रही है, "कोई नहीं है। वे तो इमामबाड़े वाले चाचा है, अगले मुहर्रम के लिए बांस छील रहे हैं।"

पांचवां पराठा

गिरिराज किशोर

बिट्टी बड़ी और बिट्टू छोटा। बिट्टी स्कूल जाते-जाते अब तीसरी क्लास में पहुंची है। मेहनती है, समझदार है, पर कभी-कभी घपला हो जाता है। बिट्टू के दाखिले की कोशिश दो साल से होती आ रही है। पिछले साल भी दाखिला नहीं हो पाया। बापू के पास न तो पैसे ही हैं और न किसी ऐसे मानस को जानते हैं, जो बिट्टू का दाखिला करा सके। मुहल्ले के पंद्रह-बीस मकानदारों ने बापू को पांच-पांच रुपया महीने पर रात को पहरा देने के लिए रखा है। वे उनसे ही जा कर कहते हैं। वायदा सब कर लेते हैं; पर हो कुछ नहीं पाता। बापू की नौकरी पहले एक मिल में थी। करीब दो साल से बाहर हैं। शुरू में कुछ दिन की बैठकी हुई थी। सभी मजदूरों को बैठा दिया गया था। बहुत से मजदूर तो काम पर ले लिये गये। बापू अभी तक बाहर हैं। बापू कभी-कभी बहुत दुखी होते हैं। अरे, काम की कमी के कारण बैठाते, तो बात थी। लगता है, काम करना ही काल हो गया। उन जैसे जितने भी बैठे आज तक उठ ही नहीं पाये।

मा आस-पास के घरों में काम करने जाती है। कुल मिला कर तीस-चालीस रुपये मां को मिल जाते हैं। वह अपने कर्मों को रोती रहती है। ढाई-तीन घंटे सवेरे काम करो, उतना ही शाम को। मिले तीस रुपल्ली! आदमी की देह और मेहनत का तो ब्याज तक नहीं मिलता। देह मूल ही नहीं, तो ब्याज क्या मिलेगा।

बिटिया स्कूल जाती है। उसे महीने में तीस दिन खाली पेट ही जाना पड़ता है। कभी बापू ड्यूटी पर से जल्दी आ गये और चाय बन गयी, तो पेट में चाय पड़ जाती है, नहीं तो वह भी नहीं। यही उसके दुख का सबसे बड़ा कारण है। वह चाहती है, दिन में मिले-न-मिले, पर स्कूल जाते समय जरूर पेट भरा रहे। स्कूल में सारा समय पेट में कुछ चूं-चूं करता रहता है। ध्यान बंटता है। मास्टर

जी बोलते रहते हैं उसका ध्यान पेट की चूं-चूं में लगा रहता है। और बच्चे हैं, वे खा कर भी आते हैं और पैसे भी लाते हैं। रिसेस में वह खेलती रहती है और बच्चों को चाट-चटोरे खाते देखती रहती है। पहले उसका एक दोस्त था। जो वह स्वयं खाता था, वही उसे भी खिलाया करता था। उसके इस भाव से उसकी आत्मीयता हो गयी थी। एक दिन वह पैसे नहीं लाया। दोस्त ने उससे कहा, 'आज तू खिला।' बिट्टी कहां से खिलाती। नहीं खिलाया। दोस्त ने उसे ताना दिया, 'तू भी तो कभी खिलाया कर या बस खाने ही खाने को है।' उसे बहुत रोना आया। फिर उस दोस्त ने बिट्टी को बुलाया भी, पर वह गयी नहीं। बैठने भी दूसरी जगह लगी। बोलना-चालना तो बंद-सा ही हो गया। वह बात उसने घर पर भी आ कर नहीं बतायी। पर अंदर-ही-अंदर उसे सालती रही।

उस घटना के बाद कुछ एक दिन तो बिट्टी चुप रही। एक दिन वह मां पर फट पड़ी। सब बच्चे घर से खा कर आते हैं। तू हमे न खाने को कुछ देती है और न ले जाने को। हम क्या करें। स्कूल में भूख लगती है। भूखे हम पर नहीं पढ़ा जाता। बापू के बारे में वह कभी कुछ नहीं कहती थी। उस दिन बापू पर भी गुस्सा आ गया। बापू मिल मे काम करने क्यों नहीं जाते ? जब मिल में काम पर जाते थे, तो खाने को मिलता था। अब घर में बैठे रहते हैं। कानपुर में इतने सारे मिल है। सब काम करने जाते है। मां को उसके इस बड़बोलेपन पर गुस्सा आ गया। उसने बिट्टी को खूब मार लगायी। बिट्टी रोते-रोते कहती रही, "मां अब माफ कर दे। अब नहीं कहूंगी। भूखी मर जाऊंगी, पर कभी खाना नहीं मांगूगी। किसी के लिए कुछ नहीं कहूंगी, मां गलती हो गयी।" मां ने तब तक नहीं छोड़ा जब तक मारने की होस निकल नहीं गयी।

पिटाई के बाद मां का मन बहुत कलपा। बच्ची का क्या कसूर था। बच्चा है, तो भूख लगेगी ही। आदमी बाहरी आग की अगन तो सह भी ले, पर अंदर की अगन नहीं सही जाती। बिट्टी का मन भी गिर गया। मां ने प्यार भी किया। वह नहीं बोली, तो नहीं बोली। भाई उसके चारों तरफ मंडराता रहा। वह उसे अनदेखा करती रही। गुलगुली करके बुलवाना चाहा, पर बिट्टी ने उसे धकेल कर हटा दिया। चुपचाप अपने स्कूल का काम किया और एन-गैन हो गयी।

चूंकि बिट्टी बड़ी थी और मां के हाथ से भरपूर मार खायी थी, इसलिए मां का मन उसी में अटका था। मां को उसी दिन एक घर से महीने की पगार के दस रुपये मिले थे। रुपये हाथ में आते ही उसे बिट्टी का ध्यान आया। उसे पराठे पसंद थे। थोड़ी देर तक उसके मन में ऊहापोह मची रही। पराठे बनाये, तो कई दिन की रोटी का जुगाड़ ये पराठे लील जायेंगे। लेकिन बिटिया की शक्ल उसकी आंखों के सामने रह-रह कर आ जाती थी। उसका दिल उतावला

हो उठता था कि वह उसे किसी तरह मुसकराते हुए देखे। बिट्टी को जो बात लग जाती है, तो लग ही जाती है। मुश्किल से ही निकलती है। उसकी नजर में बिट्टी को मुसकराते देखने का एक ही तरीका था। उसने चुपचाप पराठे बनाने का जुगाड़ बैठाया। पराठे ही उसके होठों पर मुसकराहट वापस ला सकते थे। लगभग एक कटोरी खुला डालडा खरीदा। डेढ़ रुपया उसमें चला गया। उसका दिल थोड़ा कसमसाया। सूखे आलू उसे ज्यादा पसंद थे। पर उसने ओलदार आलू बनाने का फैसला किया। चार आलू खरीदे। बड़े-बड़े थे। करीब-करीब आठ आने उसमें निकल गये। आटा खरीदा। दस रुपये में से केवल दो रुपये बचे। उसने सोच लिया कि वह सारा-का-सारा आटा पराठे में ही नहीं निबटा-येगी। थोड़ा बचा लेगी।

इस खरीद-फरोख्त के बाद उसे यह बात सालने लगी कि जरा-सी बात के लिए महीने भर की लगभग पूरी ही तलब फूंक दी। लेकिन अपने इस सोच के कपाट उसने जबरदस्ती बंद किये और उनसे पीठ अड़ा कर खड़ी हो गयी, कहीं फिर न खुल जाये। इस सबके बावजूद उसके कानों में लगातार कोई फुसफुसा रहा था। एक वक्त के खाने में आठ रुपये! तेरा दिमाग तो खराब नहीं हो गया था। इस फुसफुसाहट की तरफ से भी उसने कानों में रुई डाल लेने की ठान ली। फिर दूसरी बात उसे तंग करने लगी। बच्चों का लाड़-प्यार गरीबों के लिए वर्जित है, पाप है। अपने प्रति भी आदमी गुनाह करता है और उनके प्रति भी। इस बात से भी उसने मुंह-मोड़ लिया और झपटती चली गयी। चलते-चलते पति की हालत के बारे में सोचना चालू हो गया। कितना दौड़े, कितना पैसा खिलाया! चीज-बसत तक रहन चली गयी। इस कड़की में रोटी को हम खाते हैं, रोटी हमें खाती है। पराठों का मुंह तो और भी बड़ा होता है।

मां ने घर जा कर चुपचाप आटा उसना। सब्जी बनायी। नामचारे को ही घी डाला। थोड़ी रौनक आ जायेगी। पराठे सेकते समय भी घी छुआ भर ही। सबसे पहले बिट्टी को पुकारा, फिर बिट्टू को आवाज लगायी। बिट्टू पहले आ गया। बिट्टी थोड़ा नखरे के साथ आयी। शायद वह न भी आयी होती, लेकिन पराठे सिकने की गंध ने उसे बरबस अपनी ओर खींच लिया। पराठे बनते देख उसकी सारी नाराजगी मुसकान में बदल गयी। कुएं में कांटा डाल कर जैसे डोल निकाला जाता है, उसी प्रकार बिटिया की हंसी मां की खुशी को भी बाहर निकाल लायी। मां ने पराठा सेकना बंद करके उसे खींच कर गले से लगा लिया। और बिना कुछ कहे आंचल से आंखें पोंछने लगी। बिट्टू हंसे जा रहा था। बिट्टी को चिढ़ा रहा था—"ऐ बिट्टी दीदी, रोज मां से पिटा कर। तुझे मां के गले लगने को मिलेगा। हमें पराठा खाने को।" मां ने हंस कर उसे

डपट दिया, "चुप रह, बहुत बोलता है।"

चूंकि बिट्टी बड़ी भी थी और मां के हाथ से पिटी भी थी, इसलिए मां ने पहला पराठा बिट्टी के सामने ही परोसा। बिट्टू इस बात से चिढ़ गया। और बैठा-बैठा गुस्से में पैर चलाने लगा। जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया। हमें रोज मारती है, तो कुछ नहीं, आज दीदी को एक आध मार दिया तो उसके लिए पराठे बनने शुरू हो गये। दीदी को ही सब पूछते हैं। हमें कोई नहीं पूछता। हम तो फालतू हैं। जब हम पहले आये, तो पराठा दीदी को पहले क्यों दिया ? मां उसे समझाती जा रही थी—तू तो मेरा बहुत राजा बेटा है। दीदी का क्या, दीदी तो अपने घर चली जायेगी। तू तो मेरे पास ही रहेगा। जानेवाले को खिला-पिला के जल्दी से विदा कर देना चाहिए। दीदी चली जायेगी, तो दोनों मां-बेटे रोज पराठे बना कर खाया करेंगे। लेकिन बिट्टू जिद पर अड़ा था। बिट्टी का हाथ बार-बार टुकड़ा तोड़ने के लिये बढ़ता था और रुक जाता था। उसका चेहरा मुरझाता जा रहा था और खिसियाहट बढ़ती जा रही थी। आखिर उसने अपना पराठा उठा कर उसकी तश्तरी में डाल दिया और तेजी से कहा, "ले खा, भसक !"

बिट्टू ने झट से रोना बंद किया और पराठा खाने में जुट गया। खाते-खाते वह बिट्टी की तरफ देखता जा रहा था। हालांकि उसकी आंखें गीली थीं, पर वह हंस रहा था। पराठा बनाते-बनाते मां अब उसे समझाने लगी थी—इसकी बात का बुरा मत मान। यह तो जड़-मूल से बिगड़ गया। दिन भर ढोर की तरह घूमता है। जिस दिन यह स्कूल जायेगा, गंगा नहाऊंगी। इतना जलकुक्कड़ है कि बहन के मुंह में पानी की घूंट तक जाते नहीं देख सकता। बिट्टू खाने में और बिट्टी को तरह-तरह का मुंह बना कर चिढ़ाने में मस्त था। मां की बात का उस पर रंच मात्र भी असर नहीं हो रहा था। मां ने अगला पराठा बिट्टी को परोस दिया। बिट्टी ने आंखें पोंछ कर पराठा खाना शुरू कर दिया। बिट्टी ने जैसे ही खाना शुरू किया, बिट्टू फौरन बोला, "बिट्टी दीदी को तुम पराठे दो या न दो, मैं पेट भर कर पराठे खाऊंगा।"

मां का चेहरा थोड़ा उतर गया। आग चेतन थी। पराठे सिकते समय खूब धुआं उठ रहा था। मां पहले उसे देखती रही, फिर बोली, "ज्यादा पराठे खाने से पेट खराब हो जाता है। टट्टियां आने लगती हैं। जिनको पराठे खाने की आदत होती है, उनकी बात और होती है। पराठे, वो भी गेहूं के ''हजम करने को फौलाद का पेट चाहिए। बस दो-दो मिलेंगे। बापू भी तो खायेंगे ना।" बिट्टी ने मां की तरफ देखा, गरदन नीची करके खाती रही। मां ने भी बिट्टी को अपनी तरफ देखते हुए देख लिया था।

बिट्टी का पहला पराठा खत्म हो गया था। तवे पर पराठा सिक कर तैयार था। बिट्टू का पराठा भी खत्म हो रहा था। एक-दो टुकड़े बाकी थे। मां ने जल्दी से बिट्टी की तश्तरी में डाल दिया। बिट्टी की बांछें खिल गयीं। बिट्टी ने गरम की परवाह की, न ठंडे की। जल्दी से टुकड़ा तोड़ा, आलू के पानी में भिगोया और खाना चालू कर दिया। बिट्टू ने शोर मचा दिया—फिर बिट्टी दीदी को दे दिया। हम भी खा चुके थे। मां ने उसे झिड़का—कच्चा ही दे दूं क्या ? सिकते-सिकते ही तो सिकेगा। पर वह बुड़बुड़ करता रहा—जब हमें कोई चाहता ही नहीं, तो हमें भगवान अपने पास क्यों नहीं बुला लेता ! मां जोर से चिल्लायी—अगर अब फिर ऐसी बात कही, तो जबान पर गरम-गरम चिमटा रख दूंगी। भगवान के बुलाने के लिए ही तो हड्डियां खटा-खटा कर पाल रहे हैं तुझे। पराठा सिक गया था। उसे उसकी रकाबी में रख दिया। बिना मां की डाट का खयाल किये बिट्टू पराठा खाने में लग गया।

मां की नजर बार-बार बिटिया पर जा रही थी। आधा पराठा तो उसने जल्दी-जल्दी खाया था, अब वह छोटे-छोटे टुकड़े तोड़ रही थी। इस ढंग से लग रहा था कि वह बचे हुए पराठे को देर तक खाना चाहती है। सब्जी भी वह ज्यादा नहीं लगा रही थी। अधिकतर झोल में ही टुकड़ा भिगोती थी। कभी-कभी आलू का टुकड़ा तोड़ कर पराठे के टुकड़े के साथ खा लेती थी। बिट्टू जल्दी-जल्दी खा रहा था। वह अगला पराठा लेने के चक्कर में था। वह इस बात के प्रति भी शंकित था कि कहीं मां दीदी की तश्तरी में अगला पराठा भी न परस दे और उसकी छुट्टी हो जाये। इस बीच मां एक पराठा सेक कर बोहिये में रख चुकी थी। दूसरा तवे, पर था और तीसरा चकले पर। पराठा खत्म-खत्म होते-होते बिट्टी ने मां की तरफ देखा। मां की आंख झिप गयी। बिट्टू अपना पराठा खत्म करके तीसरे पराठे के लिए जिद करने लगा। मां बड़े शशोपंज में थी। फिर भी उसने उसे समझाना चाहा—बस, और नहीं।

बिट्टू क्योंकि छोटा था और कम समझ था, इसलिए जिद्दी भी था। वह इस बात पर उतारू हो आया कि चाहे जो हो, वह पराठा जरूर लेगा। मां का ध्यान बार-बार खत्म होते आटे और घी पर जा रहा था। पराठे-वराठे बनाने में यही तो मुसीबत होती है। चाहे पेट भर जाये, नियत नहीं भरती। आज सारा आटा खत्म कर दिया, तो कल का ठिकाना कहां से होगा। फिर उधार। वह बोली, "अरे बेटा, जीभ की खवाई पेट नहीं अटने देती, अपने पेट की समाई देख।" मां की बात बिट्टू के कानों तक पहुंच ही नहीं रही थी। आखिर मां ने आटे की छोटी-सी लोई बनायी और एक छोटा-सा पराठा बना कर उसे दिया—मेरा छोटा-सा बेटा और उसका छोटा-सा पराठा।

बिट्टी खा तो चुकी थी, पर बैठी थी। कटोरी में सब्जी भी बची रखी थी। कह कुछ नहीं रही थी। मां बार-बार नजर बचा कर उसे देख रही थी। चार पराठे सिक चुके थे। पांचवां बेल रही थी। बिट्टू वह पराठा भी हप्प कर गया था। वह मां से एक पराठा और मांगने को ललका। इस बार मां ने सख्ती से डांट दिया, "जाता है या बताऊं।"

मारने को बेलन उठाया, तो वह नौ दो ग्यारह हो गया। बिट्टी हंस दी। मां को भी हंसी आ गयी। धीरे से बोली, "बहुत शैतान हो गया।" फिर धीरे-धीरे सुस्त होती गयी और दुख भरे स्वर में बोली, "मां-बाप का नाम ओढ़े से क्या लाभ, जो बच्चों को भर पेट रोटी भी न दे सके। बांझ होती, तो धीरज रहता कि नहीं हुए। हे भगवान, बच्चे दे तो ऐसा मत कर कि बच्चे पराठे जैसी छोटी चीज को भी तरस जायें।" और पल्ले से आंसू पोंछ लिये।

बिट्टी चुपचाप बैठी मां को देख भी रही थी और बात भी सुन रही थी। पांचवां पराठा सिक चुका था। उसे भी मां ने बोहिये में रख दिया, तो बिट्टी धीरे से बोली, "आटा तो बचा है, एक और बना दो।"

मां थोड़ी देर उसी तरह चकला-बेलन पर हाथ धरे चुप्प बैठी रही। तवा खाली जलता रहा। घी लगा होने के करण धुआं भभक कर उठ रहा था और मां के मुंह पर से गुजर रहा था। बिट्टी अपने आप ही बोली, "इस समय नहीं खाऊंगी, सवेरे के लिए रख दूंगी।"

"हम इतने बड़े आदमी नहीं कि बच्चों को नाश्ता कराके स्कूल भेजे। दो जून की रोटी मिल जाये, तो बहुत है। बार-बार खाने वाले दूसरों का हिस्सा भी खाते हैं। अपने से ही संतोष करना चाहिए।,

बेटी का चेहरा उतर गया। सब्जी का बचा हुआ झोल पी कर वह उठने लगी। उसके उठने के ढंग से लगा कि उसके घुटने उसे उठने नहीं दे रहे। मां उसे उठते देखती रही। उठ कर चलने लगी, तो मां ने पुकारा, 'सुन।' वह लौट आयी। मां ने पांचवां पराठा उठा कर उसे दे दिया, 'ले ··बिट्टू को मत बताना। सोचा था, तेरे बापू को भर पेट खिला दूंगी····वैसे उनकी खुराक ही अब कहां रही। पांच तो बहुत हैं····चार ही खा ले, तो गनीमत है।'

बिट्टी दौड़ी-दौड़ी गयी और कागज ला कर, पराठा उसमें लपेट लिया। जिस कोठरी में सब सोते थे, दबे पांव वहां गयी और पराठे को छिपाने का जुगाड़ बैठाने लगी। जमीन पर बिस्तर बिछे थे। बिस्तर क्या, गूदड़ ही था। उसने चौकन्नेपन से चारों तरफ देखा। बिट्टू आसपास कहीं नहीं था। जिधर की तरफ वह सोती थी, उधर ही उसने कागज में लिपटा पराठा घुसा दिया। थोड़ी देर वह उसी पर बैठी रही। उसे बैठे-बैठे ही महसूस हुआ कि पराठा अभी गरम

है। कल सवेरे स्कूल जाते हुए खा कर जायेगी। अगर गरम नहीं भी रहा, तो मुलायम तो रहेगा। पराठा खा कर जाने में कितना मजा आयेगा। कोई कहेगा भी कि चलो कुछ खा लो, तो कह दूंगी कि घर से खा कर आयी हूं। फिर रुक कर बुदबुदायी—आधा उसके लिए ले जाऊंगी। ताना देता था, कभी खिलाया भी करो। पर आधे का क्या ले जाना! तो फिर पूरा ले जाऊंगी। उसने फिर गूदड़ उठा कर देखा। पराठा कागज में लिपटा यथावत रखा था। उसका मन नहीं माना। उसने उसे निकाल लिया। कागज हटा कर देखा, चिकना हो गया था। न जाने क्या सूझा कि एक तरफ से तोड़ कर चट्ट से खा गयी। रूखा ही सवाद लगता है। बेकार ही लोग पराठा सब्जी से खाते हैं। बाकी उसने जल्दी से कागज में लपेटा और फिर रख दिया। थोड़ी देर वह बिना मुंह चलाये उसी तरह चुपचाप बैठी रही। फिर धीरे-धीरे मुंह चलाना शुरू किया। काफी देर तक उसी तरह चलाती रही।

बिट्टू मां के पास पहुंच गया था। उसे फिर भूख लग आयी थी। मां उसे डांट रही थी।

बापू आने वाले थे। बापू शाम को लेमनजूस वगैरह की एक छोटी-सी दुकान ले कर सड़क के किनारे बोरी पर बैठ जाते थे। आठ-दस आने मिल गये, तो मिल गये, नहीं तो डब्बा और बोरी ले कर आठ बजे तक घर आ जाते थे। बापू के आने के समय बिट्टी बाहर निकल कर खड़ी हो जाती थी। जैसे ही उन्हें आता देखती थी, वैसे ही आगे बढ़कर उनके हाथ से सामान ले लेती थी। उस दिन बापू थोड़ा जल्दी आ गये, वह बाहर जा कर सामान नहीं ले पायी। बापू ने आते ही पूछा, 'आज बिट्टी कहीं गयी है क्या?'

'नहीं तो!' मां ने कहा।

बापू स्वयं ही बोले, 'लगता है, मैं ही आज जल्दी आ गया।' मां ने कहा तो कुछ नहीं, पर मां हंस दी।

बापू हाथ-पैर धोने में लग गये। बिट्टी ने जल्दी से पटरा बिछा कर लोटा और थाली सजा दिये। मन-ही-मन सोचती रही कि बापू को भी पराठे पसंद हैं। पराठे देख कर बापू बहुत खुश होंगे। मिल में काम करते थे, तो तीसरे-चौथे पराठे बनवाया करते थे। अचार के साथ पराठा खाना उन्हें बहुत अच्छा लगता था। तब मां अचार भी डाल देती थी। अब तो कभी-कभाक काम वाले घरों से दो-चार फांक मांग लाती है।

बापू खाने बैठे। मां ने सब्जी और पराठे परोसे, तो उसकी आंखों में खुशी झलक पड़ रही थी। लेकिन बापू को अपनी तरफ बुझी-बुझी आंखो से देखते हुए पा कर उसकी खुशी दोपहर बाद की धूप-सी सिमटती चली गयी। बापू धीरे से बोले, 'बिट्टी की मां, आज पराठे बना लिये…!' वाक्य को अधूरा छोड़ कर वे खाने में लग गये। खाते-खाते बोले, 'बहुत घी लग गया होगा…पराठा कम्बख्त बहुत घी पीता है। पानी में सिकता होता, तो सबके मुंह पड़ जाता।' थोड़ी देर बाद फिर पूछा, 'बच्चों ने खाये या नहीं?' मां ने गरदन हिला दी।

जब खाने के ओड़ पर पहुंचे, तो मां ने बताना शुरू किया। आज बिट्टी को मार दिया। उसकी गलती भी नहीं थी। बच्चे को भूख लगी हो और खाने को ना मिले, तो दरक तो होती है। वह बोल गयी। बोल क्या गयी, उसने बुलवा दिया। मैं मार बैठी। बहुत रोयी बेचारी। रम्मी बाबू की बहू जी ने महीने के दस रुपये दिये थे। बहुत रोका, पर मन नहीं माना। सोचा, तुम्हें भी अच्छे लगते है, बिट्टी और बिट्टू भी चाव से खाते हैं। हिम्मत कर के जुगाड़ बैठा ही दिया। बापू चुपचाप खाते रहे। चौथा पराठा भी उन्होंने ले लिया। खा कर उठे, तो धीरे से बोले, 'देखो, आज के ये पराठे कितने दिन तक सहारा देते हैं।' और हल्की-सी हंसी हंस दिये।

'तुमने नहीं खाया।' हाथ धो कर बापू ने पूछा।

'सवेरे से पेट नरम था। इसीलिए भात डाल दिया।'

बापू ने मां की तरफ देखा और बाहर निकल गये। बिट्टू सो गया था। बिट्टी गटुर-गटुर सब देख रही थी।

अगले दिन सुबह बापू चौकीदारी से थोड़ी देर से लौटे थे। असल चौकीदारी का समय तो पांच-साढ़े पांच बजे तक का ही था। आजकल पांच बजे दिन निकल आता था। जिन घरों की चौकीदारी करते थे, उनमें से कोई दूध लाने को कह देता था। कोई चाय की पत्ती मंगाने भेज देता था। इस बहाने बापू को भी दो घूंट चाय मिल जाती थी। कभी-कभी बासी-कूसी खाना भी दे देते थे। खाना बापू वहां नहीं खाते थे। घर ले आते थे। मां को सवेरे ही छह बजे से पहले ही घरों का काम निबटाने के लिए निकल जाना होता था। बिट्टी अपने आप ही तैयार हो कर स्कूल जाती थी। बिट्टू या तो सोता रहता था या फिर उठ कर बहन से झगड़ा करता था—भूख लगी है। बापू अगर समय से आ जाते थे, तो चाय-वाय मिल जाती थी। नहीं तो बिट्टी सात बजे तक, बिट्टू को

घर छोड़ कर स्कूल चली जाती थी। स्कूल जाना उसे पसद था। वहां उसे खुलापन लगता था।

बिट्टी सवेरे जल्दी उठ गयी। उठते ही उसने सबसे पहले बिस्तर हटा कर पराठा देखा। कागज में लिपटा रखा था। उसने ज्यादा करोदा-करादी नहीं की। रखा देख कर निश्चित हो गयी। जंगल चली गयी। जंगल के लिए उसे थोड़ा दूर जाना पड़ता था। बमपुलिस की टट्टियों में तो सवेरे भीड़ लगी होती थी, इसीलिए वह निबटने घाट पर चली जाती थी। बिट्टू तो वहीं नाली के किनारे बैठ कर फिर लेता था। बिट्टी अब थोड़ी बड़ी हो चली थी। लौट कर वह जल्दी-जल्दी नहायी। किताबें इकट्ठी की। वह अपने इस निर्णय से खुश थी कि चाहे उसे स्वयं आज खाने को मिले या न मिले, पर वह उसको जरूर पराठा खिला कर मानेगी। उस दिन उसने ऐसी बात क्यों कही थी ? उसने बिट्टू की तरफ देखा। वह आंखें बंद किये सो रहा था। बहुत संभल कर उसने बिस्तर हटाया। पराठा गुम था। सिर्फ कागज पड़ा था। उसने सोचा, हो सकता है, पराठा नीचे खिसक गया हो। उसने पूरा-का-पूरा बिस्तर पलट दिया। पराठा वाकई नदारद था। कहां चला गया ? कौन ले गया ? उसकी नजर बिट्टू पर गयी। वह अधखुली आंखों से उसे देख रहा था। उसके देखते ही उसने आंखें कस कर बंद कर ली और गहरी नींद में सो गया।

बिट्टी को लगा, जैसे किसी ने उसे बिजली का करंट छुआ दिया। उसने पूछा, 'मेरा पराठा तूने खाया।'

वह सोता हुआ बना रहा।

वह उसके पास गयी और जोर-जोर से हिलाने लगी। उसने आंखें खोल कर बिट्टी की तरफ इस तरह देखा, जैसे नींद में हो और आंख भींच लीं।

बिट्टी बार-बार चिल्ला रही थी, 'बोलता क्यों नहीं···? तूने मेरा पराठा खाया ? बोल···बोल···बोल···!' उसने उसके बाल पकड़ कर खींचने शुरू कर दिये। बाल खिंचे, तो उसने आंखें खोलीं। वह पूरी तरह रुआंसा हो आया था।

'बता, पराठा कहां गया ?'

वह पागलों की तरह चीखने लगी, 'बोल····बोल···तूने मेरा पराठा क्यों खाया ?'

वह धीरे से बोला, 'भूख लगी थी, दीदी।'

बिट्टी को और जोर से गुस्सा आ गया। वह उसके ऊपर चढ़ बैठी। और उसकी गरदन पकड़ कर दे-दे कर मारने लगी। बिट्टू को रोते-रोते खांसी आने लगी। पर वह रुकी नहीं।

बापू आ रहे थे। उनके डंडे की आवाज दूर से सुनाई पड़ने लगती थी। वह उसे छोड़ कर उठ गयी। उठ कर बिट्टू की तरफ देखा। बिट्टू की जीभ थोड़ी बाहर निकल आयी थी।

उसने गौर से देखा और जीभ को अंदर करने में लग गयी।

सहारा

रामनारायण शुक्ल

बचपन की बातें भी अजीब होती हैं। कितनी छोटी-छोटी बातों को लेकर हम लोग कितना खुश हो जाते थे, आज सोचकर आश्चर्य होता है। एकाएक कहीं कुछ पढ़ या जान लेने पर ढेर सारा सुख हमारे पास आ जाता था।

मिडिल स्कूल की परीक्षा में मुझे स्कालरशिप मिली थी। हिन्दी, भूगोल तथा गणित में डिस्टिन्कशन मिला था।

भूगोल, सच ही मेरा बहुत प्यारा विषय था। मेरे पास भूगोल की दो किताबें थीं और दोनों का अक्षर-अक्षर मुझे याद था।

और उस दिन मास्टर साहब ने भूगोल के घंटे में कहा था—सहारा बहुत ही बड़ा रेगिस्तान है। दूर-दूर तक दिखाई पड़ने वाली बालू के सिवा यहां कुछ भी नहीं है। इसमें यात्रा करना बहुत ही कठिन है। लोग प्यास से घुट-घुटकर यहां मर जाते हैं। बालू की ऐसी आंधियां आती हैं कि कोई उनके बीच जीवित नहीं रह सकता।

और मैं सुनता ही रह गया था। शाम को घर आकर मैंने सहारा के बारे में विस्तार से पढ़ा था। पढ़कर रोमांच हो आया था। यह सोचकर मुझे एक अजीब-सी खुशी हुई थी कि मेरा जन्म सहारा में नहीं, हिन्दुस्तान में हुआ है।

—गंगा-जमुना का द्वाबा बहुत ही अधिक उपजाऊ है। मैं पढ़कर खुश हुआ था। जन्म से लेकर आज तक के सारे दिन मेरे यहीं बीते थे।

—बंगाल बहुत हरा-भरा प्रदेश है। कलकत्ता हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा शहर है। मेरे पिता तथा परिवार के बहुत सारे लोग कलकत्ते में ही रह रहे थे। और मैं यह सोच-सोचकर खुश हुआ करता था कि हरे-भरे बंगाल के बीच बसे हुए कलकत्ते में मै जब चाहूं रह सकता हूं।

सहारा नहीं, गंगा-जमुना का द्वाबा और बंगाल। यह विचार ही मुझे किसी सुखद स्वप्न की सीमा तक पहुंचा देता था।

फिर भूगोल की वे किताबें न जाने कहां चली गईं और मैं एकाएक बड़ा हो गया। आज सोचता हूं तो भूगोल की छोटी-सी किताब के दो पेज पढ़कर ढेर सारी खुशियों से भर जाने वाले समय से ईर्ष्या होती है।

दोपहर को थोड़ी देर के लिए नींद आ गई थी। उठा तो सारा बदन पसीने से भीगा था। कुछ प्यास-सी लगी थी। इच्छा हुई प्राण को आवाज दूं। शायद बगल के कमरे में बैठा पढ़ रहा होगा। फिर याद आया, वह तो इस समय एस्प्लेनेड में होगा। हाथ में बैग लिये चौरंगी की किसी छोटी दुकान के सामने खड़ा होगा।

गर्मियों में यह टीन भी कितनी अधिक तपती है। छत में बने इन दो कमरों में जाड़ा, गर्मी, बरसात किसी में भी सुविधा नहीं होती। गर्मियों में टीन तपती है, सर्दियों में ठंडक अधिक होती है और बरसात में जगह सिकुड़कर बहुत छोटी हो जाती है।

सुबह सब लोग कितने अधिक चिंतित हो गए थे। थर्मामीटर का पारा 104 में जाकर टिक गया था। मैंने उनसे कहा भी कि यह थर्मामीटर मैंने चौरंगी में किसी फेरीवाले से बारह आने में खरीदा था और इसका विश्वास नहीं, लेकिन उन्हें थर्मामीटर पर विश्वास था, मेरी बात पर नहीं। शायद वे सोच रहे थे कि मैं यह सब केवल उन लोगों को बहलाने के लिए ही कह रहा हूं।

सुभाष की ओर देखकर लगता था, जैसे वह अब रो ही देगा। प्रकाशजी एकाएक बहुत व्यस्त हो गए थे।

सब लोग चुप थे। मुझे ही कुछ कहना था। 'आप जाइए प्रकाशजी!' मैंने चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट लाकर कहा, 'मेरा नुकसान तो हो ही रहा है, आपका क्यों हो। साधारण बुखार है। यदि जरूरत हुई तो मैं प्राण या सुभाष को रोक लूंगा।'

प्रकाशजी मेरी ओर इस तरह देखते हैं, जैसे सच ही जाने की आज्ञा चाह रहे हों। सुभाष, प्रकाशजी का छोटा भाई है और प्राण मेरा। प्रकाशजी करीब मेरी ही उमर के हैं। फिर भी अनजाने ही सब लोगों से मिलकर मुझे अभिभावक का दर्जा दे दिया है।

लगभग तीन का समय है। प्यास धीरे-धीरे बढ़ रही है। उठने में कुछ कमजोरी का अनुभव कर रहा हूं।

प्राण, न्यू मार्केट, चौरंगी तथा लिंडसे स्ट्रीट की छोटी-छोटी दुकानों में घूम रहा होगा। सुभाष लास्ट पीरियड खतम होने की प्रतीक्षा में क्लास में बैठा होगा।

अब नहीं ही उठूंगा। सुभाष आ जाएगा तो पानी उसी से मांग लूंगा।

सुभाष जा नहीं रहा था। मैंने एक तरह से उसे डांटकर ही जाने के लिए मजबूर किया।

पिछले तीन दिनों से प्रकाशजी के चेहरे की ओर देखा नहीं जाता। उनके जैसे स्वस्थ व्यक्ति के चेहरे में चिंता देखकर सच ही बड़ा आश्चर्य होता है।

सब परीक्षाएं करीब-करीब खतम हो चुकी हैं और कोचिंग इन्स्टीट्यूट अब बंद ही होने वाला है। पिछले साल भी हुआ था, लेकिन तब उनके कुछ मित्र गांव चले गए थे और बदले में बहुत सारे अच्छे ट्यूशन उन्हें मिल गए थे। इस साल ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

प्रकाशजी उन तकलीफों की ओर इशारा करते हैं, जो कोई अच्छा-सा काम न मिलने पर उन्हें होंगी। मैं चुपचाप सुनता रहता हूं।

'आपने कभी इम्प्लायमेंट एक्सचेंज में नाम लिखाया है ? मेरा ख्याल है, इस तरह के पार्ट-टाइम कामों से बंधी नौकरी आपको अधिक सूट करेगी।' मैं कहता हूं।

'डेढ़ साल पहले मैंने नाम लिखाया था। आज तक एक भी कॉल नहीं आया।'

'अखबारों का वाण्टेड कालम भी देखा जा सकता है।'

'बी० ए० की परीक्षा के बाद लगातार कई महीनों तक मैंने यही किया है। कभी कुछ नहीं हुआ। थोड़ा-सा भी पैसा होता तो बिजनेस कर लेता।'

मैं उनके चेहरे की ओर देखता हूं। थोड़े-से पैसों से बिजनेस किया जा सकता है। थोड़ी-सी जमीन पर खेती की जा सकती है। जिनके पास दोनों में से कुछ नहीं होता, वे नौकरी करने के लिए बाध्य हैं। और नौकरी का मिलना, न मिलना बराबर किसी अदृश्य शक्ति के हाथ रहता है। रेगिस्तान में पानी की खोज का जो मार्मिक वर्णन कभी मास्टरजी ने किया था, वह याद आ रहा है।

'विश्वास मैं सबका करता हूं। यदि न करता होता तो कैसे मोहनलाल को डेढ़ सौ के स्ट्रैप्स क्रेडिट में दे देता।' मैं कहता हूं।

आदित्य धीरे से मुस्कराता है। 'सवाल विश्वास या अविश्वास का नहीं, तुम्हारे पैसे मिलने का है। और वे पैसे अब शायद ही मिलें। तुमसे किसी दिन मैंने कहा था कि किसी को उधार देने से पहले मुझसे जरूर पूछ लिया करो।'

'आखिर मैं करूं क्या ? इस तरह धीरे-धीरे करके आठ-नौ सौ रुपये उधार हो गए।'

आदित्य फिर मुस्कराता है। 'करना क्या है ! बिजनेस बंद कर दो। तुम्हारा नौ सौ रुपये बाजार में उधार है और तुम्हारे ऊपर डेढ़ हजार का उधार है। तब भी तुम छः सौ के फायदे में रहोगे।'

मेरा सिर चकराने लगता है। वर्षों बाद भी ऐसी बातें सुनने का अभ्यास नहीं हो पाया। आदित्य की मुस्कराहट बढ़ती जाती है।

'तुम जानते हो, मैं कभी ऐसा नहीं कर सकता। तुम मुझे दस साल से जानते हो और फिर भी ऐसी बात कहते हो।'

'दस क्या, सौ साल से जानता होता, तब भी यह कहता। कौन नहीं पवित्र और स्वस्थ जीवन बिताना चाहता! लेकिन उसके लिए कोई आधार भी तो हो।'

मैं कुछ नहीं कहता। मुझे प्रकाशजी का ख्याल आ जाता है।

'वर्षों पहले मैंने कहा था, दुकान मत बेचो। दूसरों की तरह इसे स्मगल गुड्स से भर दो। अपने-आप चलने लगेगी। तुमने मेरी बात नहीं सुनी। और फिर इसी चौरंगी में मैंने तुम्हें बैग में स्मगल गुड्स लादकर घूमते देखा है। दुकानों में सप्लाई करते देखा है।'

मैं कुछ नहीं कहता।

'व्यवस्था ने हमें जकड़ दिया है। हम वही सब करने के लिए बाध्य हैं जिनके लिए हमारा मन स्वीकृति नहीं देता।'

मैं खड़ा हो जाता हूं। मैं जानता हूं, उसकी सारी बातें गलत होते हुए भी आज सही दिख रही हैं।

जब भी कभी प्राण गुस्से में होता है, मेरे चारों ओर भय-सा छा जाता है। एक अजीब किस्म का डर। उसकी हर एक तकलीफ के लिए मैं अपने को अपराधी महसूस करता हूं।

'मैं यह काम नहीं करूंगा। सारा दिन बैग हाथ में लिये घूमते रहने पर भी कुछ नहीं होता। तुम मेरे लिए किसी से कहकर किसी नौकरी का प्रबंध क्यों नहीं करते?'

तीन साल पहले उसने सेकंड डिवीजन से इंटर किया है। आगे नहीं पढ़ा पाया, इसका दुख आज तक है। बी० ए० हो जाता तो शायद नौकरी मिलने में आसानी होती।

'तुम थोड़े दिनों के लिए गांव चले जाओ। वहां मन भी बहल जाएगा और स्वास्थ्य भी ठीक हो जाएगा। इस बीच मैं भी देखता हूं, दूसरा क्या किया जा सकता है।'

वह कुछ नहीं कहता। उसके पीले से चेहरे का भाव कभी नहीं बदलता। केवल उसमें एक हल्की-सी कंपकंपाहट तभी होती है जब वह गुस्से में होता है।

सैकड़ों रातें मैंने प्राण के बारे में सोचते हुए बितायी हैं। वह हमारा सबसे

छोटा माई है। मेरा जीवन यूं ही बीतता चला जा रहा है। क्या उसके साथ भी यही सब होगा ? मैं सोचकर चौंक जाता हूं।

प्राण गांव नहीं जाता। जब भी कभी मैं उससे गांव जाने की बात कहता हूं वह बेचैन-सा हो जाता है।

ऐसे ही किसी दिन उसने मुझसे कहा भी था। 'आप क्या सोचते हैं, गांव जाकर किसी को अच्छा भी लग सकता है ? वहां हत्या, मार-पीट, भुखमरी, फौजदारी के अलावा और भी कुछ है, मैं नहीं जानता। जिन गांवों के बारे में हम किताबों में पढ़ते आये हैं, वे हिन्दुस्तान में कहीं नहीं है।'

मैं कुछ नहीं कहता। सोचता हूं, कल आदित्य से कहूंगा। उसके मामा किसी आयल मिल के प्रोप्राइटर हैं। शायद कुछ हो जाए।

इधर कुछ दिनों से प्रकाशजी काफी प्रसन्न दीखते हैं। किसी प्राइवेट हाई-स्कूल में काम मिलने की उन्हें पूरी उम्मीद है। सेक्रेटरी से बातचीत हो चुकी है और उन्होंने पूरा आश्वासन दिया है कि वे उन्हें रख लेंगे।

वे आजकल रोज रात गये तक काफी बातें करते हैं। सुभाष को इंग्लिश में ऑनर्स दिलाने को कहते हैं। कहते हैं, यदि अच्छी तरह एम० ए० कर ले तो कहीं लेक्चरर हो ही जाएगा।

अक्सर हम लोग जब कभी हल्के मूड में होते है, तो एक-दूसरे की शादी की चर्चा करते हैं। गांव से प्रकाशजी के पिता का पत्र अक्सर आता है कि उन्होंने उनके लिए एक अच्छी-सी लड़की देख रखी है। वे ऐसे पत्रों का उत्तर नहीं देते। यों भी वे घर बहुत ही कम पत्र लिखते हैं।

उनका एपाइंटमेंट आठ-दस दिन में होने ही वाला है। सारी बातें हो चुकी हैं। वे अक्सर इस विषय पर बातें करते हैं कि काम शुरू करने के बाद किस ट्यूशन को रखेंगे और किसे छोड़ देंगे। कभी-कभी वे यह भी कहते हैं कि मुझे चाहिए कि प्राण का एडमीशन थर्ड इयर में जरूर करवा दूं। और कहीं नहीं तो ग्रेजुएट हो जाने के बाद किसी हाईस्कूल में तो काम मिल ही जाएगा।

उनके चेहरे पर छा गई खुशी देखकर लगता है जैसे रेगिस्तान में यात्रा करते हुए उन्हें कहीं पानी दिख गया हो।

नहीं, वह पानी नहीं था। वह रेत ही थी, जो पानी जैसी दिख रही थी।

उस रात उनके चेहरे की ओर देखा नहीं जा रहा था। थोड़ी देर पहले ही उन्होंने हम सबको बताया था कि स्कूल में जिस जगह उन्हें लिया जाने वाला था, वह मर गई। सेक्रेटरी राजस्थान के हैं। उन्हें वहीं का कोई आदमी मिल गया और उन्होंने प्रकाशजी को दिये गए वचन का ख्याल न कर उसे रख लिया।

क्या चार आदमियों का यह काफिला यूं ही भटकता रहेगा ?

जीवन में कोई उद्देश्य हो तो सब कुछ किया जा सकता है, किसी ने मुझसे कहा था। और मैं सोचता हूं, उद्देश्य की बात क्या ऐसी परिस्थितियों में सोची जा सकती है ?

गांव से मेरे पास पत्र बहुत कम आते हैं। कभी बहुत ही आवश्यक कोई बात हुई, तो पिता का पत्र आता है। लेकिन प्राण के पास अक्सर पत्र आते रहते हैं। गांव में उसके एक मित्र हैं, जो उसे अक्सर पत्र लिखते हैं। शादी-ब्याह से लेकर सूखा-बाढ़ तक की खबरें। गांव से आये किसी पत्र को पढ़कर खुश हुआ जा सकता है, ऐसा आज तक मैंने नहीं देखा।

समय बीतता चला जा रहा है। हम चार लोगों की नियति क्या है ? किसी भी तरह का उल्लास भटककर भी हम लोगों के जीवन में नहीं आया।

'आजकल रेलवे में क्लर्की मिलनी बहुत ही आसान है।' उस रात प्रकाश जी ने आते ही कहा, 'आप प्राण के लिए कोशिश कीजिए। अभी तीन-चार दिन पहले मेरे गांव के एक लड़के का एपाइंटमेंट हुआ है। हवड़ा में एक आदमी है, उसे पांच सौ रुपये देने पड़ते हैं। बाकी सब काम, कापियों में नम्बर बढ़वाने से लेकर इंटरव्यू तक ठीक करने का, वह कर लेता है। कुल मिलाकर शुरू में एक सौ तीस मिलेंगे। चार-महीने की तनख्वाह उसी को दे देंगे तो क्या बिगड़ जाएगा।

लगता है आदित्य की बातें ही ठीक हैं। रेगिस्तान में भटकते लोगों के पास नैतिकता नहीं होती।

'पांच सौ रुपये देने की बात नहीं, लेकिन सोचकर देखिए कितना बुरा लगता है, प्रकाशजी !'

'मन गवाही नहीं देता। अच्छा नहीं लगता। अब शायद कलकत्ते में इसकी जगह नहीं रह गई है। ऐसे विचारों को लोगों ने आज विचार नहीं, सस्ती भावुकता कहना शुरू कर दिया है।' प्रकाशजी के चेहरे में कोई भाव नहीं है। लगता है, कुछ क्षण पहले मरे हुए किसी व्यक्ति का यह चेहरा है।

स्वस्थ, सुंदर और पवित्र जीवन जीने की आकांक्षा ! क्या यह एक प्रश्न-चिन्ह है ?

मास्टरजी ने कहा था—जब प्यास असह्य हो जाती है, तो लोग ऊंटों को मारकर उनके पेट के अंदर भरी हुई थैलियों का पानी पी लेते हैं।

और आदित्य ने उस दिन मुस्कराते हुए कहा, 'तुम इस तरह क्यों बेकार भटक रहे हो ? इससे अच्छा तो हमारे ही यहां काम कर लो। निश्चित आय हो जाएगी और प्राण की पढ़ाई फिर अच्छी तरह चल सकेगी। काम मैं तुम्हें

तब भी देना चाहता था जब तुमने दुकान बेची थी। लेकिन तब तुम करते नहीं। मेरा बिजनेस स्मगल गुड्स पर आधारित है। अब मैं जानता हूं, तुम कर लोगे। तीन साल तक इधर-उधर बेकार भटकने का अनुभव बहुत होता है।'

मुझे आश्चर्य होता है। आनन्द को अपनी बातों पर कितना दृढ़ विश्वास है।

और उस दिन मुझे लगा था, जैसे सच ही मेरी मान्यताएं बहुत थक गई हैं। थकी हुई मान्यताओं को आराम चाहिए।

मान्यताएं भी थक जाती हैं, सोचकर अजीब-सा लगा था। शरीर से संबंधित सारी चीजों पर हर बात का प्रभाव शायद उसी तरह पड़ता है जिस तरह शरीर पर।

अब मैं आदित्य की दुकान में मैनेजर हूं। रेगिस्तान में यात्रा करते हुए जैसे कहीं गंदला पानी मिल गया हो।

आदित्य को अपने विचारों पर दृढ़ देखकर कभी-कभी आश्चर्य होता है। झूठ भी शायद कभी इतना दृढ़ हो जाता है कि वह सत्य-सा लगने लगता है।

आदित्य आज भी पिछले दिनों की चर्चा करता है। उन दिनों की, जब वह मेरी दूकान जाया करता था। मेरा मित्र था। शायद कहना चाहता है कि यदि मैंने उसकी बातें मानी होतीं तो किसी दुकान का मालिक होता।

प्रकाशजी की ओर देखकर कभी-कभी सोचता हूं, मैं अकेला नहीं हूं। मेरे जैसे बहुत सारे लोग हैं। उनकी भी अपनी एक शक्ति है। ऐसी शक्ति जो बिखर गई है।

और उस दिन प्राण के बीमार चेहरे की ओर देखते हुए एकाएक आदित्य का ख्याल आया था। आदित्य और प्राण, इन दोनों शब्दों के अर्थों की ओर मेरा ध्यान गया था और चेहरे में एक उदास मुस्कराहट आ गई थी। रेगिस्तान में सूर्य ही चमक सकता है, जीवन तो निश्चय ही वहां झुलस जाएगा।

लगभग पंद्रह साल हुए जब मैंने पहली बार सहारा का नाम सुना था। इस बात को सोचकर कितना प्रसन्न हुआ था कि मेरा जन्म सहारा में नहीं हुआ।

आज बचपन की बेवकूफी पर हंसी आती है। कितनी गलत बात पर खुश हुआ था!

अलाव

ओमप्रकाश मेहरा

अलाव को घेरकर तीनों बाप-बेटे बैठे थे। उजेला पाख। चांद आसमान में ऊपर उठ आया था। दूर दूर तक फैले हुए थे खेत, जिनमें कहीं सरसों फूल रही थी और कहीं गेहूं और चना लहलहा रहा था। फसल की रखवाली के लिए मचानों पर किसान रात गुजारने लगे थे। रात अभी अधिक नहीं गुजरी थी, लेकिन गांव जैसे सो गया था। कोई हलचल नहीं—कोई शोर नहीं। दूर दूर खेतों में अलाव जल रहे थे, जिन्हें घेर कर खेतों के रख वाले बैठे हुए थे। हवा के हल्के झोंकों में फसल सरसरा उठती थी। कभी-कभी किसी मचान से हो हो, हू हू का शोर उठकर सन्नाटे को तोड़ देता था।

चिलम में तम्बाकू भरते हुए हरखू बोला—"गज़ब की ठंड पर रही है। ईसुर जाने का हुइहे ?

यह बात जैसे उसने अपने आपसे कही हो। उसके दोनों बेटे चुपचाप बैठे रहे। अलाव की दहकती हुई आग के प्रकाश में तीनों के चेहरे तपे हुए तांबे की तरह दिखाई पड़ रहे थे। कभी एकाध लकड़ी चटखती तो क्षण भर के लिए आग तेज पड़ जाती। उस क्षण भर के उजेले में हरखू की चिंताकुल, गढ़ों में धंसी हुई आंखें, उसके चेहरे की परेशान सलवटें स्पष्ट हो आतीं। क्षण भर के लिए उसके बेटे मोहन और रामजस के चेहरों पर से भी धुंधलाहट दूर हो जाती। उनके चेहरों पर अजीब-सा बुझापन, अजीब-सी थकन थी। अभाव और विपन्नता के अंधेरे ने जैसे ग्रस लिया था उनके चेहरों की दीप्ति को।

"हो ! हो ! हो ! हो ! लगै लगै।"

दूर किसी खेत के मचान पर से शोर उभरा। सन्नाटा टूट गया। ठंडी हवा का एक झोंका आया और सरसों के पौधों में अजीब-सी कानाफूसी शुरू हो गई। अलाव के अंगारे दहक उठे।

"बप्पा रे······ !" छोटा लड़का रामजस एकाएक कांपती आवाज में कह उठा !

चिलम का एक खूब गहरा दम खींच लेने से हरखू की आंखों में पानी निकल आया था, क्षण भर वह जोर-जोर से खांसता रहा, फिर दम साधकर बोला—"का है ?"

रामजस कुछ नहीं बोला, वह आग के और पास सिमट आया। हरखू ने एक बार आंखें भर कर उसे देखा। उसकी स्मृति में जमना के चेहरे की आकृति घूम गई। रामजस बिलकुल उसी पर गया है, उसने सोचा।

उसका मन पीछे लौट गया। पहली पत्नी मथुरा की मृत्यु के समय मोहन मुश्किल से छः बरस का था। गांव वालों ने उसे समझाया था कि वह दूसरा ब्याह कर ले, तो उसे भी तकलीफ नहीं होगी और मोहन किसी तरह पल जायगा। पहले तो उसे यह लगता रहा कि यह ठीक नहीं होगा। इसी सोच-विचार में एक साल यों ही निकल गया। घर और खेत दो-दो जगहों की जिम्मेदारी संभालना उस अकेली जान के लिए बड़ा तकलीफदेह था। न वक्त पर खाना हो पाता, न वक्त पर सोना। तब खेत में हाड़-जांगर खपाने की ताकत कहां से आती ? उस साल जब खेत का एक बड़ा टुकड़ा पड़ती रह गया, तो उसे निर्णय लेना ही पड़ा। वह दूसरा ब्याह कर लाया।

जमुना ने आकर हरखू की उजड़ती हुई जिंदगी को संवार दिया। एक बार फिर हरखू के टूटे हुए हौसले जुड़ गये। उसके ओठों पर मुस्कुराहटें वापिस आ गईं। फिर जमुना के जीते जी उसे कोई तकलीफ नहीं होने पाई। अलबत्ता मोहन को लेकर घर की शांति कभी-कभार भंग हो जाती थी, लेकिन ऐसा किस घर में नहीं होता ?

खेत की मेंड़ वाले आम के पेड़ पर कोई पक्षी चीखा। उधर दक्षिण की तरफ से आवाज आई—"टिट्टवी, टिट्टवी।" टिटहरी की करुण आवाज चुप्पी को तोड़ गई।

हरखू ने रामजस की ओर देखा, जिसे चार बरस का छोड़कर ही जमुना परलोकवासिनी हो गई थी। उसे वह प्लेग याद आई, वे यंत्रणायें याद आईं जो जमुना ने सही थीं। उसकी आंखों की कोर गीली हो आई।

रामजस अब आठ-नौ बरस का है। मां के प्यार से वंचित रह गया है अभागा। करुणामयी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगा हरखू।

रामजस ने एक बार अपने पिता की ओर देखा और रुदन करती-सी आवाज में बोल उठा—"सम्यार जुड़ाय गओ, बप्पा !"

हरखू ने कंधों पर पड़ी हुई धोती निकालकर उसे उढ़ा दी। उसके सिर पर हाथ फेरते हुए उसे अपने पास खींच लिया।

बड़े लड़के मोहन ने एक बार सिर उठाकर ऊपर देखा। उसकी दृष्टि अपने बाप और उसकी गोद की उष्णता में सुरक्षित चादर ओढ़े हुए रामजस पर थी। उसकी आंखों की पुतलियां सिकुड़ीं और वहां एक इस्पाती शीतल कठोरता आकर बैठ गई। शायद वह सोच रहा था—हां यही रामजस तो है उसका सबसे बड़ा दुश्मन। इसी के कारण नई मां ने उसे कभी नहीं चाहा और यही उसके पिता का प्यार भी उससे छीन बैठा है। मोहन अब छोटा नहीं रहा। पंद्रह बरस की उम्र हो चली है उसकी। शरीर के चारों तरफ एक फटा-सा कम्बल लपेटे बैठा था वह।

जब-जब अलाव की लपटें तेज होतीं उसका भिंचा हुआ चेहरा दिखाई पड़ जाता। उसके चेहरे पर भीतर उमड़ते हुए रोष की प्रतिछाया थी। एक विद्रोह-सा उसके मन में सिर उठा रहा था। वह विद्रोह था ममता और प्यार के भूखे मन का। जब से उसकी मां मरी थी उसे प्यार नहीं मिला। उसकी मां की मृत्यु के सालभर बाद ही आ गई थी उसकी नई मां, जिसने शायद उसे कभी नहीं चाहा।

तब वह बहुत छोटा था। उसके मन की सतहें कोमल थीं। उन कोमल सतहों को मीठे और ममता वाले स्पर्श नहीं मिले, तो वे सतहें चोटें सह-सह कर टूटती गईं। उसके नन्हे मन ने छोटी सी उम्र में ही बहुत कुछ सीख लिया था। वह धीरे-धीरे सख्त होता गया। शायद वह इस तरह उपेक्षित होकर भी जी लेता, लेकिन ज्यों-ज्यों दिन गुजरते गये, नई मां की कठोरता भी बढ़ती गई। रामजस का जन्म होने के बाद तो एक तरह से जैसे उसका अस्तित्व ही भुला दिया गया। उसे महसूस होता कि पिता की दृष्टि भी उसकी ओर से फिर गई है। नन्हीं उम्र में ही उसके ऊपर ढेर से काम लाद दिये गये। वह काम करता रहता और रामजस के ऊपर स्नेह की वर्षा होते देखता रहता। रामजस के प्रति यह पक्षपात देख-देख कर उसमें धीरे-धीरे ईर्ष्या की भावना घर करती गई। रामजस उसे दुश्मन जैसा लगता, जिसके कारण उसे कोई प्यार नहीं करता था—यहां तक कि पिता ने भी उसे उपेक्षित कर दिया था।

अलाव की लकड़ियां सुलग-सुलग कर टूटती गईं और घुटनों पर मुंह टिकाए बैठा मोहन अपनी जिंदगी की कहानी के पन्ने उलटता रहा। मां की धुंधली याद उसकी स्मृति में चिनगारी की तरह जलती-बुझती रही। उसे हल्की-सी याद है मां की गोद में बैठकर वह ढेर सी कहानियां सुना करता और मां की थपकियां उसे नींद की राजकुमारी के देश में भेज देतीं। जब गांव का बाजार

मरता अपने पिता की अंगुली थामे वह पूरे बाजार में यहां से वहां घूमता। कभी खिलौनों की दूकान पर ठिनकता और कभी मिठाई की दूकान पर बिलखता। लौटता तब उसके नन्हें-नन्हें हाथ ढेर सारी चीजों से लदे रहते। त्यौहार आते तो उसके लिये नए कपड़े जरूर आते। मां के मरने के बाद उसकी ममता का संसार छिन गया। फिर सूने घर के ओसारे में वह अकेला चक्कर काटा करता और रोया करता।

साल बीतते न बीतते आ गई उसकी नई मां। मोहन ने उसकी ओर आश्चर्य से देखा। वह उसे अपनी मां जैसी नहीं लगी थी। उमर में भी कितनी छोटी थी वह। उसके पिता ने जब उससे कहा था कि वह उसकी मां थीं तो न जाने क्यों उसकी आंखों में पानी भर आया था। उसी दिन नन्हें मोहन के मन में एक आवाज उभरी थी कि शायद उसके सुख के दिन अब खत्म हुए। और सचमुच हुआ भी यही। नई मां ने उसे कभी प्यार नहीं किया। उलटे उसके सिर पर कामों का बोझ बढ़ता रहा। उसके सब नाजुक स्वप्न जैसे धूल में मिलते गए··· उसकी बाल सुलभ चंचलता गायब होती गई और एक असामयिक प्रौढ़ता सी उसका स्थान लेती गई। मुस्कुराहटें अब उसे बहुत कम आतीं। वह अक्सर उदास और गंभीर रहता। उसकी आंखों में एक दबा हुआ-सा हाहाकार छाया रहता। वह सब सुन लेता······कहता कुछ नहीं, लेकिन एकांत मिलने पर रो लेता।

रामजस पर बरसता था नई मां का प्यार! उसमें उसका कोई हिस्सा नहीं था। मां-बाप की सारी ममता रामजस के लिए थी। सब खिलौने, कपड़े और मिठाइयां उसके लिए थीं और उसके भाग्य में सिर्फ उन्हें हसरत से देखना था। उसके हिस्से में तो गाय-भैंसों की सानी करना, दूध दोहना, कुट्टी काटना और खेत पर जाना था। वह छोटी सी उम्र में ही एक जिम्मेदार आदमी बना दिया गया था। उसकी जिंदगी से सब मासूम चीजें छीन ली गई थीं। वह देखता रहता था रामजस को हंसने-खेलने।

"मोहनवा"

उसके विचारों की कड़ियां टूट गईं। चौंक कर उसने पिता की ओर देखा। ठंड बढ़ गई थी। चादर में लिपटे होने के बावजूद रामजस अब तेजी से कांप रहा था।

"का है बप्पा ?"

"ओही कम्बल दे दे।"

मोहन ने एक बार अपने शरीर पर लिपटे हुए कम्बल को देखा। उसका मन एक किस्म की घृणा जैसे भाव से भर उठा अपने पिता के प्रति। आखिर उसके

मन में रामजस के प्रति इतना पक्षपात क्यों है ? क्या वह स्वयं मिट्टी का बना है ? क्या उसे ठंड नहीं लगती ? क्या रामजस ही सब कुछ है और वह कुछ नहीं ?

नहीं, नहीं देगा वह कम्बल ।

उसने पिता के कथन की अवहेलना कर दी । एक कठोरता-सी उसके मुख पर फैल आई । आंखों में एक निश्चय-सा चमक उठा । रामजस याचना करती-सी दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ उसके पास सिमट आने की कोशिश करने लगा । कम्बल को और सावधानी से शरीर के चारों ओर लपेट कर रामजस की ओर तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखते हुए उसने मुंह फेर लिया ।

"भैया, मोहूं का कम्बल उढ़ाय दे ।" कांपती हुई आवाज में रामजस बोल उठा ।

मोहन ने जैसे सुना ही नहीं । चुपचाप बैठा रहा । जैसे पत्थर हो । खीझ और कष्ट से रामजस की आंखों में आंसू भर आए । उसने घुटनों में सिर छिपा लिया । आग लपलप करके जलती रही । कुछ देर के लिए वातावरण निस्तब्ध हो उठा । चांद और ऊपर उठ आया था । हवा और अधिक ठंडी हो गई थी । चुप्पी को अगर कोई चीज तोड़ रही थी, तो हवा में खेतों की सरसराहट । घुटनों में मुंह छिपाए हुए ही रामजस सिसकने लगा ।

"का है रे ?" चौंक कर हरखू ने पूछा ।

"ठंडी लगत है बप्पा ।" उसकी सिसकियां बढ़ गईं । हरखू ने जलती सी दृष्टि से मोहन की ओर देखा ।

"मोहनवा, सुनत नाहीं ? कम्बल उढ़ाय दे ओही ।"

मोहन ने कोई उत्तर नहीं दिया । हरखू के कथन की कोई प्रतिक्रिया उस पर नहीं हुई । पत्थर की मूरत की तरह बिना हिले-डुले बैठा रहा वह । हरखू को सहन नहीं हुई यह अवहेलना । चिलम की आग अलाव में उलटकर वह उठ खड़ा हुआ ।

मोहन के सामने जाकर वह कह उठा—"आज तोही सनीचर चढ़िस है का ? मार मार बिलटाय देहों ! चुपचाप कम्बल उतार दे ।"

मोहन ने फिर अवज्ञा कर दी ।

हरखू क्रोधित हो उठा । उसका क्रोध लात-घूसों के रूप में मोहन पर बरस उठा—"ले ! अउर ले ! बित्ता भर जान, टेस दिखाउत है !" वह मारता गया और चीखता गया ।

मोहन बैठा-बैठा ही जमीन पर लुढ़क गया, लेकिन कम्बल को वह कस कर पकड़े रहा । वह घुटने नहीं टेकेगा, कम्बल नहीं देगा···नहीं देगा । उस पर

घूंसे बरसते रहे, लेकिन उसके मुंह से एक सिसकारी तक नहीं निकली। रामजस घबरा कर पिता की ओर देखने लगा था।

वह पुकार उठा·······"बप्पा !"

हरखू हांफने लगा था। गठरी की तरह धूल में पड़े हुए मोहन को एक लात और जड़कर वह भुनभुनाता हुआ रामजस की तरफ बढ़ आया। उसे डांटते हुए बोला—"काहे रिरियात है रे ? महतारी का खाय गइस अब का मोही खईहै ?"

रामजस सहम गया। बड़बड़ाता हुआ हरखू मचान की तरफ चला गया।

मोहन काफी देर तक वैसे ही पड़ा रहा। फिर वह धीरे-धीरे उठा और हाथ उसने आग पर फैला दिये। उसका चेहरा धूल से भर गया था। कम्बल में मिट्टी सन गई थी। इतना पिट लेने के बाद भी उसकी आंखों में आंसू की एक बूंद भी नहीं थी। उसका चेहरा फौलाद की तरह सख्त था। आंखों में जरा भी कोमलता नहीं थी······अंगारों की तरह जैसे लाल हो उठी थीं उसकी आंखें। उसने रामजस की ओर देखा। वह थककर धरती पर ही लेट गया था, उसकी आंखें मुंदी थीं, मगर उनमें से ढल-ढल कर बहे हुए आंसुओं का गीलापन अब भी शेष था। रह-रह कर सिसकियां उसे आती थीं। क्षण भर मोहन के मन की प्रतिहिंसा को तृप्ति मिली। वह खुश हो उठा, जैसे रामजस की पीड़ा देखकर, लेकिन फिर उसे लगा जैसे वह देर तक रामजस की ओर नहीं देख सकेगा। हल्की-हल्की आंच की रोशनी में कांपता हुआ रामजस का मासूम चेहरा और पलकों से उलझे हुए आंसू !

एक बार फिर उसकी ओर देखकर उसने अपने मन की प्रतिहिंसा को तुष्ट करना चाहा, लेकिन उसके मन में कुछ और ही भाव उग आया। वह रामजस की तकलीफ देखकर खुश होना चाहता था, लेकिन उसे लग रहा था कि वह कभी खुश नहीं हो सकेगा। इसके विपरीत न जाने क्यों उसके मन में एक तीखा शूल सा चुभने लगा। उसे याद आया कि उसकी मां की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद वह भी पिता के साथ खेत में आया करता था। अलाव के बगल में इसी तरह सोते-सोते उसे कई बार सपने में मां दिखाई पड़ी थीं। वह चौंक उठता था और कई बार रोया भी था।

रामजस को भी मां याद आती होगी उसी तरह और उसे भी बुरा लगता होगा मां के बिना। यह एक बात बार-बार मोहन के दिमाग में घूमने लगी। उसे लगा कि शायद वह रामजस से नफरत नहीं कर सकता। यदि चाहे तो भी नहीं। रामजस छोटा है और उसकी मां नहीं है। उसे प्यार की जरूरत

है, क्योंकि मोहन जानता है कि बिना प्यार और ममता से आदमी क्या से क्या हो जाता है।

मोहन के चेहरे का सख्त खिंचाव अपने आप खुलता गया, उसकी शिकनें नर्म पड़ती गईं और उसकी आंखों में एक मासूम उजलाहट बिखरती गई।

एक झटके से वह उठ खड़ा ह॰ उसने कम्बल उतार कर आहिस्ता से रामजस को उढ़ा दिया। कुछ देर ॰ उसके चेहरे की ओर वह प्यार से देखता रहा। फिर आकर आग के पास ॰ गया और चुपचाप तापने लगा।

खंडित

गोविन्द मिश्र

दिन की उजली धूप में वह बस्ती हल्की चौंध छोड़ती थी। अगर बादल हुए तो घास के मैदान में पास-पास फैले हुए बासे-बासे से कपास के ढेरों का गुमान होता था। रात को बाहर की रोशनी कम जगहों पर होती थी, इसलिए जंगल के फैलाव में दब जाती थी। बंद घरों की छोटी-छोटी बत्तियां ऊपर सफेदी और पीलेपन के बीच का एक सपाट-सा ·· मरा हुआ गुच्छा भर फेंक पाती थीं।

ऊंचाई से देखने पर सारा कुछ कब्रिस्तान जैसा दिखता था···घर नहीं पेड़ों के इधर-उधर फैली हुई छोटी-मोटी कब्रें!

ऊपर वह कस्बा था जिससे उस बस्ती की सारी संचार-व्यवस्था जुड़ी हुई थी। खच्चरों पर लद-लद कर सेबों की पेटियां नीचे से ऊपर आतीं और यहां से आगे फिर बस से यात्रा करती थीं। रास्ता ऊपर से नीचे एकदम सरपट उतरता था कि आदमी करीब-करीब लुढ़कता हुआ ऊपर से नीचे गिरे। जह मैदान जैसा शुरू होता था वहीं से कपास के वे बासी-बासी ढेर छितरने लगते। एक आम गांव की तरह के मकान शक्ल लेकर इधर-उधर से मुंह उठाने लगते, ज्यादातर मकान इधर-उधर जंगल की हरियाली में छिपे हुए थे। जो मेरे सामने था वही सीधा ऊपर की तरफ देखता था और रास्ते में ही काफी पहले से उसके खाके उभरने लगते थे···साफ-साफ।

उस बस्ती का वह सब से बड़ा मकान था और एक जमाने में उस मकान के लोग वहां की सबसे बड़ी हैसियत के भी थे।

चारदीवारी के अंदर घुसते ही कुत्तों की आवाजें होने लगीं। विदेशी महक शायद उन्होंने सूंघ ली थी। पीछे से एक मोटे से कुत्ते को डांटती-डंपटती आयी एक उजली-उजली-सी लड़की—जवान, कुछ-कुछ सुंदर भी और एकदम शहरी लिबास में। जान-पहचान न होते हुए भी वह मुझे अंदर ले गई। अच्छा लगा कि इन छुटपुट बस्तियों में घर पर आये हर अजनबी को अब भी मेहमान समझा जाता है, अपनी परम्परा के अनुकूल।

लड़की मुझे बरामदे में ले आयी। सामने वे बैठी थीं, आराम कुर्सी पर। कपड़े शहरी जरूर थे लेकिन उतने साफ-साफ नहीं जितने कि लड़की के। उम्र सत्तर के ऊपर लेकिन चश्मा नहीं। रंग झुर्रियों में दब गया था। मुंह गोल-गोल, कद मंझोला··· शरीर भी कुछ फसर-फसर ही···कुर्सी में गठरी की तरह पड़ा हुआ था। हरकत उतनी ही थी जितनी पेड़ में हल्की हवा चलने पर·····कुल मिलाकर जैसे वे भी सेब का एक पुराना पौधा थीं। इस इलाके में वे शुरू से अपनी बहादुरी के लिए मशहूर थीं। जंगल में अकेले पड़े रहने, अपने अकेले बूते पर व्यापार चलाने और पढ़े लिखे होने की वजह से खेतिहरों पर होने वाले अन्यायों का डटकर मुकाबला करने के लिए उनका बड़ा नाम था। साथ ही मशहूर थी उनकी मेहमाननवाजी। दो पहाड़ी कस्बों को जोड़ने वाले पैदल रास्ते पर वह पहली बस्ती थी और जो भी उधर से गुजरते उन्हें अपने यहां सुस्ताने की सुविधा देने के अलावा चाय-नाश्ता कराना भी वे नहीं भूलती थीं।

मुझे देखकर वे मुस्कराई और नौकर से कुर्सी लाने के लिए कहा। वह खुला बरामदा था, आगे इसी ऊंचाई पर खुलता एक पठारनुमा आंगन-सा और नीचे फैला हुआ लम्बा-चौड़ा आर्चर्ड। सामने ही वह पहाड़ी थी जिससे उतर कर मैं वहां पहुंचा था। चट्टानों और पेड़ों की हरियाली में रास्ता गुम हो चुका था।

बैठने के बाद परिचय हुआ। उनके लिए इतना ही काफी था कि मैं उस रास्ते से गुजर रहा था।

—"आजकल लोग पैदल कम चलते हैं···किसी जगह को पूरी तरह समझने के लिए पैदल चलना जरूरी है। जो इन रास्तों से नहीं गुजरे, वे इधर के पहाड़ को ऊपर से ही देख-देख कर लौट जाते हैं····" उन्होंने कहा।

—"आप का आर्चर्ड बड़ा मशहूर है। मुझसे कहा गया था कि रास्ते में इसे देखता जाऊं····" मैंने अपने आने की सफाई दी।

वे फिर मुस्कराई, अपने समय में काफी खूबसूरत रही होंगी। फिर कई तरह की रेखाएं उनके चेहरे पर उठने-गिरने लगीं। उम्र के बावजूद चेहरा इतना साफ और पारदर्शी था कि वहां सब कुछ पढ़ा जा सकता था। शहर से दूर रहने वालों के चेहरे शायद ऐसे ही होते हैं। उस आर्चर्ड से जुड़ी कितनी तरह की यादें तब उनके चेहरे पर इधर-उधर दौड़ रही थीं, कहीं बीच में चेहरा हल्का-सा लाल भी हो आया। ऐसा लगता था कि उन्हें अपने आर्चर्ड की शोहरत का फख्र था···कि तभी एक कोने से हल्की-सी स्याही भी चेहरे पर दौड़ती हुई आई और आगे बिछती चली गई। फिर उसमें वे और नाक-नक्श··सब कुछ डूब गया।

इस बीच उजली लड़की चाय ले आयी थी और उसने अंग्रेजी में गिटर-पिटर

करना भी शुरू कर दिया था····वही हथकण्डे जो लोग अपने को शिक्षित जताने के लिए किया करते हैं। लगा कि हम जंगल के उस हिस्से में नहीं बल्कि किसी ड्राइंग-रूम में थे और 'हाउ मच शुगर फार यू' जैसे झटकों में जिंदगी पहले की तरह चल रही थी। इतना फर्क जरूर था कि हमारे इर्द-गिर्द एक गरम-गरम आंच थी, जैसा कि अमूमन खूबसूरत लड़कियों की उपस्थिति में हो जाता है।

मैं थोड़ी देर को मां-बेटी को मिलाने में लग गया। कुछ ऐसा था कि मां अपनी उम्र के बावजूद ज्यादा गहरा असर छोड़ती थी, जबकि लड़की का उजलापन थोड़ी देर को एक चमक पैदा कर बुझ जाता था।

30 साल से वे यहीं रह रही हैं···वे बताने लगीं···शादी के कुछ ही दिनों बाद उनके पति और उन्होंने फैसला किया कि वे आर्चर्ड बनायेंगे और तब से यहीं अपने आप में एक पूरी जिंदगी के सामान इकट्ठे करते हुए बीता। अब यहां सब कुछ है—अण्डे देने के लिए मुर्गियां, अनाज पैदा करने के लिए खेत, दूध देने के लिए गाय, कुत्ते, खच्चर सब कुछ···पर वह नहीं है जिसने इसे बनाया। एक साल पहले उनके पति की मृत्यु हो गयी थी। वे उस माहौल से जैसे उखड़ गई। सामने बैठी लड़की उनकी एक ही सन्तान थी और उसने अपनी मर्जी से शादी एक महानगर में की थी, मां-बाप के मना करने के बावजूद। शादी के बाद भी मां-बाप ने यही कहा था कि वे दोनों यहीं आकर रहें और आर्चर्ड की देखभाल करें पर नयी पीढ़ी को जंगल रास नहीं आता। जंगल आदमी को अंदर झांकने पर मजबूर करता है और वह आज के लोग बर्दाश्त नहीं कर पाते। पति के मरने के बाद वे लड़की और दामाद के पास दिल्ली चली गई थीं···लेकिन वहां उनका मन नहीं लगा। इसलिए फिर लौट आई हैं···उनकी लड़की उनके साथ रहती है···

उजली लड़की बीच-बीच में उखड़-उखड़ पड़ती थी। दरअसल मां की हर रास्ते-चलते से इस कदर खुल जाने की आदत से वह परेशान थी···या आगे वे क्या कह डालेंगी···इससे वह सहम-सहम उठती थी। कप-प्लेट की खन-खनाहट से, 'वन मोर फार यू' जैसे फिकरों में··या किसी और तरह से बातों को तोड़ने की या उनकी दिशा या कम-से-कम रफ्तार ही बदलने की कोशिश भी कर रही थी··पर वे चलती चली गयी थीं। जब तक अपना सब कुछ ही पहले न बता दो, तो किसी के साथ क्या बातें की जा सकती हैं, या क्या बैठा जा सकता है, वे सोचती थीं। हम लोग चाय पीते रहे। वे फिर फलों के व्यापार की अंदरूनी बातें बताने लगीं। हरेक को अपने अलग खच्चर रखने पड़ते हैं। बीच का आदमी किस तरह पैसे मारता है। एक बार तो आर्चर्ड इंसपैक्टर आकर उन्हें धमकी देने लगा था··उन्होंने डांट कर भगा दिया—'यह मत समझना

कि मैं औरत हूं, मैं तुम लोगों को कच्चा खा जाऊंगी। मेरे यहां 'गन' है और मैं उसका इस्तेमाल भी जानती हूं। उन लोगों को भी जानती हूं जिनके तुम कारिंदे हो।' उस दिन की डांट के बाद उस इंसपेक्टर ने फिर अपनी शक्ल नहीं दिखायी थी, जब तक वह इस इलाके में रहा था।

—"आप को यहां अकेले डर नहीं लगता ?" मैंने उजली लड़की से पूछा।

—"डर किस बात का, मेरा जौनजो है। मुझे एक मिनट को नहीं छोड़ता। यह मेरे बारे में बड़ा पजेसिव है। देखिये अभी आपसे बात कर रही हूं, वह गुस्सा है—'ही फील्स जैलस'···किसी और को मेरे पास बर्दाशत नहीं कर सकता। रात को मेरे साथ ही सोता है···बोर जरूर कभी-कभी होती हूं तो उसका तरीका है दिन में न सोना और हर क्षण अपने को 'बिजी' रखना। उसके लिए यहां इंतजाम है—काफी काम है, करने लग जाइये तो कभी खत्म न हो, मुर्गियों और गायों की देखभाल से लेकर पौधों की सेहत तक का ख्याल।"

मां जंगल का एक हिस्सा थीं···जैसे वहां के पेड़, पहाड़ और बेटी आधुनिक सुविधाओं से लैस जंगल का कोई रेस्ट हाउस। वे वहां थीं, लड़की यहां भी महानगर की गति को ढूंढ रही थी।

—"आपके पति ?"—मैंने पूछा।

दामाद की बातें आते ही उन्होंने मुंह दूसरी तरफ फेर लिया और यह साफ कर दिया था कि उन्हें उसका जिक्र तक पसंद नहीं था। मामला कुछ गड़बड़ था, मुझे लगा···लड़की के इतना कहने पर कि वे दिल्ली में रहते हैं, मैं जैसे बात को उस दिशा में बढ़ाने से अपने आप ही रुक गया···और कुछ दूसरी चीजों को बात के लिए टटोलने लगा। लड़की के वहां रहने तक वे करीब-करीब कुछ नहीं बोलीं। लगा जैसे वे सो गई हैं! अगर वे जग भी रही थीं तो सिर्फ उनका शरीर था, वे कहीं और थीं। जब तब पंखे से टांगों पर बैठती मक्खियों को हांकती थीं···जैसे गाय-बैल पूंछ से हांकते हैं···

चाय के बर्तन समेट कर जब लड़की अंदर चली गई, तभी वे लौटीं।

—मुझे इसका आदमी एकदम पसंद नहीं है। इस लड़की ने अपनी जिंदगी खराब कर ली। उम्र में भी इससे बहुत बड़ा है। मैंने और इसके डैडी ने बहुत मना किया था, लेकिन यह नहीं मानी···

—पर चलिए, वे दोनों खुश तो हैं।

—क्या पता ? इससे ही पूछिए।

उन्होंने कुछ कड़वा पड़कर कहा। मैं जानता था कि कोई जवाब पाना तो दूर इस तरह के सवाल ही वह लड़की बर्दाश्त नहीं करेगी। वे बिना किसी

परिचय के ही जिस किसी से भी जितना खुल सकती थीं उतना लड़की शायद बहुत आत्मीय होने के बाद भी नहीं कर पाती।

—"व्हाट इज मोर ?" उन्होंने आगे कहा, "वह कमीना है। कहता है उसने लड़की को मेरी देखभाल के लिए छोड़ रखा है, लेकिन क्या मैं इतना समझती नहीं हूं···सारी जिंदगी लुच्चों से निपटते बीती है।"

यहां उन्होंने आवाज को और धीमा कर लिया था और बात को मेरी तरफ फेंक रही थीं। तब उनकी आंखें तमाम झुर्रियों को फाड़कर बाहर निकल आई थीं···और टुकुर-टुकुर शरारत के रंग में बेतहाशा चमक रही थीं। अपने को इस तरह होशियारी से बचाये रखने में जैसे उन्हें बड़ा मजा आता था, गोया कि वह एक खेल था जिसके हर दांव-पेच से वे अच्छी तरह वाकिफ थीं।

बात करते हुए उनकी आंखें बार-बार घर के अंदर की तरफ तेजी से उठतीं और फिर उसी गति से मेरी तरफ अपनी बात को पूरा असर देने के लिए दौड़ती थीं। उन आंखों में अब भी जवानी की तेजी और चमक थी। ऐसा लगता था कि उनके और लड़की के बीच कोई वार्तालाप नहीं है और शायद इसलिए आदतन उन्होंने राहगीरों को अपना राजदार और घनिष्ठ बना रखा था, वर्ना इतनी जल्दी क्या कोई इस हद तक खुल सकता है कि अपनी निहायत व्यक्तिगत पोलों को आपके सामने रखता चला जाए। यूं देखा जाए तो वे पोलें थीं भी कहां ? उनकी तरफ से तो सिर्फ साफ-साफ बातें थी जिनमें वे इस धुंध को भी नहीं आने देना चाहती थीं कि वह उनकी अपनी कोख से पैदा हुई लड़की है। अगर वे उस उजली लड़की से बात को बचा कर करती भी थीं तो शायद खेल-खेल में ही, वर्ना इतना तो अहसास उन्हें होगा ही कि लड़की न सामने से सही, घर के अंदर से चोरी-छिपे उन्हें सुन ही सकती है, कभी-न-कभी।

—"अच्छा यह बताइये कि आपको कैसा लगेगा यह जानकर कि कुछ लोग सिर्फ आपकी मौत का इंतजार कर रहे हैं···?" उन्होंने कहा।

चेहरा आक्रोश से सुलग आया था··· जो शुरू में सेब के पौधे जैसा ही लगा था, उसके भीतर का आदमी जैसे फन निकालकर सामने खड़ा था।

—आप भाग्यवान हैं कि आपकी लड़की की आर्चर्ड में आप से कम दिलचस्पी नहीं है।

—"हां, सोचा तो यही था···" वे उदास हो आयीं·· "मेरे पति की बड़ी इच्छा थी कि हमारे बाद इस आर्चर्ड की देखभाल हमारा खानदान करे···पुश्त-दर-पुश्त जब मैंने इसके आदमी को पहली बार देखा था, तभी···उसी वक्त देखते ही वह मुझे अच्छा नहीं लगा था।"

वे कुर्सी पर आंखें मूंद कर टिक गयीं और मक्खियों को अपनी टांगों पर से हांकने लगीं। लड़की आ रही थी। उसका क्रमशः पास आना उनके माथे पर जैसे बज रहा था, ऐसा लगता था कि वे लड़की को पास तो रखना चाहती थीं···पर उसकी उपस्थिति मात्र उन्हें विचलित कर देने को काफी थी।

बाहर उजली धूप में सरसराती हवा बज रही थी। मैंने उस आवाज को ढूंढना चाहा पर जहां तक निगाह जाती थी, सब कुछ निश्चल खड़ा था। यह शायद वह आवाज थी जो पहाड़ों के बीच हवा के गुजरने से होती है कुछ-कुछ वैसे ही जैसे जंगल में भी आदमियों के साथ रहने से पैदा हो जाती है आदमी सब कुछ हो सकता है, साथ नहीं रह सकता।

—"क्या मैं आर्चर्ड देख सकता हूं ?"···मैं उठने लगा।

—"जरूर, उन्होंने जागते हुए कहा, बेटी इन्हें जरा दिखाओ। बगीचे के बीच एक सोता है। उसका पानी जरूर पीना। जब हम शुरू-शुरू में आये थे तो पानी लाने के लिए बहुत दूर जाना पड़ता था। एक दिन मेरे पति ने उस जगह पर गीलापन देखा और फिर उन्होंने ही यह सोता खोद निकाला। खुदाई के बाद तो हमने इसे पक्का बनवा दिया ताकि पानी साफ रहे। अब तो चौबीसों घंटे वाटर-सप्लाई है।"

मैं उठ गया। लड़की मेरे साथ-साथ बरामदे के बाहर के आंगन में उस कगार तक आई जहां से फिर नीचे सीढ़ियां उतरती थीं और आर्चर्ड का लम्बा-चौड़ा विस्तार खुलता था—छोटी-मोटी पगडंडियों में इधर-उधर फूटता हुआ।

—"वह जो पहाड़ी आप देख रहे हैं वहां तक फैला हुआ है हमारा यह आर्चर्ड," लड़की ने कुछ गर्व से कहा···"यहां जानवर बहुत हैं, एक बार तो चीता यहां ऊपर तक चढ़ आया था कि मेरे जौन ने भूंक-भूंक कर उसे भगा दिया। तब वह बहुत छोटा था। मेरी उसकी दोस्ती बचपन की है।"

वह बार-बार जौन पर घूम-फिर कर आ जाती थी···जो कुत्ते से इतना आत्मीय हो सकती है उसकी अपनी मां के साथ क्या खटपट हो सकती है ? वे दोनों क्यों नहीं उतने ही स्वाभाविक ढंग से एक-दूसरे के साथ पेश आ सकतीं जितने स्वाभाविक ढंग से वह और कुत्ता आते हैं या वे और नौकर-चाकर या फिर वे और मैं ही···प्रकृति के इतने पास अपनी जिंदगी का बड़ा हिस्सा बिताने वाला इतना स्वार्थी तो नहीं हो सकता कि वह अपनी लड़की से ही दुराव करे ? ज्यादा सही बात यह लगती थी कि सारी जिंदगी ऊंचा सिर करके जीने वाली वह बूढ़ी औरत, वैसे ही जीने के लिए जो हिफाजत बरतनी चाहिए, वह बरत रही थी। जरूर उजली लड़की और उसके आदमी ने उन्हें मात्र बूढ़ा समझ लिया होगा।

—"आगे नहीं चलेंगी ?" मैंने लड़की से पूछा ।

—"आगे और क्या है बस इसी तरह का है। दरअसल नजारा यहीं से अच्छा दिखाई देता है। वैसे आप चाहें तो हो आइये । मुझे तो दिन में कई बार जाना पड़ता है ।"

मैं नीचे उतर गया । थोड़ी देर को वह लड़की कगार पर खड़ी हुई मुझे जाते हुए देखती रही । आर्चर्ड से उसका लगाव, मुझे लगा, सिर्फ वहीं तक था जहां तक वह खुद को उसकी मालकिन बता सकती थी। उसका चेहरा तनाव में थोड़ा खिचा हुआ था और वह उतनी सहज बिलकुल नहीं थी जितना मेरे आने पर थी, मैं कम-से-कम पानी के सोते तक जरूर पहुंचना चाहता था···जैसे कि वहां खड़े होकर मैं यहां का आगा-पीछा सब कुछ देख सकूंगा···

लौटने तक धूप भुरा आई थी और ढलती दोपहर का आलस फिजां में तैरने लगा था। वे बरामदे में बैठी हुई थीं, लड़की का जरूर कहीं अता-पता नहीं था । बरामदे पर चढ़ने पर उसकी आवाजें चिक से ढके हुए एक पर्दे के पार सुनाई दीं। वह जौन से बातें कर रही थी । ऐसा लगा जैसे चाय-वाय पिलाकर उसने जो थोड़ी-बहुत दिलचस्पी नवागंतुक के लिए बनती थी, उससे छुट्टी पा ली थी, यह भी शायद वह इसलिए करती थी कि मां की जिद थी ।

—"घूमे ?"···उन्होंने पूछा···"थोड़ा आराम कर लो"···"सोते का पानी पिया ?"

—हां, बेहद स्वादिष्ट है···सारी थकान धो देता है···मैंने सामने की आराम कुर्सी पर बैठते हुए कहा···

उनकी आंखें चमक उठी···सोते को जैसे वे वहीं बैठे-बैठे साफ-साफ देख रही थीं। एक छोटे से टीले के नीचे खोह···अंदर जाने कहां से आकर ऊपर उबल-उबल पड़ती धारा, लगातार पानी की मुट्ठी बनाती, तोड़ती··थोड़ा चलकर फिर आगे सीमेंट के हौज में कैद होती हुई। उनकी नजरें चलते-चलते मुझ पर भी आत्मीयता बरसा गयीं । मुझे लगा मैं फिर सोते के पानी को मुंह पर छिड़क रहा हूं···वही शीतलता···वही मिठास···

"दरअसल पूरा आर्चर्ड बड़ा खूबसूरत है···" मैंने फिर कहा ।

"ऐसा क्या···सभी आर्च्चर्ड कुल मिला कर एक जैसे ही होते हैं···इस मौसम में भालू से बड़ा बचाना पड़ा इसे । सेबों के लिए भालू सब से खतरनाक चीज है···फलों की बरबादी जो होती है वह अलग, डालों को चरमरा कर रख देता है···"

वे कहीं दूर भटक गयी थीं । सामने वाले पहाड़ के बायीं तरफ के लम्बे-लम्बे

देवदार के दरख्त एक क्रम से काट दिये गये थे और उस पूरे पहाड़ की हरियाली में मोटे-मोटे खूंटों का वह हिस्सा बड़ा ही बदरंग दिखता था।

"नहीं, इसमें एक अलग कशिश है···" मैंने कहा ·· "हो सकता है···शायद इसलिए कि इसमें आपके जीवन की छाप है····"

"लेकिन अब यह मेरा नहीं है, मैंने यह आर्चर्ड बेच दिया है।"

वे कुर्सी पर पीछे लुढ़क गयीं और पंखे को टांगों पर टप-टप मारने लगीं।

नीचे ··आर्चर्ड के ऊपर धूप का समुंदर पसरा हुआ था। सिर्फ पौधों की फुनगियां दिखती थीं ··आंखें मिचमिचाती हुई। ऊंचाइयों पर जहां-कहीं सेब के पौधे टूटते शरीरों को ढोते हुए खड़े थे। ऊंचा खाली में फैला हुआ आर्चर्ड का वह विस्तार तब एक घायल खच्चर की तरह नीचे पड़ा था, निरीहता से उस मकान की तरफ तकता हुआ···

आर्चर्ड और वे ·· वे और आर्चर्ड दरअसल मेरे लिए शुरू से ही इस कदर एक थे कि उस मामूली-सी खबर ने एक क्षण में ही जैसे दोनों को खंडित करके रख दिया ··एक हिस्सा मेरे सामने और दूसरा नीचे गड्ढे में फेंका हुआ पड़ा था। मुझे धक्का लगा।

—तो अब आप···यहां ?···मैं रिरया रहा था।

—"बेचने की शर्त में मैंने यह भी रखा था कि मैं जब तक जिंदा हूं इसी घर में रहूंगी, बदले में चाहे तो आर्चर्ड का मालिक आर्चर्ड के इंतजाम का काम मुझसे ले सकता है। वह आदमी अच्छा है, मान गया था···अब भी कहता है कि वह यहां पर सिर्फ मेरा मेहमान होकर रहता है ··मेरी लड़की और उसका आदमी चाहते थे कि आर्चर्ड को बेचकर वे शहर में कोई धंधा करें और मैं उनकी मेहमान रहूं···"

उनके चेहरे पर कड़ुवी मुस्कुराहट की खींचातानी थी। हरे पहाड़ पर धब्बों की तरह उछले हुए उन खूंटों को देखकर मैं ऊंचाई के उन दरख्तों की सोच रहा था जिनकी जड़ें बर्फ खराब कर देता है·· फिर उन्हें काटना ही पड़ता है··· जैसे आदमी की टांग को जिसमें जहर आ गया हो।

—"आर्चर्ड भले ही मेरा न रहा हो पर मैं परिवार के साथ हूं जैसे ये सब जिन्हें आप काम करते देख रहे हैं वैसे ही मैं भी···और मेरी लड़की भी मेरे पास है···मेरे पति की कितनी इच्छा थी कि वह हमारे पास ही रहे।"

उनका चेहरा बेहद तरल हो आया था। खेल को अपने ढंग से खेलने का उजलापन उनकी आंखों में रह-रहकर चमक रहा था। पहाड़ का साफ-सुथरा रंग उनमें तैरता हुआ ··सुडौल पौधों के नक्श झिलमिलाते हुए···लेकिन दूसरे ही क्षण वह सब कुछ बह गया···हवा की फूंक से चिकनी चट्टान पर बिछी

खुश्क धूल की पतली पर्त की तरह। उनके चेहरे ने पहाड़ की उस ऊंचाई को ओढ़ लिया था, जहां कुछ पैदा नहीं होता, दरख्त भी नहीं। होता है तो सिर्फ एक मरा-मरा-सा लाल रंग···पतली घास-फूस में छितरा हुआ। जब सारे इलाके में बर्फ की चादर बिछ जाती होगी तब भी वे दो आंखें इसी तरह सुलगती हुई जुगनुओं की तरह चमकती रहती होंगी···

बाहर निकल कर एक बार मैंने फिर उस आर्चर्ड को देखा। दूर से जो एकदम सपाट दिखता था, कितना ऊंचा-नीचा था वहां···जैसे बाहर से वीरान-सी इमारत में इधर-उधर दौड़ती हुई कितनी रेखाएं थीं··सब-कुछ जैसे गड्डमड्ड था—लड़की···फार्म इंसपैक्टर, लड़की का पति···जौन, वे···लगातार बहता हुआ सोता।

वे अब भी बरामदे में वैसे ही बैठी थीं। ऐसे ही, एक ही मुद्रा में बैठी रहती होंगी···लगातार···दिनों-दिन···हर क्षण जागती-सोती, जीती-मरती हुई···

खानदान में पहली बार

रमाकान्त श्रीवास्तव

दादा अक्सर बतलाते थे ....।

गये-गुजरे जमाने की तमाम बातें और खासकर अपनी शादी के किस्से! अम्मा और दद्दा के मुंह से सुनी हुई रीति-रस्मों के और भी पुराने विस्तृत स्वरूपों को सुनते-सुनते हम आश्चर्य में डूब जाते और अक्सर हंस पड़ते। हम खूब खुश हो जाते और हमारी आंखों के सामने एक बिलकुल ही दूसरी दुनियां साकार होने लगती। जिज्जी दादा की कहानी की किताब कहा करतीं।

ऊबड़-खाबड़ रास्तों, नदी-नालों और जंगलों से, बैलगाड़ियों पर सवार होकर रात रात और दिन दिन भर चलने वाली बारातों और सात-सात दिनों में निपटने वाली शादियों के किस्से हमारे अंदर रोमांच भर देते। वे बतलाते कि तब टार्च कहां थे और गांव वालों के लिये तो लालटेन भी नई फैशन की चीज थी। कभी जंगल की राह होकर रात को चलना पड़ता तो मशालें जला ली जातीं थीं और एक दूसरे को किस्से कहानियां सुनाई जातीं। ऐसे लोगों को बारातों में हाथ-पांव जोड़कर ले जाया जाता जो किस्सागो और लतीफेबाज होते। गांवों की सीमा रेखा को पार करते ही चारों तरफ बीहड़ सुनसान होता और यदि चांदनी रात ना होती तो भटकने का अंदेशा होता। बारात में जाने वाले लोग लाठियां रखते, मुरेठा बांधते और मूछों पर ताव देते हुए बुंदेलखंडी ठसक में अपनी बहादुरी और हिम्मत का बखान करते लेकिन चोर-डाकुओं की आशंका से सभी अंदर तक भयभीत रहते। बैलों के गलों की घंटियों की आवाजें, मशालों का उजाला, घनघोर अंधेरे में उठती कीड़ों-मकोड़ों की झंकार, डाकुओं, भूतों, चुड़ैलों और जिन्नों के भय का इतना सजीव चित्रण दादा करते कि हमारी चेंथी से एक ठंडी लहर पीठ की तरफ रेंगती चली जाती और हम जबरन ही कंधे झटकार कर कनखियों से पीछे की ओर देखते कि कहीं कोई हमारी पीठ पर तो नहीं खड़ा हुआ है।

अपने तखत पर मुगल बादशाहों की शैली में गावतकिये से टिककर बैठे हुए दादा का चेहरा अपनी शादी की बात करते हुए अधिक चिकना दिखलाई पड़ने लगता। उनके मुस्कुराते ओंठ मूछों के नीचे छिपे रहते और हमें लगता कि उनकी मूछें ही हंस रही हैं।

—जानते हो ······मैहर बनता तो······ सोलह सेर की चीजें औरतें रात-रात भर बैठकर बनातीं। ये बड़ी-बड़ी नक्काशी वाली गुझियां··· और भी तमाम अगड़म-बगड़म। और जानते हो लड्डू कितने बड़े-बड़े बनते थे? आधे-आधे सेर के।"

"बाप रे!" हम आंखें फैलाकर कहते, "दादा, फिर उन्हें खाते कैसे बनता था।"

"हमारे मंझले कक्का थे···" दादा और बतलाते, "उनके बिना तो सादी-ब्याह में मजा ही नहीं आता था। घरातियों की तो नाक में दम कर दें। इधर पंगत का समय हो, उधर मंझले कक्का गायब। अब हो रही है ढुंढाई। खाने बैठे तो कहें कटहल का अचार चाहिए, कटहल का अचार चाहिए। कटहल का अचार आ जाय तो कहें सूरन का अचार चाहिए। रात को एक बजे कहें कि दूध पियेंगे। गाय का दूध लायें बिचारे तो कहें कि भैंसिया का दूध पियेंगे। भैंस का दूध लायें तो कहें कि गइया का दूध पियेंगे।"

"दादा, जब तुम दूल्हा बने थे तो तुमने भी नखरे किये होंगे।" जिज्जी पूछतीं। ऐसी बात जिज्जी ही पूछ सकती थीं जो दादा की लड़ैती थीं। हमलोग कभी-कभी उन्हें चिढ़ाते भी थे—लाड़ली बिट्टी। जिज्जी के प्रश्न पर दादा की मूंछें कुछ और फैल जातीं और वे कुछ और तनकर गावतकिये से पीठ टिका लेते।

"···अरे···कुछ ना पूछो। मड़वा के नीचे बैठके जो पंगत होती है उसमें नेंग होता है कि दूल्हा को पहले खवाया जाता है। सो उसी में हम अड़ गये कि ग्रामोफोन लेंगे। आखिर ग्रामोफोन के पइसा धरा लिये तब पहला निवाला खाया।"

हम हो···हो करके ताली बजाने लगते और जिज्जी लड़ियाके कहतीं, "क्या दादा, अड़के लिया भी तो ग्रामोफोन।"

"अरे बेटा, उस जमाने में ग्रामोफोन बहुत बड़ी चीज हुआ करती थी।"

दादा बतलाते कि उसके बाद ससुराल में उनका रुतवा कायम हो गया था कि दूल्हा बहुत कड़क है। सुसुराल की औरतें, उसके बाद उन्हें "टेढ़े ताला" के नाम से पुकारने लगी थीं।

दद्दा के सुनाने का ढंग दूसरा था···

दादा से दूर हटकर, अम्मा की उपस्थिति में वे बहुत कुछ सुनाते। उनका उद्देश्य मुख्य रूप से अम्मा को चिढ़ाना होता और अम्मा चिढ़ भी जातीं। खीझ की आड़ में वे अक्सर अपने मायके का बखान करने लगतीं। कहतीं···"इन औरन ने बहौतई सताओ हमारे दद्दा खों। ऐसी ऐंसी ऊटपटांग मांगें रखीं कि कछू ना पूछो। इनके मम्मा के लरका हते एक्न्सरजू परसाद, उनने कुंवर कलेऊ में हमाये इते की जवान नाउन को हाथ पकड़ लयो। हौ···बहाऊं उन बरतियन की सूरत।"

दद्दा हो-हो करके हंसते और कहते, "अब सूरज परसाद भी का करते। तुम्हारे यहां की नाउन थी ही नखरेबाज।"

—"ना हती नाउन नखरेबाज।" अम्मा एक हाथ उठाकर कहतीं, "ऊखों काय नखरेबाज कहत हो। तुमने नई करे नखरा? हां, नई तो।"

"अब हम तो नखरा करतई कहाये। दूल्हा नखरा नई करेगा, लड़के वाले लड़के वालों पर रोब नई चलायेंगे तो कौन चलायेगा।" दद्दा का स्वर थोड़ा गरगराने लगता।

"हौ, अब वो तो दुनिया की रीत कहाई। भगवान ने जिनखों बिटियां दई हैं, उने दबनेंइ पड़हे। ये हमाये दद्दा ने ऐसी अच्छी सादी करी थी···" अम्मा हम लोगों को बतलाने लगतीं, "जब हमाये इते की झांपी देखी इन औरन ने तो देखतई रै गये। इची बड़ी रली हुइये···इती बड़ी। और मार ऊ में गूझा, माठ, पराग, खांखरा, पापरा, खाजा, लडुआ भरे। ऐंसो सुंदर गुना बनो हतो के कछू ना पूछो। गुना माने? अब का बतायं, बेसन को बनत है गोल गोल, मास ऊ में से बहू को भी देखत है।"

दादा और दद्दा ससुराल में रुतबा कायम रखने के कई नुस्खे बतलाते और अम्मा मानतीं कि घर समाज की रीत तो माननी ही पड़ती हैं।

शादी ब्याह में मान-सम्मान के लिये होने वाली लड़ाइयों की भी चर्चा निकलती। ज्यादातर चर्चा निकलती आल्हा सुनने के बाद। बरसात में तो हमें आल्हा सुनने की फुरसत होती नहीं थी। अम्मा हम लोगों को गर्मी की दोपहर में ही आल्हा बांचकर सुनातीं।

बाहर का कमरा जहां लकड़ी की चार कुर्सियां, एक मेज और एक तखत रखा रहता था, बैठक कहलाता। छोटू बड़े ठसके से उसे ड्राइंग रूम कहता। बैठक और रसोई के बीच वाले बहु-उद्देशीय कमरे में हमारी गरमियों की दोपहर कटती। हंसी-मजाक, ताश-अट्टू और दंगा-फसाद सब कुछ यहीं निपटता। एक मेज के नीचे पंखा रखा जाता, फिर मेज को तीन तरफ से चादर से ढांककर और गीला करके कूलर बनाया जाता। चादर को पहली बार गीला करने का

श्रेय प्राप्त करने के लिये हम लोगों में अक्सर झगड़ा हो जाता। बाद में जब भर दोपहर हम अलसा जाते तब भी इसी बात पर झगड़ा होता कि चादर कौन गीला करेगा। तब हम एक-दूसरे को टोंचा मारते कि तुम गीला करो चादर। जब चोंन्चों भौं-भौं बढ़ जाती तो अम्मा हम लोगों को कुत्ता-बिलैया का खिताब देकर शांत रहने को कहतीं। ज्यादा चखड़याव ना हो इसलिये वे हमें आल्हा बांचकर सुनातीं। आल्हा में हर ब्याह के समय एक लड़ाई होती बतलाई जाती तो हम लोग पूछते, "जब शादी होती थी तो ये लोग लड़ते क्यों थे ?"

अम्मा उत्तर देती, "पहले के लोग बड़ी आन-बान के होत रहे।"

···लेकिन ये सारी बातें बहुत पहले की हैं।

जिज्जी जब ब्याह के लायक समझी जाने लगीं तब इन बातों पर पूर्ण-विराम लग गया। तब जिज्जी ने बी. ए. पास कर लिया था और घर में दबी दबी सी चर्चा चल रही थी कि अब क्या किया जाय, जैसे कि जिज्जी का एकदम खाली रहना कोई अनहोनी घटना थी। जिज्जी ने आगे पढ़ने की इच्छा व्यक्त की थी लेकिन उनकी इच्छा—"अब क्या करना है आगे पढ़के," "बिटिया खों जादा पढाके का हुइये" या "अब ठीकई है" जैसी बुदबुदाहटों में डूब गई थी। तय पाया गया था कि फिलहाल निर्णयहीन अनिश्चयात्मक स्थिति का बना रहना बुरा नहीं है।

इन्हीं दिनों घर में बचत योजना लागू की गई थी। सौ वाट का बल्ब फ्यूज हो जाने के बाद बैठक में साठ वाट का बल्ब लगा दिया गया था। अक्सर देर रात दद्दा को खाना परोसते समय अम्मा बिरादरी के लड़कों की चर्चा करतीं और उनकी आंखों में यह आशा जगमगाने लगती कि हमारी बिटिया तो ऐसी सुंदर और सुशील है कि कोई भी अपने घर में ले लेगा।

लड़का तलाशने वाली पहली यात्रा से जब दद्दा वापस लौटे थे तब उनके घर में घुसते ही सभी लोगों ने उन्हें घेर लिया। जिज्जी रसोईघर में चली गई—चाय बनाने के लिये। दद्दा ने अपना सूटकेस दीवार से टिकाकर रख दिया और कुर्सी पर बैठ गये। अम्मा दरवाजे की आड़ लेकर दहलीज से आधी बाहर और आधी अंदर खड़ी हो गई। सबकी आंखों में ढेर सी जिज्ञासाएं थीं जिसकी तरफ ध्यान दिये बगैर दद्दा ने अपने जूते उतारे और कमीज के बटन खोलकर कुर्सी पर थके थके से बैठ गये। कुछ क्षणों के लिये कमरे में इतनी चुप्पी छा गई जितनी हमारे घर में सबके सोने के बाद ही छाती है। आखिर दादा ने पूछा, "क्या हुआ ?"

हूं···दद्दा ने जैसे चौंककर उनकी तरफ देखा फिर धीरे से बोले, "होगा क्या ? ढेरों दहेज मांगते हैं !"

फिर किसी ने कुछ नहीं कहा। अम्मा अंदर चली गईं। दादा "हरिओम" का नारा बुलंद करके जैसा अपना ही ध्यान इधर-उधर बंटाने लगे। जिज्जी ने चाय बनाई और प्याला लेकर बाहर आईं।

इसके बाद दद्दा जब भी किसी यात्रा से वापस आते हम सब इसी तरह, बिना बोले बतायें उनके आस-पास इस तरह मंडराते रहते जैसे किसी विशिष्ट उद्देश्य से नहीं बल्कि यूं ही हम इधर-उधर घूम रहे हैं। अक्सर ही ना तो दद्दा कुछ कहते और न कोई कुछ पूछता। जिज्जी सबकी, खासकर दद्दा की नजरों में बचती हुई इधर उधर के फालतू कामों में अपने आपको उलझाये रखतीं। जिज्जी बातें भी कम करने लगीं थीं। हां, दादा के पास बैठकर धीरे-धीरे बतियाने का उनका क्रम जारी था। कभी-कभी जिज्जी अपनी पुरानी किताबों की कविताएं दादा को पढ़कर सुनातीं और हमें यह देखकर मजा आता कि दादा मध्ययुगीन कवियों की व्याख्या जिज्जी को समझाने लगते। जब दादा को सूरदास या तुलसीदास की कविताओं को समझाने के लिये कहा जाता तो जिज्जी को पहले गाकर सुनाना पड़ता तब दादा अर्थ समझाते। लेकिन जब कमरे में सब कोई इकट्ठे बैठते तो जिज्जी दरवाजे के पल्ले के पीछे अपने आधे शरीर को छिपाकर खड़ी होती।

साल गुजर गया था बिना किसी खास घटना के। बस, जिज्जी एक बार टाइफाइड में बीमार पड़ी थीं। घर में सबसे ज्यादा चिंतित दादा थे और जिज्जी की सबसे ज्यादा सेवाजतन भी उन्होंनें ही की। दवाइयां और पथ्य देने के समय का इतना अधिक ध्यान दादा रखते कि अपनी बंधी हुई दिनचर्या में उन्होंने ढेर से परिवर्तन कर लिये थे। मैं छोटू से अक्सर कहता—"कहा अपनी लड़ैतों बिट्टी के पीछे बुढ़ऊ ना टिरक जांय।"

इस एक घटना के अलावा जो कुछ घटित होता रहा था वह इतने अदृश्य ढंग से घट रहा था कि ऊपर से कुछ भी बदलाव नजर नहीं आता था। वैसे भी हमारी कमीजें तो लम्बे समय तक चल जाती थी लेकिन अब हमारी बनियाइन में पहले से अधिक छेद हुआ करते थे। हमलोगों की बनियाइनें बारी-बारी से खरीदी जाती थीं इसीलिये छेद बड़े हो जाते थे। इस झंझट से बचने के लिये मैंने बनियाइन पहनना ही बंद कर दिया था और उसे फैशन का रूप देने के लिये कमीज का ऊपरी बटन लगाना छोड़ दिया था। यह एका-एक पकड़ में ना आने वाला परिवर्तन था और अड़ोस-पड़ोस वालों को इसका पता भी नहीं चला। सब्जी खरीदने मैं ही जाता था इसलिये मुझे पता था कि अब बड़ा झोला

लटकाने का कोई मतलब नहीं रह गया है इसलिये मैं छोटा झोला लेकर बाजार जाने लगा था। इस झोला परिवर्तन क्रिया को भी कोई नहीं जान पाया। रास्ते में किसी के पूछने पर आसानी से यह कहा जा सकता था कि झोले में परवल हैं जबकि वास्तव में उसमें कुदंरू हुआ करते थे। दद्दा का प्रमोशन हुआ था और उनकी तनखा करीब सत्रह रुपये पैंसठ पैसे बढ़ गई थी। हालांकि इतने रुपयों में करीब छः किलो दूध आ जाता है पर हमारे यहां दूध में एक पाव की कटौती कर दी गई थी। फल्ली तेल के स्थान पर सोयाबीन का तेल ना केवल हम खाने लगे थे बल्कि उसके स्वाद को भी हम आत्मीय बना चुके थे।

वह शाम अन्य शामों जैसी हमारी बेहद जानी-पहचानी थी। बाहर की गली की ढेर सी अस्पष्ट आवाजों को साथ लेकर वह घर में घुसी थी। मैं घूमकर—यानी सब्जी बाजार का चक्कर लगाकर और सब्जी खरीदकर लौट आया था। अम्मा को सब्जियों के दामों की पूरी जानकारी देकर मैं अपने ज्ञान का, और यह बतलाकर कि मोलभाव करके करीब साठ पैसों की बचत मैंने की है, अपनी चतुराई का प्रमाण दे चुका था। टिंडे और कुम्हड़े के भाव में प्रति किलो चार आने की टूटन आई है, यह जानकर अम्मा खुश थीं और आश्वस्त होना चाहती थीं कि नई सरकार ने मंहगाई घटाने की दिशा में काम शुरू कर दिया है।

दद्दा अभी-अभी आफिस से लौटे थे। यों उनकी सूरत-शक्ल से कभी ऐसा नहीं लगता था कि वे चुस्त हैं या सुस्त। वे सुबह, दोपहर, शाम—हमेशा एक से लगते थे। यदि हमारे पास घड़ी के आधार पर सुबह-शाम का पैमाना नहीं होता तो केवल उनके चेहरे से यह जानना कठिन था कि वे आफिस जा रहे हैं या आफिस से आ रहे हैं। अम्मा ने उनसे चाय के लिये पूछा था तो उन्होंने बेहद खुश होकर बतलाया कि आफिस छूटने के बाद, घर लौटते हुए रास्ते में लोगों ने उन्हें दो बार चाय पिला दी थी अतः वे चाय तुरंत नहीं लेंगे, थोड़ी देर के बाद लेंगे। अम्मा और हम सभी दद्दा की ओर प्रशंसा और आदर के भाव से देख रहे थे कि लोग उनका कितना सम्मान करते हैं। छोटू ने तुरंत पड़ोस से मांगा हुआ अखबार दादा के पास से उठाकर दद्दा को थमा दिया। दद्दा के लौटने पर अखबार मांगकर लाना छोटू का काम था, जिसे आज छोटू ने पहले ही निपटा लिया था। दादा अखबार पूरा चाट डालते थे, भले ही यह काम उन्हें मेग्नीफाइंग ग्लास से करना पड़ता था जिसे छोटू अपने स्कूल से मार लाया था। लेकिन दद्दा अखबार यूं ही पलट लेते थे बस पांच-सात मिनटों में। दद्दा ने अखबार खोला ही था कि दादा ने कहा, "क्या जाने आजकल ये क्या हो रहा है। अखबार में जहां देखो बस हड़ताल, डकैती, चोरी, एक्सीडेंट और जाने क्या-क्या!"

उसी समय, जबकि कमरे में केवल अखबार उलटे पलटे जाने की आवाज आ रही थी, दरवाजे से लगकर खड़ी हुई जिज्जी ने कहा, "मैं नीरू के साथ जाकर टाइपिंग सीखा करूंगी ।"

जिज्जी का वाक्य रात की खामोशी में चौकीदार के द्वारा बजाई गई तेज सीटी की तरह लगा। एकदम जैसे झन्नाहट छा गई और फिर बिलकुल खामोशी ! दादा ने भौंहें सिकोड़कर जिज्जी की ओर देखा फिर माला फेरने लगे। दद्दा गहरी नींद से अचानक जाग पड़ने वाले आदमी की तरह विस्फारित नेत्रों से कुछ क्षणों तक जिज्जी की तरफ देखकर इधर-उधर नजरें दौड़ाने लगे। पहली प्रतिक्रिया अम्मा की बुदबुदाहट के रूप में उभरी—"हां...जे सीखहें टाइप। काय घर में कछू काम-धाम नइयां का ?"

"घर के काम धाम के बाद भी काफी समय बच जाता है।" जिज्जी ने सीधे-सादे ढंग से उत्तर दिया। जिज्जी के इस उत्तर के बाद बात चल निकली तो लगातार पैंतालीस मिनट तक चलती रही। जिज्जी बोलतीं और अम्मा बोलतीं। दद्दा शायद तय नहीं कर पा रहे थे कि उन्हें क्या कहना चाहिए। उनकी बात कभी अम्मा के पक्ष में जाती और कभी जिज्जी के पक्ष में।

वह एक लम्बा वाद-विवाद था जिसमें हम ताली बजाने वाले श्रोता की हैसियत भी नहीं रखते थे पर इतनी बात हमारी समझ में आ गई कि जिज्जी टाइपिंग सीखेंगी, यह उस कान्फ्रेंस में तय हो गया। जिज्जी ने इंस्टीट्यूट की फीस पटाई और एक शाम सीधी-सादी साड़ी पहनकर उतनी सीधी-सादी मुद्रा में टाइपिंग सीखने अपनी सहेली नीरू के साथ निकल पड़ी।

हमारे खानदान में पहली बार किसी लड़की ने टाइपिंग सीखने का काम किया।

जिज्जी ने टाइपिंग की परीक्षा पास कर ली थी और सब कुछ अच्छी तरह चल रहा था। अच्छी तरह यानी पहले के समान ही घटनाहीन ढंग से। महीने के पहले पंद्रह दिनों तक सब्जी और दाल बनती फिर केवल दाल बनती। अंतिम सप्ताह दद्दा मूंग की दाल के गुणों का बखान करने लगते और अक्सर कहते—आज तो बस खिचड़ी बनने दो और साथ में घलन दो चटनी और अचार। दद्दा "घलन दो" इस अंदाज में बोलते जैसे गावस्कर का चौका घल रहा हो।

दद्दा की यात्राएं जारी थीं और जिज्जी की फोटो की कई कापियां बन चुकी थीं। लिफाफों का मंहगा होता जाना या बस भाड़े और रेल भाड़े की वृद्धि उन्हें खासतौर पर अखरती। जब भी नये बजट में इन मदों पर टैक्स बढ़ता वे

झुंझलाकर कहते, "इन······ को तो गोली से उड़ा देना चाहिए।" एक बार छोटू ने पूछा था—"किन··· ··को ?" तो दद्दा झुंझला पड़े और उन्होंने डांटकर कहा, "हर बात में टांग मत अड़ाया करो।"

इन्हीं बैण्ठावजन किस्म के दिनों के दौरान, एक दिन जिज्जी के नाम से एक लिफाफा आया तो सनाका खिच गया। वह महीने का दूसरा शनिवार था और दद्दा खाना खाकर सोये हुए थे। जिज्जी पड़ोस में अपनी सहेली के यहां गई थीं। छोटू अपने दोस्त किन्ना को, गुल्लक में जमा होने वाले पैसों की रफ्तार से हिसाब लगाकर बतला रहा था कि रिस्टवाच कब ले सकेगा। उसके हिसाब से लगभग पंद्रह बरस बैठते थे। मैं तय नहीं कर पा रहा था कि पंद्रह बरस बाद की घड़ी की संभावित कीमत का गणित छोटू को बतलाऊं या नहीं। छोटू और किन्ना ने घड़ी के बाद टेपरिकार्डर का हिसाब लगाना शुरू ही किया था कि पोस्टमैन ने आवाज लगाई—चिट्ठी ··। हम लोगों ने लपक कर फर्श पर पड़े लिफाफे को उठाया पर जब हमने उस पर जिज्जी का नाम देखा तो हम भौंचक्के रह गये। हमारे खानदान में पहली बार किसी लड़की के नाम कोई पत्र आया था। हम सभी लिफाफे को भयभीत नजरों से देखते रहे जैसे वह कोई टाइम बम हो फिर उसे ले जाकर हमने दद्दा को सौंप दिया। दद्दा ने लिफाफे को आश्चर्य से उलटा-पलटा फिर कहा, "अरे, यह तो सरकारी है।"

लिफाफा खोलकर देखे जाने पर मालूम हुआ कि वह इंटरव्यू काल था। सभी अचंभे में पड़ गये कि आखिर कब जिज्जी ने रोजगार दफ्तर में नाम दर्ज कराया और आवेदन पत्र दिया। इस बीच छोटू तीर की तरह जिज्जी को बुलाने के लिये छूट चुका था। दद्दा इस बात पर देर तक आश्चर्य व्यक्त करते रहे कि जिज्जी आवेदन पत्र भी भर सकती हैं।

जिज्जी घर आई तो पहला आक्रमण अम्मा ने किया। बेहद साफ और चुभते हुए शब्दों में उन्होंने कहा कि उन्हें जिज्जी से यह उम्मीद नहीं थी। पढ़ाने-लिखाने का अर्थ यह नहीं होता कि घर की बिटिया मनमानी करने लगे। आखिर, बिना कुछ कहे-सुने नौकरी की दरखास्त देने का क्या मतलब होता है। जिज्जी ने पूरी धीरता से कहा, "नौकरी करके घर की सहायता करना कोई बुरी बात है ? दरखास्त तो यों ही दे दी थी, उसमें ऐसी कौन सी बात थी कि सबको बतलाना जरूरी था ?"

दद्दा ने टोका, "पर घर में सबसे सलाह मशवरा करके ही तो काम करना चाहिए कि नहीं ? आखिर पूछने या बतलाने में क्या हर्ज है ? फार्म किससे भरवाया था ?"

"फार्म तो खुद ही भरा था," जिज्जी ने धीमे स्वर में कहा।

"हूं ..." दद्दा ने गंभीरता से सिर हिलाया पर उनके ओठों का एक किनारा रह रहकर थोड़ा वक्र हो रहा था। हमें मालूम था कि ऐसा तब होता है जब उनकी मुस्कुराने की इच्छा होती है लेकिन गंभीरता को कायम रखना जरूरी होता है। थोड़ी देर के लिए कमरे में एकदम चुप्पी छा गई। दादा अपने तखत पर तकिया से टिके बैठे थे। जब बातचीत हुई तो वे पालथी मारकर अर्द्ध-पद्मासन की मुद्रा में आगे झुककर बैठ गये और एक हाथ से अपनी जांघ थपथपाने लगे। उनकी आंखों में आश्चर्य था। कभी वे जिज्जी के चेहरे की ओर देखते और कभी दद्दा के चेहरे की ओर! पर उस बेचैन चुप्पी के कुछ क्षणों के बाद ही फिर एक लंबी बहस चली। तर्क-वितर्क, विरक्ति-आक्रोश, मान-मनौवल के बाद बातचीत की तेजी घटती गई और बात यहां आकर टूट गई कि अगर नौकरी मिल गई तो तनखा कितनी मिलेगी।

"कुल मिलाकर छः सौ के करीब पड़ेगा।" जिज्जी ने बतलाया तो फिर चुप्पी छा गई।

"हां, कौन जल्दी पड़ी है, सोच लैहें। अबै तो ब्यालू की तैयारी करी जाय।" अम्मा ने हथेलियों का जोर घुटनों पर डालकर उठते हुए कहा—"वैसे बहुअन-बिटियन खों नौकरी कराबो हमें तो नईं सुहाय। पै जैंसी सबकी राय हो जाय।"

नौकरी लगने के बाद जब पहले दिन जिज्जी बहुत सीधी सादी वेशभूषा में आफिस के लिये निकली तो केवल हमलोग ही नहीं, हमारे आस-पास के दो-चार घरों के लोग भी उत्सुकता से देख रहे थे। हमारे खानदान में पहली बार कोई लड़की नौकरी करने जा रही थी। दद्दा भी आफिस के लिये जिज्जी के साथ ही निकले थे। अम्मा के चेहरे पर स्थिति से समझौता कर लेने का भाव था। उनके चेहरे पर आक्रोश या उपेक्षा तो नहीं थी पर उनकी ओढ़ी हुई निर्लिप्तता के नीचे लहराते असतोष को हम लोग आसानी से पढ़ सकते थे।

लेकिन जब जिज्जी ने पहली तारीख को तनखा लाकर दी तो अम्मा मुसकाई थीं और उस तनखा का असर जब पंद्रह-सोलह दिनों के बाद निश्चितता के रूप में दिखलाई दिया तो उनके चेहरे पर संतोष झलका था। महीने के आखिर सप्ताह में कद्दू, भाजी और खिचड़ी के स्थान पर जब वे बैंगन या भिंडी बनातीं तो उनकी हार्दिक प्रसन्नता और आंतरिक गर्व को पहचानना कठिन नहीं होता था।

जिज्जी की नौकरी लगने के कुछ माह बाद अम्मा और दद्दा को लगा था कि अब "कमाऊ" बिटिया की शादी देखते ही देखते हो जायेगी। अबकी बार जब

दद्दा यात्रा पर निकले तो सभी लोग आश्वस्त थे। इस बार दद्दा नयी कमीज पहनकर जा रहे थे। पर जब दद्दा यात्रा से लौटकर आये तो वह वापसी भी पिछली वापसियों की तरह थी—उदास और फलहीन। लेकिन इस बार चर्चा के दौरान जिज्जी हमेशा की तरह भीतर नहीं गई।

अम्मा कुछ क्षणों तक चुप्पी साधे जिज्जी को घूरती रहीं फिर फुसफसाई, "बो आदमी को आय ?"

"वर्मा है," जिज्जी ने कहा, "आफिस में काम करता है साथ ही।"

·· यह हमारे लिये बड़ी अजीब बात थी। उस दिन शाम को लौटते हुए जिज्जी आफिस की एक सहेली और एक साथी को लेकर घर आई थीं। वे बैठक में बैठे तो हमलोग दरवाजे मे झांककर बार-बार उन्हें देखने लगे। मैं बैठक पार करता हुआ दो बार बेवजह निकल कर भीतर आ गया और छोटू परदे को पकड़कर गोल-गोल घुमाकर आटे की लोई जैसा बनने लगा। लोगों की रुचि अपने में जागते देखकर वह तरह-तरह के मुंह बनाने लगा। जब लोग मुस्कुराये तो वह परदे की लोई पकड़े पकड़े धमाधम उचकने भी लगा। जिज्जी की सहेली ने पूछा, "क्या नाम है तुम्हारा ?" तो वह बेसुरी आवाज में गाने लगा—"मैं हूं डान···मैं हूं डान।" उसका फूहड़पन जब मुझे नागवार गुजरने लगा तो मैंने भीतर जाते हुए उसकी हल्की सी चपत लगाकर कहा, "क्या बदतमीजी है।" छोटू ने अपनी शर्म छिपाने के लिये ऐंठ दिखलाते हुए कहा—चुप बे – और फिर गाने लगा। मैं उसके उत्पात की सूचना जिज्जी को देने पहुंचा तो पाया कि अम्मा और जिज्जी आमने सामने डटी थीं। जिज्जी ने सूचना दी थी—"आज आफिस के कुछ लोगों के साथ सिनेमा जा रही हूं।"

अम्मा कुछ क्षणों तक चुप्पी साधे जिज्जी को घूरती रहीं फिर फुसफुसाई—"बो आदमी को आय ?"

"वर्मा है," जिज्जी ने कहा, "आफिस में काम करता है साथ ही।"

"हूं···" अम्मा पैनी दृष्टि से देखती रही फिर तकरीबन कैफियत लेने के भाव से बहुत धीमे लेकिन चुभते स्वर में उन्होंने पूछा, "तो का ऊ के साथ जेहो ?"

"और भी लोग हैं", जिज्जी ने सादगी से कहा, "सात-आठ लोग हैं। लड़कियां भी हैं।"

"हूं, अम्मा ने असहमत भाव से सहमति व्यक्त की हालांकि उनसे अनुमति मांगी नहीं गई थी। फिर पंद्रह मिनटों के बाद, हमारे खानदान में पहली बार

कोई लड़की कुछ ऐसे लोगों के साथ कुछ घंटों के लिये बाहर चली गई जो हमारे घर के सदस्यों से एकदम अपरिचित थे।

"हमें जे सब सुहात नइयां" अम्मा ने बात कुरेदी। "हां पर ऐसा है······कि···" दद्दा ने बात टकराई।

···दूसरी बार वर्मा जिज्जी के साथ अकेला ही आया—यों ही। छोटे होते हुए दिनों की शाम थी, जिसमें पतली चाय, सस्ती सब्जी, मसालों की गंध थी और पहाड़ों तथा आरती की आवाजें थीं। दद्दा आज कुछ जल्दी आ गए थे। चाय पी जा चुकी और अखबार भी पढ़ा जा चुका था। जिज्जी अभी तक क्यों नहीं आई—इस संबंध में दादा दो बार चिंता व्यक्त कर चुके थे। हम लोग सचमुच चिंतित होने को थे कि जिज्जी का आगमन हुआ। जिज्जी अंदर चली गई और वर्मा दद्दा के साथ बैठकर बातें करता रहा। बाद में चाय बिस्कुट लेकर जिज्जी भी बैठक में आ गई। वर्मा के जाने के बाद अम्मा ने दद्दा से पूछा, "जो लरका अपनी बिरादरी को आय का ?"

"नहीं तो !" दद्दा ने धीरे से कहा और फिर चुपचाप बैठकर अपनी अंगुलियां चटखाते रहे।

"हमें जे सब सुहात नइयां।" अम्मा ने फिर बात कुरेदी।

"हां···पर ऐसा है···" दद्दा ने बात टकराई।

दद्दा यात्रा से लौटे थे···

कोट उतारकर वे कुर्सी पर बैठे थे और अम्मा फटाफट चाय बनाकर ले आई, वैसी चालू चाय नहीं जो थोड़ी देर पहले हम पी चुके थे। यह अधिक दूध डालकर बनाई गई स्पेशल चाय थी। दद्दा के चेहरे पर इस बार उतनी थकान नहीं थी। हम सब आस पास मंडरा रहे थे। जिज्जी आफिस से लौटी नहीं थी पर उनके लौटने का समय हो चुका था। दादा, रोज की तरह छड़ी उठाकर बाहर की सड़क पर थोड़ी देर टहलने की तैयारी कर रहे थे। दद्दा के आ जाने के कारण उन्होंने अपना कार्यक्रम बदल दिया था और अपनी छड़ी कोने से टिकाकर तखत पर बैठ गये···अपनी विशिष्ट मुद्रा में। दादा ने पूछा, "क्या, कैसा रहा ?"

"कुछ-कुछ तो उम्मीद तो है इस बार।" दद्दा ने चाय का घूंट लेकर कहा।

"पूरी उम्मीद, काय नइयां ?" अम्मा ने पूछा।

"अब ऐसा है कि कुछ साफ-साफ तो नहीं कहा उन लोगों ने लेकिन घुमा-फिराकर बोई बात कहीं कि दहेज अच्छा मिले। शादी स्टेंडर्ड की हो। वैसे लड़का अच्छा है और घरबार भी बढ़िया है पर···।" दद्दा हथेली से पांव का पंजा सहलाते हुए सामने की दीवार की ओर देखने लगे।

दादा ने गला खंखारकर कहा "हरिओम" और घुटना थपथपाने लगे। जब लोग तय नहीं कर पा रहे थे कि क्या बोलें तभी अम्मा ने कहा—"अगर बात जमत हो तो कहूं ये थोरा बहोत करजा ले के निपटा दें···"

अम्मा की बात अभी पूरी नहीं हुई थी कि जिज्जी आफिस से लौट कर आ गई। उन्होंने अम्मा की बात सुन ली थी और समझकर खड़ी हो गई। वे पारी पारी से सबको देखने लगीं। उनकी इस कदर उपस्थिति सबको अटपटी लगी। अम्मा ने जिज्जी से कहा, "जाव, हाथ-मों धो के चाय-माय पी डारो।"

जिज्जी फिर भी खड़ी रही और कुछ क्षणों के बाद बोली, "करजा-वरजा ले के शादी करने की सोच रहे हैं आप लोग ?"

सभी की आंखें आश्चर्य से फैल गईं। दादा के हाथ का प्याला छूटते-छूटते बचा। हमारे खानदान में पहली बार, किसी लड़की ने अपनी शादी के बारे में घर वालों से चर्चा की थी। अम्मा की आंखों का आश्चर्य जल्दी ही हिकारत और क्रोध में बदल गया। उन्होंने तिक्तता से पूछा, "काय, लरकिया की शादी में दुनिया करजा लेत है। तुमें का करने हैं ई सें, अच्छी बेसरमाई सीखी है।"

"आप लोग मेरी शादी की चिंता छोड़िये। मेरी शादी के लिए घर भर को कर्ज में डुबाने की जरूरत नहीं है।" जिज्जी ने अम्मा की ओर देखकर कहा।

"हम लोग चिंता नहीं करेंगे तो कौन चिंता करेगा ?" दद्दा ने कैफियत लेने के अंदाज से कहा।

जिज्जी कुछ देर जैसे अपने आपको तौलतीं रहीं। कमरे में एक अजीब सा घुटन भरा सन्नाटा छा गया। सब कोई जिज्जी की ओर देख रहे थे। आखिर जिज्जी ने धीरे से कहा, "मैं खुद कर लूंगी दद्दा।"

"हौं, जे खुद कर लेंहें। बहाऊं इनकी सूरत। नौकरी करन लगीं सो सबयारई अपने मन कीं हो गई हो का।" अम्मा ने तल्ख स्वर में कहा।

"लड़के के लिये दर-दर भटकने की जरूरत नहीं।" जिज्जी की आवाज हल्की सी थर्रा रही थी लेकिन फिर भी संतुलित थी, "मैंने खुद···यानी···कि मैंने अपने लिये तय कर लिया है।"

अब तक दद्दा की सांसें तेज चलने लगीं थीं और वे आग हो गये थे। पहले उन्होंने बेहद आश्चर्य भरी नजरों से जिज्जी को देखा फिर उनकी आंखों से

जैसे झारें निकलने लगी थीं। नफरत की तल्खी से भरे हुए तेज स्वर में उन्होंने कहा, "बहुत ज्यादा बढ़ गई हो तुम ! पढ़ लिखकर नौकरी करने लगी हो तो अपने को बिलकुल स्वतंत्र समझने लगी हो ! क्यों···ऐं क्यों ?" दद्दा को शब्द नहीं मिल रहे थे। उनके ओंठ थरथरा रहे थे और उनके मुंह से थूक के कतरे उड़ रहे थे। गुस्से से कांपती आवाज में उन्होंने फिर कहा, "ऐसी बात कहने की हिम्मत कैसे हुई तुम्हें ! कुल को लजबाओगी तुम ! क्यों ? अब मां-बाप शादी नहीं करवायेंगे ! खुद करेंगी ये जात-कुजात में ! क्यों ? ··येई सब हो रहा है नौकरी के नाम पर। ···मैं कहता हूं···मैं कहता हूं···"

"क्या तमाशा मचा रखा है ?" अचानक हा दादा तेज स्वर में बोले। एक लम्बे अरसे के बाद किसी घरेलू प्रकरण पर बोलकर उन्होंने अपनी उपस्थिति को बोध कराया था।···अरे हम तो गये गुजरे जमाने के लोग हैं। जमाने की रीत के हिसाब से गुजारते रहे अपनी जिंदगी। मगर तुम तो आज के जमाने के आदमी हो।, तुम्हें अपनी लड़की की भलाई नहीं दिखलाई देती ?"

अब जाकर हम समझ पाये कि वे दद्दा से कह रहे हैं वर्ना हमने समझा था कि जिज्जी के खिलाफ एक मोर्चा और खुल गया है। दादा की आवाज तेज होती गई, "दर-दर भटक कर कुल की इज्जत नई घटती ? रही कुल की रीत की बात तो उसको चाटोगे क्या ? अरे, दरवज्जे-दरवज्जे माथा रगड़ कर गुम्मड़ निकल आया मगर उन हरामखोरों के सामने जुबान नहीं खुलती जो चक्कर कटवा रहे हैं। हम जैसे बुड्ढों को भी बात समझ में आ गई पर तुम्हें नहीं आती। क्या बुरा कह रही है लड़की ? बताओ क्या बुरा कह रही है ?"

कमरे में चुप्पी छा गई जैसे धम्म से किसी चीज के गिरने के बाद छाती है !

जिज्जी अंदर चली गई !

अम्मा-दद्दा सिर झुकाकर बैठ गये !

हम लोग बेवजह खुश हो गये।

जहाज

सत्येन कुमार

याददाश्त बर्फ की तरह होती है, मुझे हमेशा लगता रहा है। कोई भी चीज़ जैसी रख दो वैसी ही बनी रहती है।

करीब बीस साल बाद मैं इस शहर को देख रहा था। कुछ नहीं बदला था। वही झील वही ऊंची-नीची सड़कें, वही आमने-सामने खड़ी बिल्कुल पुरानी और बिल्कुल नई इमारतें। लेकिन बहुत सी चीजें बदली जरूर होंगी। झील गहरी हो गई होगी या उथली। सड़कें चौड़ी हो गई होंगी। कुछ बहुत पुरानी इमारतें गिर गई होंगी। कुछ और नयी इमारतें पुरानी हो गई होंगी। नई बहुत सी और इमारतें बनी होंगी···लेकिन टैक्सी की खिड़की से गुजरता शहर नया हर्गिज नहीं लग रहा था।

लेकिन कुछ देर बाद जब एकाएक टैक्सी रुकी तो एकबारगी मैं बैठा सा रह गया। मेरी तरफ वाली खिड़की के बाहर दूर तक फैली हुई वीरानी पर नजरें जैसे चिपक कर रह गई थीं। कदाचित् चौंक कर मैंने दूसरी तरफ देखा। गाड़ी एक बहुत बड़ी कोठी के कम्पाउण्ड में आकर रुकी थी। लेकिन मुराद मंजिल····? और उसके साथ ही दिमाग में बीस साल पहले की एक चम-चमाती कोठी का जैसे एक ग्लौसी सा प्रिन्ट उभर आया।

अचानक नजरें पोर्च के ऊपर, बीचों-बीच लगे हुए संगमरमर पर टिक गई। काले पत्थरों से जड़े हुए उर्दू के बड़े-बड़े लफ्ज नजर आ रहे थे—मुराद मंज़िल और उसके नीचे—1916.

इसके पहले कि टैक्सी ड्राइवर कुछ कहता मैंने दरवाजा खोला और फिर पैसे देकर सामान उतरवाने लगा।

एक कोहराभरी, धुंधली सी सुबह और सोयी हुई वीरानी से घिरी हुई मुराद मंजिल। मैं अभी तक वैसे ही खड़ा था। आंखों में बीस साल पहले की चम-चमाती हुई मुराद मंजिल की तस्वीर जैसे फैलते हुए कोहरे में धुंधली पड़ती

जा रही थी और धीरे-धीरे सब कुछ एक नयी तरह से पहचान में आता जा रहा था। पोर्च, उसमें खड़ी हुई काली ब्यूक, ऊंचे-ऊंचे खम्बों से घिरे, लम्बे बरामदे, लॉन, फव्वारा···सब कुछ वही था, लेकिन···। और अचानक एक और तस्वीर दिमाग में कौंध गई···योरोप से लौटते हुए न जाने किस पोर्ट पर एक जहाज देखा था। डॉक-यार्ड से काफी हट कर खड़ा हुआ एक पुराना, टूटा हुआ, बेकार जहाज···

अचानक पोर्च के दूसरी तरफ से मुर्गियों का एक झुण्ड चीखता हुआ-सा बाहर की तरफ भागा। सन्नाटा जैसे नींद से चौंक पड़ा।

झुकी कमर की एक बूढ़ी औरत धीरे-धीरे इसी तरफ आ रही थी। मैं आगे बढ़ा।

'कौन···' शायद कदमों की आवाज सुनकर बूढ़ी औरत ने कहा।

'स्सलाम आलेकुम', नजदीक पहुंच कर मैंने कहा।

जवाब में बूढ़ी औरत कुछ बड़बड़ाकर रह गई और फिर मेरी तरफ देखने लगी।

'जनाब रफतुल्लाह खान साहब से···', मैंने कहना शुरू किया, फिर जल्दी से जुमला पूरा किया, 'मैं दिल्ली से आया हूं।' बूढ़ी आंखें अब गौर से मेरी तरफ देख रही थीं। जवाब मिला, 'रफत मियां उस तरफ हैं··· चले जाइये', उसने अपने पीछे की तरफ इशारा किया।

मैं आगे बढ़ा। दूसरी तरफ कोने वाले हिस्से में एक दरवाजा था। बाहर एक छोटी सी नेम प्लेट लगी हुई थी—मुमताज जहां बेगम। एक-बारगी मेरे पैर रुके। फिर सामने बने चबूतरे पर चढ़ कर मैंने नेम-प्लेट के नीचे लगी कॉल-बैल के बटन को दबाया।

कुछ देर बाद दरवाजा खुला। एक अधेड़ से साहब ड्रेसिंग-गाउन पहने, आंखें मलते हुए खड़े थे।

'कौन···?'

मैंने सलाम किया और फिर बोला, 'मैं इमरोज···दिल्ली से···', मैं इतना ही कह पाया था कि एकदम वह बोल पड़े, 'अरे··अच्छा, अच्छा···आओ मियां, आओ···' नींद की खुमारी की कुछ परतें हट गई थीं। उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर अंदर चलते हुए पूछा, 'सामान वगैरा···?'

'जी, बाहर···'

'ठीक है, मंगवाए लेते हैं···आओ।'

हम लोग एक कमरे में दाखिल हुए। शायद ड्रॉइंगरूम था।

'जी० टी० से आये होंगे···', मेरे सामने वाले सोफे पर बैठते हुए उन्होंने पूछा।

'जी हां।'

'तुम्हारे वालिद साहब का खत मिल गया था', उन्होंने कहा। फिर 'एक मिनट' कहकर वे उठे, 'जरा चाय के लिए कह दूं', और वे सामने वाले दरवाजे से अंदर चले गये।

न जाने क्यों एक राहत-सी मुझे महसूस हुई। टैक्सी से उतरने के बाद से ही एक अजीब सी बेचैनी ने मुझे घेर लिया था। कमरे में रात भर से बंद एक उमस भरा खालीपन भरा हुआ था। मैंने उठकर अपने सामने वाली खिड़की का पर्दा हटाकर उसे खोल दिया। सामने एक झील थी, बहुत दूर तक फैली हुई। कोहरा धीरे-धीरे हट रहा था। आस्मान के उस किनारे पर एक हल्की, मटमैली सी सुर्खी उभर रही थी। मैं वापिस अपनी जगह आकर बैठ गया।

कमरा नये ढंग से सजा हुआ था। हल्के पीले रंग की दीवारें, लाल जूट का कार्पेट, ग्लास-टॉप सेन्ट्रल टेबुल···और नजरें रुक गई। एक बड़ा-सा गुलदान सामने वाले कोने में रक्खा हुआ था। पुराने, रंगीन, बेल्जियन ग्लास का बहुत ही खूबसूरत गुलदान। बिल्कुल खाली।

'यहां आने में तो कोई दिक्कत नहीं हुई', रफत मियां ने कमरे मे दाखिल होते हुए पूछा।

'जी नहीं, कोई परेशानी नहीं हुई।'

'अगर तुम्हारा प्रोग्राम सही मालूम होता तो गाड़ी भेज देते', उन्होंने सिग्रेट सुलगाते हुए कहा। फिर अचानक सिग्रेट मुंह से हटाकर बोले, 'लेकिन तुम्हारी तो देखी हुई है मुराद मंजिल, मेरे ख्याल से···'

'जी हां', मैंने मुस्कराते हुए कहा, 'मैं बहुत छोटा था तब।'

'हां देखो, अब याद आया मुझे···सन् बावन की बात है न, जब तुम्हारे वालिद दिल्ली चले गये थे। तुम तो मियां छोटे से थे उस वक्त, मेरे ख्याल से बमुश्किल तमाम आठ-नौ साल के रहे होगे।'

'जी हां।'

एक नौकर चाय की ट्रे लेकर कमरे में दाखिल हुआ। रफत मियां ने अपने पास की टी-पॉय पर ट्रे रखवा ली और चाय बनाने लगे।

'तुम तो लन्दन गये थे न तालीम के लिए', उन्होंने चाय का कप मेरी तरफ बढ़ाते हुए पूछा।

'जी हां, इंजीनियरिंग के लिए।'

'काफी दिन रहे होगे ?'

'करीब दो साल। अभी पिछले महीने वापिस लौटा हूं।'

'हूं अ अ····', कुछ देर तक वे चुपचाप चाय पीते रहे। फिर प्याले की तरफ देखते हुए बोले, 'बहुत अच्छा है मियां, इस जमाने में तो अब तालीम और काबलियत ही काम आती है', फिर कुछ रुक कर उन्होंने पूछा, 'यहां एच० ई० एल० में नौकरी मिली है न ?'

'जी हां', मैंने चाय का प्याला रखते हुए जवाब दिया।

चाय पीने के बाद वे उठे, 'अच्छा, तुम यहीं बैठो कुछ देर। मैं जरा तुम्हारा कमरा वगैरा साफ करवा दूं।'

'तुम नहा-धो लो, इतने में सब लोग जग जायेंगे, फिर मिलना···', कहकर रफत मियां चले गये थे।

मैं अभी तक वैसे ही खड़ा, कमरे को घूर रहा था। बेचैनी भरा वह बर्फीला-सा अहसास फिर लौट आया था। यह एक गोल-सा कमरा था। बकौल रफत मियां के, मरहूम अब्बाजान की ख्वाबगाह। चारों तरफ दीवारों पर बड़े-बड़े आईने जड़े हुए थे, जिनका पानी अब उतर सा गया था। नौकर के जरिये करवाई गई झाड-पोंछ के बावजूद एक पुराना-सा पीलापन उन पर छाया हुआ था, जिनमे मुनक्किस होकर कमरे में जलते हुए बल्ब की रोशनी और ज्यादा पीली लग रही थी। दीवारों पर आईनों के बीच-बीच में कुछ जगहें खाली थीं। सामने की तरफ कुछ ऊंचाई पर लगी भारी, सुनहरी फ्रेम में जड़ी हुई एक पुरानी पेंटिंग थी।

कमरे में पुराने रेशम की एक तीखी सी महक भरी हुई थी। बाहर सूरज निकल आया होगा। मैं आगे बढ़ा और बायीं तरफ वाले हिस्से में लगे हुए भारी, मखमली पर्दों को हटाकर खिड़की खोल दी। सफेद रोशनी से कमरा भर गया। बाहर, काफी दूर तक फैला हुआ, सूखी घास और बेशुमार सूखे पत्तों से ढंका हुआ बाग था। आम का एक अकेला दरख्त बीचों-बीच झुका सा खड़ा था। खामोशी के माहौल में बस एक ही आवाज गूंज रही थी। किसी सिलाई-मशीन के चलने की आवाज, जो लगता था कहीं पास ही से आ रही थी।

खिड़की से हट कर मैंने एकबारगी कमरे को फिर सरसरी नजर से देखा। अब कुछ बेहतर लग रहा था। सामने की तरफ दीवार से कुछ हट कर एक काफी बड़ा फ्रैंच-बेड था, जिसके ऊपर पुराने, मैरून रंग का, झूलता हुआ सा साटन का बेड-कवर बिछा था। पलंग से हट कर बायीं तरफ एक दरवाजा

था। शायद बाथरूम। मेरा अंदाजा ठीक निकला। सफेद पत्थर में बना हुआ एक काफी बड़ा-सा कमरा था, जिसकी एक दीवार पर एक पूरा आदमकद आईना लगा हुआ था। दूसरे कोने में सफेद पत्थर का ही एक काफी बड़ा टब था। पुराने ढंग का अच्छा-खासा गुसलखाना था। मैं कमरे में लौट कर अपना सामान वगैरा खोलने लगा। बीच में नौकर ने आकर खबर दी कि गुसलखाने में गर्म पानी रखवा दिया गया है। कपड़े वगैरा निकाल कर मैं नहाने की तैयारी करने लगा।

रफत मियां के डाइनिंग-रूम में जब मैं पहुंचा तो नौ बज रहे थे। नाश्ते की मेज पर एक नौ-दस साला लड़का और उससे करीब दो-तीन साल छोटी एक लड़की थी। 'शबनम और फिरोज', रफत मियां ने बताया और फिर उन दोनों से बोले, 'बेटे सलाम करो चचा को!' दोनों बच्चों ने एक शर्मीली सी मुस्कराहट के साथ सलाम किया। तभी बावर्चीखाने से, हाथों में प्लेटें लिये, एक मोहतरिमा कमरे में दाखिल हुईं।

'तुम्हारी भाभी', रफत मियां ने मुझसे कहा और फिर उनकी तरफ देखकर बोले, 'इमरोज मियां···'

मैंने उठकर सलाम किया।

'बैठिये, बैठिये···', उन्होंने सलाम का जवाब देते हुए कहा और प्लेटें टेबुल पर लगाने लगीं।

मुमताज जहां बेगम! बाहर लगी हुई, छोटी सी नेम-प्लेट मेरी नजरों के सामने घूम गई। तीस-बत्तीस साल की उम्र, हिफाजत से रक्खा गया, जरा भारी सा जिस्म। गोरा रंग, खूबसूरत, तीखे नक्श और दो बेहद काली आंखें।

'जॉइन क्या आज ही करना है?' रफत मियां पूछ रहे थे।

'जी नहीं, कल।'

'बस तो ठीक है, आज आराम करो। रात को ट्रेन में तो क्या सो पाये होगे।'

'जी हां, ऐसे ही रहा कुछ···'

'भई, दरअसल बड़ी वाहियात सवारी है। मुझे तो दहशत होती है और ये तो बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर पातीं', उन्होंने बेगम साहिबा की तरफ इशारा किया।

इधर-उधर की बातें होने लगीं। ज्यादातर वक्त रफत मियां ही बोलते रहे। नाश्ता खत्म करके जब हम लोग उठने लगे तो बेगम साहिबा ने पहली बार मुझसे मुखातिब होकर कहा, 'आपका कमरा तो खुला हुआ है न? दरअसल जल्दी-जल्दी में सफाई नहीं हो पाई होगी! मैं अब करवाऊंगी···'

'आप परेशान मत होइये…', मैंने कहना शुरू किया, फिर उनकी मुस्कराहट देखकर मैंने धीरे से जुमला पूरा किया. 'जी हां, कमरा वैसे खुला है', और रफत मियां के साथ मैं बाहर आ गया।

'आओ, जफर भाई के पास चलें', बाहर आकर पोर्च के भीतर दाखिल होते हुए उन्होंने कहा।

बिल्कुल सामने ही एक काफी बड़ा दरवाजा खुला हुआ था। गहरे मैरून रंग का एक भारी मखमल का पर्दा पड़ा था, जिसमें जगह-जगह जरी का काम उघड़ा हुआ था। अंदर दाखिल होकर एक सोफे की तरफ इशारा करके रफत मियां ने कहा, 'तुम बैठो, मैं देखता हूं', और वे अंदर की तरफ वाले दरवाजे से चले गये।

सोफे पर बैठते हुए मैं उसमें धंस सा गया। गैर-इरादी तौर पर नजरें ऊपर की तरफ चली गईं और फिर वहीं ठहर गईं। कमरे के बीचों-बीच एक बहुत बड़ा फानूस छत से लटका हुआ था। क्रिस्टल ग्लास का। एक लम्हे के लिए दिमाग जैसे कहीं पर रुक सा गया। फिर याद आया कि यह कमरा मुराद मंजिल का पुराना, खास ड्राइंग-रूम था। बचपन में शायद कोई जश्न इसी कमरे में देखा था। और तभी इस फानूस को भी अपनी पूरी जगमगाहट के साथ जलते हुए देखा। लेकिन साथ ही कोई और भी चीज थी जो फिलहाल याद नहीं आ रही थी।

नजरें अब सिलसिलेवार तरीके से कमरे में घूमने लगी थीं। बेहद बड़ा कमरा था। करीब-करीब एक पूरा हॉल। ऊंची-ऊंची दीवारें, छत के करीब बड़े-बड़े रोशनदान जिनसे रेशमी रस्सियां नीचे लटक रही थीं। खिड़कियों पर वही भारी-भारी शनील के पर्दे। पूरे कमरे में एक गहरे लाल रंग का फर्श बिछा हुआ था और उसके ऊपर एक बहुत बड़ा सुर्ख, काले और सफेद रंग के पैटर्न का ईरानी कालीन। और उसके ऊपर, कमरे के बीचों-बीच, दीवार के सामने बिछा हुआ सफेद फर का गालीचा, जिसके रोएं अब खत्म हो चुके थे और रंग पर जर्दी छा गई थी। पुराने, विक्टोरियन फर्नीचर की भारी-भारी चीजें कमरे में यहां-वहां रक्खी हुई थीं। चारों तरफ दीवारों पर बड़े-बड़े सुनहरी फ्रेम्स में बहुत से पोर्ट्रेट्स थे। मेरी बायीं तरफ वाली दीवार पर ऐसी ही तीन-चार जगहें खाली थीं। ज्यादातर तस्वीरों के रंग अभी तक चमक रहे थे लेकिन सबके सुनहरी फ्रेम फीके पड़ गये थे। दीवार के पीछे एक काफी बड़ा आतिशदान था और उसके दोनों तरफ वाली दीवारों के सहारे शीशेदार अल्मारियां, जिनमें बेशुमार किताबें करीने से सजी हुई थीं। सजावट के तौर पर चारों तरफ स्टैन्ड्स पर और दीवारों पर शिकार की ट्रॉफीज लगी हुई थीं – चीतल, हिरन,

तेंदुए और चीतों के सिर। शीशे की चमकती हुई, झूठी आंखों से देखते हुए। और सारे माहौल पर छाई हुई वही पुराने, रेशम की महक।

रफत मियां एक और साहब के साथ बातें करते हुए कमरे में दाखिल हो रहे थे। मैंने खड़े होकर सलाम किया।

'जफर भाई', रफत मियां ने मुस्कराते हुए कहा।

'वालेकुल अस्सलाम, साहबजादे', जफर भाई ने पास आकर बड़ी गर्मजोशी से जवाब दिया और फिर हाथ मिलाते हुए मुझे अपने कंधों से लगा लिया।

'भई वाह, माशाअल्ला बड़े खूबसूरत नौजवान हो। बिल्कुल सर-फराज के बेटे···बेहद खुशी हुई तुम्हें देखकर···आओ, बैठो', और बड़े वाले सोफे पर वे मेरे पास ही बैठ गये।

मैंने मुस्करा कर उनकी तरफ देखा। गोरा चेहरा और लाल दाढ़ी। और अचानक फिर फानूस वाली बात दिमाग में रोशन हो गई। फिर तो जैसे सारे कोने जगमगा उठे··· लन्दन से वापिसी का सफर, जहाज, आयरिश शिप-कैप्टेन, उसका गोरा चेहरा और लाल दाढ़ी, शिप का डाइनिंग हॉल और उसके बीचों बीच छत से लटकता हुआ क्रिस्टल-ग्लास का भारी फानूस···

जफर भाई की आवाज ने मुझे अपनी तरफ खींचा।

'सरफराज तो अच्छी तरह हैं न ?' वे पूछ रहे थे।

'जी, आप सब लोगों को दुआ कही है। बेहद याद करते हैं, शायद आयेंगे यहां पर···'

'अरे अब आयेंगे क्या···अब तो यहां आकर रहना चाहिये। जमाना हो गया उसे भोपाल छोड़े। और फिर अब तो आराम के दिन आये हैं', और जफर भाई मुस्करा पड़े।

जफर भाई अब्बा की ही उम्र के थे। हालांकि अब्बा इस घर के मुलाजिम रहे थे लेकिन मरहूम जनाब अताउल्लाह खान साहब ने कभी भी अपने लड़कों और अब्बा में कोई फर्क नहीं समझा था। वैसे भी जफर भाई और अब्बा में एक खास ढंग की दोस्ती थी।

जफर भाई की आंखें मेरे चेहरे की तरफ देख रही थीं। या शायद बीते हुए जमाने को।

और मेरी आंखों में उनका चेहरा, जहाज के आयरिश कैप्टेन के चेहरे के ऊपर झिलमिला रहा था। दोनों चेहरों में अजीब-सी मुशाबिहत थी। बस आंखें अलग-अलग थीं। कैप्टेन की आंखें नीली थीं—समंदर की तरह गहरी। और जफर भाई की आंखें कुछ भूरी सी, सूखे पत्तों से ढंकी वीरानी की तरह।

'अरे हां···', कुछ देर बाद जफर भाई को जैसे कुछ याद आया, 'तुम तो बर्तानिया से लौटे हो भई, वहां के हाल-चाल सुनाओ। अब तो बहुत बदल गया होगा अंग्रेज बहादुर का मुल्क।'

जफर भाई खुद लंदन में रहे थे। लॉ की पढ़ाई के सिलसिले में।

फिर वहीं की बातें होने लगीं।

रात हो चुकी थी। सारा दिन मुराद मंजिल में ही गुजरा था। कुछ भी खास नहीं किया था लेकिन बेतरह थकान छा गई थी। करीब-करीब वैसी ही थकान, जैसी उस रोज, जब जहाज बम्बई आ कर लगा था, तब जहाज से उतर कर महसूस हुई थी। दिमाग में जैसे पानी सा भर गया था, जिसे सोख-सोख कर नसें फूल गई थीं। न जाने क्यों जिस ढंग से सारा दिन गुजरा था, वह कुछ ऐसे अहसास था जैसे किसी ऐसे मरीज के पास जो बोल भी न सकता हो, बैठे-बैठे सारा दिन गुजारा हो।

लेकिन हकीकतन बहुत अर्से बाद मैंने इतनी बातें की थीं। जफर भाई के साथ तो पूरे तीन घंटे बीत गये थे। न जाने कहां-कहां की बातें निकल आई थीं। उसी दौरान बहुत सी और बातें पता चली थीं। उन तीन घंटों में न जाने कितनी बार मैं चौंक-चौंक पड़ा था। ड्रॉइंग-रूम के इरानी कालीन का पैटर्न मेरे जहन में नक्श हो गया। वहां से उठते वक्त लगा था जैसे सारी उम्र मैंने उस कमरे में बैठे-बैठे गुजारी थी और मेरे देखते ही वहां की एक-एक चीज पुरानी हो गई थी। वक्त का एक पूरा दरिया वहां से बह कर गुजर चुका था और मैं और जफर भाई उसके पीछे छूटी हुई गीली रेत में. धंसते हुए पैरों पर खड़े, रेत में पड़ी हुई शिकनों को देखते रहे थे।

मुराद मंजिल तीन हिस्सों में बंट गई थी, जैसे ही जफर भाई ने यह बात बताई थी, मेरी आंखों के सामने बीस-बाईस साल पहले के असदुल्लाह भाई की मुजस्सिम तस्वीर आकर खड़ी हो गई थी। गोरा, लम्बा और भरा हुआ जिस्म और हंसता हुआ बेफिक्र और खूबसूरत चेहरा। मैं शायद जफर भाई से उनके बारे में पूछने ही वाला था कि उन्होंने अपने खास अंदाज में धीरे-धीरे कहा था, 'असद नहीं रहा···तुम तो जानते होगे।' और मैं उनके चेहरे की तरफ देखता रह गया था। अपने-आप ही बाद में उन्होंने बताया था कि असद भाई को न जाने कैसे पैथेड्रीन की लत पड़ गई थी और उसी ने उन्हें खत्म कर दिया था। जीते जी ही उन्होंने न सिर्फ अपने हिस्से की सारी दौलत बहा दी थी बल्कि बेहिसाब कर्ज छोड़ गये थे। 'अब अरमाना दोनों लड़कियों के साथ बायीं

तरफ वाले हिस्से में रह रही हैं', जफर भाई ने कहा था, 'काफी हिस्सा किराये पर है, उसी से चल रहा है सब कुछ', और वे चुप हो गये थे।

बाहर आ कर जफर भाई ने कोठी के अलग-अलग हिस्से दिखलाये थे। बीच के हिस्से में जफर भाई रहते थे। उन्होंने शादी नहीं की थी। दायीं तरफ रफत मियां का हिस्सा था और बायीं तरफ मरहूम असद भाई का, जिसमें अब आपा बेगम, गजाला और फरयाल रह रही थीं। जफर भाई के साथ ही आपा बेगम और फरयाल से मिलना हुआ था। आपा बेगम को देखकर और उनके सीधे-सादे लिबास के बावजूद यह यकीन करना मुश्किल था कि वे बेवा थीं। उम्र और काबिले-अफसोस वाकयात के असर को पीछे धकेल कर, बिल्कुल नुमायां, दो हीरे-सी चमकती आंखें, जिनमें देखने की मेरी हिम्मत नहीं हुई थी। फरयाल भी देखने में उतनी ही खूबसूरत थी। मुश्किल से पंद्रह-सोलह साल की एक खामोश लड़की जो आपा बेगम की बेटी से ज्यादा उनकी छोटी बहन लगती थी।

आपा बेगम वाला हिस्सा कोठी के दूसरे हिस्सों से अलग था। बल्कि शायद ही उसे मुराद मंजिल का हिस्सा कहा जा सकता था। कोठी के बायीं तरफ वाले बाहरी हिस्से में, तीन कमरों और उनसे घिरे एक छोटे से दालान का, यह एक बिल्कुल मामूली-सा घर था। पीछे की तरफ खुलने वाले दरवाजे में एक गंदा-सा पर्दा पड़ा हुआ था, जिसे देख कर बिल्कुल अनचाहे तौर पर उस घर और उसके भीतर पूरे माहौल और पूरी जिंदगी के बारे में एक राय बन गई। दालान में ही एक चटाई बिछी हुई थी जिसके पास लकड़ी के एक खोके पर एक सिलाई-मशीन रक्खी थी और आस-पास कपड़ों की रंग-बिरंगी कतरनें बिखरी हुई थीं। उस मशीन को देखकर मुझे समझ में आया कि मेरा कमरा इस हिस्से से लगा हुआ था।

बहरहाल वहां भी काफी देर बैठना हुआ था। बातचीत का सिलसिला फिर बीते दिनों की तरफ चला गया था और उसी दौरान जब आपा बेगम ने मुझसे कहा, 'अब तो यकीन नहीं होता कि तुम कितने शरीर थे छोटे पर···तुम और गजाला···तौबा···आफत कर देते थे', तो मैंने पहली बार उनके चेहरे की तरफ देखा था। और उसके बाद एक हल्की-सी तस्वीर दिमाग में उभर आई थी।

एक सुर्ख गालों वाली, गोल-मटोल-सी लड़की की तस्वीर···गजाला। फिर तो खुद-ब-खुद जैसे कोई पूरा एलबम खुलता गया···गजाला फव्वारे के नीचे बने हौज में खड़ी मुझ पर पानी फेंक रही है···इमली के घने, सायेदार दरख्त के नीचे हम दोनों भरी दोपहरी में इमलियां बीन-बीन कर खा रहे हैं···बहुत-

सी और तस्वीरें थीं, लेकिन उनमें से किसी में भी गजाला का चेहरा साफ-साफ नजर नहीं आ रहा था।

वहां से लौटने के बाद मुझे याद आया कि बचपन में मैं आपा बेगम को चची-जान कहा करता था। लेकिन लाख कोशिशों के बाद भी न तो मुझे उनका, उन दिनों का चेहरा याद आया और न ही गजाला का। गजाला आजकल कहीं नौकरी कर रही थी इसलिए उस वक्त वहां मौजूद नहीं थी, यह मुझे जफर भाई ने बताया था। शाम होते-होते तो मुझ पर गजाला को देखने की एक बेचैनी-सी सवार हो गई थी। लेकिन गजाला शायद अभी तक नहीं लौटी थी, क्योंकि कुछ देर पहले तक रफत मियां के ड्राइंग-रूम में करीब-करीब सब लोग ही बैठे बातचीत करते रहे थे।

अब साढ़े दस बज रहे थे। कल सुबह जल्दी उठना होगा, मुझे याद आया। नौकरी ! और एक नई जिंदगी की शुरुआत। लेकिन न मालूम क्यों इस ख्याल से किसी भी थ्रिल का अहसास फिलहाल नहीं हो रहा था।

बत्ती बुझाने के इरादे से मैं उठा। यक-ब-यक चारों तरफ न जाने कितने साये खड़े हो गये। चारों तरफ, दीवार के आईनों में, मेरे ही बेगिनती अक्स मुझे देख रहे थे।

खिड़की बंद करने के लिए मैं आगे बढ़ा। बराबर वाले हिस्से से आवाजें आ रही थीं।

'विलायत से लौटा है। पहले तो मैं पहचान ही नहीं पाई···' आपा बेगम की आवाज थी।

'··········'

'रफत मियां ही मेहमान-नवाजी कर रहे हैं। दोपहर को खुद मुमताज कमरा साफ कर रही थी···', आवाज में इस बार हल्का-सा तंज था।

'हां, हां···वे क्यों नहीं करेंगी···', किसी लड़की की आवाज थी, 'रिजवी से अब तबियत भर गई होगी न···अच्छा है, नया यार और वो भी घर बैठे···'

कुछ देर तक खमोशी रही। फिर आपा बेगम की धीमी-सी आवाज सुनाई दी, 'आज अहसान आया था···'

'क्यों ? क्या कह रहा था ?'

'पूछ रहा था कि तुम दफ्तर क्यों नहीं आ रही हो ?'

'तुमने क्या कह दिया ?' बहुत ऊबी हुई-सी आवाज थी।

'मैं क्या कहती ?' आपा बेगम झुंझलाती हुई बोलीं, 'मुझसे तो तू दफ्तर का ही कह कर जाती है···'

'तो क्या फिर इश्तहार छपवाऊं कि मैं कहां जाती हूं, क्या करती हूं···', अचानक ही आवाज तेज हो गई थी। मुझे लगा जैसे वह गजाला की आवाज थी।

कुछ देर बाद फिर वही आवाज आई, 'ये लो···सौ रुपये हैं। जरा देख के खर्च करना।'

और उसके बाद काफी देर तक सन्नाटा धड़कता रहा। खिड़की बंद करके मैंने वत्ती बुझाई और आकर लेट गया। बंद आंखों में जहाज के कप्तान का, लाल दाढ़ी वाला चेहरा उभर आया था। आंखों का रंग रह-रह कर तबदील हो उठता था···

बाहर हवा तेज हो गई थी। एक अजीब सी आवाज कानों में आ रही थी। शायद आम के अकेले दरख्त की पत्तियां खड़खड़ा रही थीं। या शायद जमीन पर पड़ी हुई सूखी पत्तियां हवा के साथ-साथ सरकती चली जा रही थीं। लग रहा था, जैसे मैं फिर जहाज पर अपनी केबिन में लेटा हुआ हूं और रात के सन्नाटे में पानी को चीरता हुआ जहाज आगे बढ़ रहा है···करीब-करीब वैसी ही आवाज, सन्नाटे से उठकर उसी में गुम होती हुई···एक दूसरा पुराना जहाज···लाल दाढ़ी और भूरी आंखों वाला कप्तान···पुराने, भारी, मखमली पर्दों की कैप्टेन्स-केबिन···लक्जरी क्लास और उसकी एक केबिन में रक्खा हुआ रंगीन, बेल्जियन ग्लास का पुराना खूबसूरत गुलदान। और इकौनमी क्लास के मुसाफिर आपा बेगम, फरयाल और गजाला, जिनके लिए सारे सफर का मकसद सिर्फ किसी तरह समंदर पार करना था····

सुबह जब नींद खुली तो पाया कि नौकर चाय ले आया था और जगा रहा था। आठ बजे थे।

चाय पीकर जिस्म में कुव्वत लौटी। एक खुशगवार-सा हल्कापन महसूस हो रहा था। कल दिन भर की बातों और परसों के सफर की थकान, नींद अपने साथ बहा ले गई थी। फैक्ट्री के ऑफिस ग्यारह बजे पहुंचना था। मैं उठकर गुसलखाने की तरफ बढ़ा। नहाने के बाद, जब मैं तैयार होकर कमरे में दाखिल हुआ तो एकबारगी ठिठक गया। सामने पलंग के पास पड़ी आरामकुर्सी पर एक खूबसूरत लड़की बैठी हुई थी। अपने आप में बिल्कुल महव, कुछ सोचती हुई। दरवाजे की आहट पर उसकी नजरें उठीं। बिना कुछ सोचे ही मेरा हाथ सलाम के लिए उठ गया।

'तसलीम', बड़ी आसान सी एक रस्मिया मुस्कराहट के साथ वह खड़ी होती हुई बोली, 'मैं···गजाला··'

'अरे तुम···', बिल्कुल बेसाख्ता मुंह से निकल गया लेकिन फिर मैं कुछ और न कह सका।

एक पशेमां सी खमोशी घिर आई थी। गजाला के चेहरे पर ऐसा तआस्सुर था, मानो हम बीस साल बाद, पहली बार मिलने के बजाय सिर्फ चंद घंटों बाद मिल रहे थे। मानों साथ रहने और रोजमर्रा के मिलते रहने से जो एक निहायत सादी और गुनगुनी सी बेनियाजी दो लोगों के बीच भर जाती है, बिल्कुल वही कैफियत इस वक्त हम दोनों की थी।

'बैठो न,' कुछ देर बाद मैंने कहा।

'अम्मी से पता चला कि तुम आये हो', कुर्सी पर बैठते हुए उसने कहा।

'हां, कल। तुम कहीं गई हुई थीं उस वक्त।'

'हां,' बस एक लफ्ज का जवाब था।

शायद मैं कहना चाहता था कि मैंने बाकायदा उसका इंतजार किया था। लेकिन फिर हिम्मत नहीं हुई।

'आज से जॉइन कर रहे हो', कुछ देर बाद उसी मामूली लहजे में उसने पूछा।

'हां।'

'और दिल्ली में सब लोग अच्छी तरह हैं?' कुछ देर बाद फिर वही ठहरी हुई सी आवाज थी।

'हां, सब ठीक हैं' मैंने फर्श की तरफ देखते हुए जवाब दिया, 'अम्मी तुम्हें याद कर रही थीं।'

वह चुप रही।

और थोड़ी देर बाद वह खड़ी हो गई, 'अच्छा···फिर, तुम्हें जल्दी भी पहुंचना होगा····'

एक लम्हे के लिए मैं उसकी तरफ देखता रह गया। वह बड़े इत्मीनान से अपनी साड़ी का पल्ला ठीक कर रही थी।

'हां···फिर मिलना होगा,' मैंने उसकी तरफ देख कर कहा।

'हूं अ अ···', और बिना नजरें मिलाये वह चली गई।

मैं पलंग पर आकर बैठ गया और उस कुर्सी को घूरने लगा। पिछली रात की, खिड़की के पास खड़े होकर सुनी हुई सारी बातचीत दिमाग में घूमने लगी···। बार-बार वही आवाजें···आपा बेगम की और उस लड़की की··· गजाला की। कुछ देर बाद जब खिड़की के बाहर नजर गई तो देखा कि इतनी ही देर में धूप के चमकते हुए उजलेपन में, दोपहर का सा ठहराव और खाली-पन भर गया था।

नौकर ने आकर खबर दी कि जफर भाई नाश्ते के लिए याद कर रहे हैं। जरूरी कागजात की फाइल लेकर मैं नौकर के साथ ही कमरे से बाहर निकल आया। कोठी के अलग-अलग हिस्से तकसीम हो जाने की वजह से शायद अंदर के बहुत से रास्ते बंद कर दिये गये थे। क्योंकि ड्रॉइंग-रूम के जरिये ही हम लोग डाइनिंग रूम तक पहुंचे। एक काफी लंबा सा कमरा था, ट्यूब लाइट की रोशनी से भरा हुआ! एक बड़ी डाइनिंग टेबुल के दूसरे सिरे पर जफर भाई अकेले बैठे अखबार पढ़ रहे थे। मुझे देखकर उन्होंने अखबार रख दिया और मुस्कराते हुए बोले, 'आओ भई, कहो, सोये खूब ?'

'जी, बिलकुल बेखबर' मैंने हंसते हुए जवाब दिया और उनके पास वाली कुर्सी पर बैठ गया।

उन्होंने नौकर को आवाज देते हुए कहा, 'बुआ से कहो, नाश्ता भेजें। फिर मुझसे बोले, 'तुम तो बिल्कुल तैयार हो गये। क्या अभी जाना है ?'

'जी नहीं, अभी तो नहीं। सोचा फिर यहीं से निकल जाऊंगा।'

'हां, ठीक है। टैक्सी यहीं मंगवा लेंगे', फिर कुछ सोच कर उन्होंने कहा, 'या तुम चाहो तो गाड़ी ले जाओ···'

'जी नहीं, उसकी कोई जरूरत नहीं है। मैं चला जाऊंगा।' ड्रॉइंग-रूम में फोन की घंटी बज उठी।

'मैं आया अभी', कह कर जफर भाई उठ गये।

मेरी नजरें सामने की तरफ उठ गईं। दीवार के बीचोबीच, फर्श से लेकर छत तक एक काफी बड़ा सालिम शीशा लगा हुआ था। करीब पांच-छः फुट चौड़ा। यहां बैठे-बैठे ही, उसके दूसरी तरफ एक छोटा सा स्विमिंग-पूल नजर आ रहा था। मैं उठकर वहां जाकर खड़ा हो गया। अब सारा मंजर साफ-साफ नजर आ रहा था। स्विमिंग-पूल के चारों तरफ सीमेंट की एक-डेढ़ फीट ऊंची जालियां लगी हुई थीं, जिनमें से शायद ही कोई साबुत बची थी। बीच-बीच में से कई जालियां तो बिल्कुल ही उखाड़ दी गई थीं। दूसरे सिरे पर टूटी हुई, एक कुबड़ी सी मीनार खड़ी थी, यहां-वहां से जिसका उखड़ा हुआ पलस्तर बिल्कुल जख्मों की तरह लग रहा था। कभी डाइविंग टावर रही होगी, मैंने सोचा। शायद बरसात का पानी पूल में भरा हुआ था जिसके ऊपर काई की एक मखमली सी तह जमी हुई थी। कोई चीज थी जिस पर नजरें अटक गई थीं।

गौर से देखा तो एक मरे हुए सांप का जिस्म पानी में पड़ा हुआ था। स्विमिंग-पूल के पीछे, कुछ दूर पर, सीमेंट का बना हुआ एक टेनिस-कोर्ट था, जिसमें जगह-जगह दरारें पड़ गई थीं और बीच-बीच में जंगली घास झाड़ियों

की शक्ल में उग आई थी। टेनिस-कोर्ट के पीछे काफी दूर तक फैली हुई, उजड़ी जमीन थी, जिसमें कुछ दूर पर बेमकसद सी खड़ी हुई एक टूटी हुई फसील थी।

कदमों की आवाज सुन कर मैं मुड़ा। जफर भाई कमरे में दाखिल हो रहे थे। मेज पर नाश्ता लगाया जा रहा था। हम दोनों उन्हीं कुर्सियों पर बैठ गये।

'बड़े खास ढंग का शीशा है' ऑमलेट काटते हुए जफर भाई ने शीशे की तरफ इशारा करके कहा, 'हमारे दादा मरहूम की रंगीन मिजाजी की निशानी···। कमरे से बाहर का सब कुछ नजर आता है, लेकिन बाहर से अंदर का कुछ नहीं दिखता', और वे हंस पड़े।

मैं मुस्करा कर रह गया।

जफर भाई ने अब तफसीलात शुरू कर दी थीं। उस जमाने की ···कैसे अंग्रेज बहादुर की कौम उन दिनों मुराद मंज़िल की मेहमान रहा करती थी···आठ-दस लोग जब तक मेहमान न हों, दादा मियां ठीक से खाना नहीं खा पाते थे। ··· और अब, तसव्वुर कीजिए उन दिनों का आलम जब यहां दावतें होती थीं और वहां हूरें गुस्ल करती थी ·· जफर भाई की आवाज पानी में चमकती हुई रंग-बिरंगी मछली की तरह चली जा रही थी—हल्के-हल्के से खम लेती हुई याद-आवरी, फख्र, तंज रह-रह कर एक नया रंग चमक उठता था।

झुकी कमर की वही बूढ़ी औरत जिसे मैंने कल सबसे पहले देखा था, बावर्चीखाने की तरफ से हाथ में एक प्याला लिये हुए कमरे में दाखिल हुई। जफर भाई ने मुस्करा कर उसकी तरफ देखा और बोले, 'आओ बुआ', फिर मुझसे बोले, 'तुमने तो नहीं पहचाना होगा? हलीमा बुआ···इन्होंने तो तुम्हें गोद में खिलाया है,' और वे हंसने लगे।

'अरे हां मियां, बिल्कुल खिलाया है', हलीमा बुआ ने मेरी तरफ देखते हुए कहा।

मैंने सलाम किया और फिर धीरे से बोला, 'माफ कीजियेगा बुआ, मैं कल पहचान नहीं पाया।'

'जीते रहो, अरे नहीं बेटा ·· मैं तो खुद ही नहीं पहचान पाई। अल्लाह बनाये रक्खे तुझे। कसम से जब जफर मियां ने मुझे बताया तो बेइन्तहा खुशी हुई····,' बूढ़ी आवाज गले में फंसती हुई सी लग रही थी! वह प्याला उन्होंने मेरी तरफ बढ़ाया, 'ले बेटा, खा ले, बड़ा मुबारक दिन है आज! खुदा तेरी कौम को बढ़ाये।' मैंने देखा, प्याले में नज्र की शीरीनी थी।

'शुक्रिया बुआ,' मैंने कहा और खाने लगा।

'जफर भाई मुस्करा रहे थे। उनकी भूरी सी आंखें···

करीब-करीब दो हफ्ते गुजर चुके थे। जिंदगी में फिर एक सिलसिला वापिस लौट आया था। ऑफिस के बाद ज्यादातर वक्त हालांकि मुराद मंजिल में ही बीतता था लेकिन बिल्कुल मेहमान की तरह वहां रहने का अहसास अब खत्म हो गया था। पहले दो दिन जो बेचैनी महसूस होती रही थी, वह अब खत्म हो गई थी या रगों में समा गई थी, शहरी जिंदगी की मुसलसिल भनभनाहट जैसी आवाज की तरह।

कई शामें जफर भाई के साथ ही बीती थीं। उनके बहुत से दोस्तों से मिलना हुआ था। दरअसल शाम होते ही मुराद मंजिल में तीन-चार गाड़ियां आकर खड़ी हो जाती थीं, उनके दोस्तों की। ड्राइंग-रूम का आलम बिल्कुल बदल जाता था। तेज रोशनी के सैलाब से पूरा कमरा भर जाता और जफर भाई व उनके दोस्तों के कहकहे रह-रह कर उठने लगते। काफी रात गये तक यह सब चलता रहता और फिर जब बूढ़े कमरे की पसलियां हंस-हंस कर दुखने लगतीं तो वह चुपचाप अंधेरे में लेट जाता।

शाम और रात के इस दौरान जफर भाई का जैसे चेहरा बदल जाता था। पहले पैग के साथ ही उनके गोरे रंग में एक धड़कती हुई सी सुर्खी घुल जाती थी। धीरे-धीरे फिर पूरा चेहरा बदल जाता और उनकी आंखें कमरे में सजे हुए शिकार के मुर्दा जानवरों की आंखों की तरह चमकने लगतीं। जिस आसानी और बेसाख्तगी से मैं इन मजलिसों में शुमार कर लिया गया था, उस पर मुझे ज्यादा हैरत नहीं हुई थी। शराब से मुझे परहेज नहीं है, यह बात भी जफर भाई ने मेरे कहे बिना ही जान ली थी। चंद ही दिनों में शामों को बाकायदा मेरी फर्मायश होने लगी थी। पिछले तीन-चार रोज से खाना भी मुतवातिर जफर भाई की तरफ ही हो रहा था। अलबत्ता इस बीच दो बार मैंने रफत मियां और भाभीजान से मिलने की कोशिश की थी। पहली बार तो सिर्फ भाभीजान से ही मुलाकात हुई थी और थोड़ी देर बैठ कर मैं चला आया था। दूसरी बार मैं दरवाजे तक जाकर चुपचाप लौट आया था, क्योंकि अंदर से भाभीजान की गुस्से से कांपती हुई आवाज बाहर तक सुनाई दे रही थी। सिर्फ कुछ बातें ही मैंने ध्यान से सुनी थीं, 'बड़े मर्द बने फिरते हो, जायदाद तक तो रक्खी नहीं गई ··· दुनिया थूकती है कि बीवी की नेम-प्लेट लगा कर रहते हो, और वो तो मेरी ही अक्ल थी कि मैंने सब कुछ अपने नाम करा लिया, नहीं तो मियां सड़कों पर ठोकरें खाते फिरते ··· बड़े आये हैं बीवी को काबू में रखने वाले ···'

उसके बाद मेरी वहां खड़े रहने की हिम्मत नहीं हुई थी।

आज सनीचर था। मैंने खुद ही सोच रक्खा था कि आज की शाम रफत मियां के साथ बिताऊंगा। लेकिन ऑफिस से लौटते हुए रफत मियां से भी पोर्च में ही मुलाकात हो गई और उन्होंने खुद भी बहुत इसरार से खाने के लिए कहा था। यह एक अजीब बात थी लेकिन रफत मियां जब भी अकेले में मुझसे मिलते थे, बेहद खुलूस और मुहब्बत के साथ उनसे मिलना होता था, तो मुझे न जाने क्यों तब महसूस होता था जैसे वो दोनो एक खास ढंग से तैयार होकर मुझसे मिलते थे, बातचीत वगैरा करते थे। कितनी ही चीजें मानो मेरी मौजूदगी की वजह से बदल दी जाती थीं। बातचीत का अंदाज, नजरें, चेहरे। एक अजीब सा चौकन्नापन पूरे माहौल में भर जाता था।

कपड़े वगैरा बदल कर जब मैं वहां पहुंचा तो रफत मियां अपने ड्राइंग-रूम में ही बैठे हुए थे। बेगम साहिबा भी, जिनको मैंने अब भाभी-जान कहना शुरू कर दिया था, वहां मौजूद थीं।

'बेगम, कोई खरीदने वाला भी तो···,' रफत मियां कह रहे थे।

लेकिन मुझे देखकर एकदम चुप हो गये। फिर मुस्कराते हुए बोले, 'आओ मियां आ जाओ,' उन्होंने अपने पास वाले सोफे की तरफ इशारा किया। उनका चेहरा बदल गया था। भाभीजान को सलाम करते हुए मैं बैठ गया।

'वहां खाने के लिए तो मना करवा दिया है न ?' उन्होंने सलाम का जवाब देते हुए पूछा।

'जी हां।'

'मियां, आपके लिए बेगम आज खुद रान पका रही हैं,' रफत मिया ने मुस्करा कर कहा।

'आज तो भूख भी बड़े जोर की लगी है, और अब तो···.' मैं हंस पड़ा। साथ ही वे दोनों भी।

'कोई जरूरी बातचीत कर रहे थे क्या आप लोग ? अगर ऐसा हो तो···,' कुछ देर बाद मैंने रफत मियां की तरफ देख कर पूछा।

'अरे नहीं, जरूरी कुछ नहीं,' भाभीजान ने जवाब दिया, 'गाड़ी के बारे में कह रही थी मैं। बिल्कुल बेकार पड़ी है, इससे अच्छा तो बेच ही दी जाय।'

'जी ···,' मैंने गर्दन हिलाते हुए कहा। नजरों के सामने पोर्च में खड़ी हुई काली ब्यूक घूम गई। आज सवेरे ही मैं काफी देर तक खड़ा उसे देखता रहा था। यूं आते-जाते हमेशा ही नजरें उस पर पड़ी थीं, लेकिन इतने ध्यान से उसे मैंने कभी नहीं देखा था। पोर्च के बीचों-बीच, न जाने कब से वह वैसी ही खड़ी थी। जगह-जगह काले रंग के नीचे से झांकते हुए लाल, ईंट जैसे रंग के, छोटे-बड़े धब्बे, चटखा हुआ विंडस्क्रीन, परिंदों की सूखी बीट से छितरायी हुई छत

की चादर और पिचके हुए टायरों पर धूल की एक मोटी तह। 'ब्यूक-एट'—सामने निकेल के ग्रिल्ड फ्रंट के ऊपर अंग्रेजी के लफ्जों में धूल और मैल भर गया था।

'भई सवाल ये है कि अब नवाब या राजे-महाराजे तो रहे नहीं। फिर कौन खरीदे हाथी को।' इतनी देर की चुप्पी के बाद रफत मियां ने मुस्कराते हुए कहा और मेरी तरफ देख कर जोर से हंसने लगे !

मैं धीरे से मुस्कराया।

'खैर छोड़िये···,' इस बार भाभीजान बोलीं। 'ये बताइये कल का क्या प्रोग्राम है आपका,' उन्होंने मुझसे पूछा।

'कुछ खास नहीं। कल तो छुट्टी है।'

'हां, इसीलिए तो, पिक्चर का प्रोग्राम बन रहा है। आप भी चलिये। सुना है बहुत अच्छी फिल्म है।'

'जरूर। वैसे भी काफी दिन हो गये कोई अच्छी फिल्म नहीं देखी,' मैंने जवाब दिया।

कुछ देर तक वैसे ही बातचीत चलती रही। फिर भाभीजान बावर्ची-खाने की तरफ चली गईं। हम दोनों बातों में मशगूल रहे।

बाहर किसी ने कॉल-बेल बजाई। रफत मियां उठकर बाहर चले गये। मुझे कुछ नहीं सूझा तो पास की अलमारी में रक्खे हुए एक बड़े से एलबम को उठाकर देखने लगा। रफत मियां की शादी की तस्वीरों का एलबम था। कायदे से लगी हुई तस्वीरों के नीचे सफेद रोशनाई से लिखे हुए मौजूं अशआर और इबारतें थीं। मैं एलबम के सफे पलटता जा रहा था कि अचानक एक तस्वीर पर नजरें ठहर गईं। रफत मियां तस्वीर में सेहरा पहने खड़े थे। उनके एक तरफ जफर भाई थे और दूसरी तरफ असद भाई। वही लंबा, भरा हुआ जिस्म और खूब-सूरत बेफिक्र चेहरा। पैथेड्रीन।

'क्या देख रहे हो ?' कमरे में वापिस आते हुए रफत मियां ने पूछा। फिर एलबम देख कर बोले 'अच्छा हां, तुम तो शादी पर भी नहीं थे ! बस सरफराज आये थे !'

'जी हां,' मैंने एलबम बंद करते हुए कहा, 'तस्वीरें बेहद अच्छी खिंची हैं।'

'अरे ये तो कुछ भी नहीं हैं, तुमने मूवीज नहीं देखीं। पूरी शादी कवर की थी। बड़ी जोरदार आई थीं।' रफत मियां ने मुस्करा कर कहा।

'क्या हैं यहीं ?' मैंने पूछा। न जाने क्यों मैं उन्हें देखना चाहता था।

'हां, हां···सब हैं,' उन्होंने जवाब दिया, 'ऐसा करो, खाने के बाद प्रोग्राम रक्खा जाय। फिर आराम से देखना। ठीक है ?'

'जी हां, वो ठीक रहेगा ।'

'लेकिन तुम्हें जरा मदद करनी पड़ेगी,' रफत मियां ने मुस्कराते हुए कहा, 'बक्सा वगैरह उठवाना पड़ेगा ।'

'ये सेहत कब काम आयेगी,' मैंने भी मुस्करा कर जवाब दिया और हम दोनों हंस पड़े ।

'तो मेरा ख्याल है फिर निकाल ही लिया जाय सरोसामान, नहीं तो फिर खाने के बाद तो मुश्किल होगी ।'

'जी हां, ये बेहतर रहेगा ।'

रफत मियां के साथ मैं अंदर की तरफ चल पड़ा । बेडरूम से ही लगा हुआ एक और कमरा था । दरवाजा खोल कर रफत मियां ने कई बार दीवार में लगे स्विच को ऊपर-नीचे किया । फिर—'शायद बल्ब फ्यूज हो गया है' कह कर वे मोमबत्ती लेने चले गये । कुछ देर बाद मोमबत्ती की कमजोर रोशनी में मैंने देखा कि वह एक बहुत छोटा सा स्टोर-रूम था, जिसमें बहुत सारे बक्से एक दूसरे के ऊपर रक्खे हुए थे । रफत मियां ने एक खास, लकड़ी के संदूकनुमा बक्से की तरफ इशारा करके कहा, 'ये है मियां, जरा हाथ लगाओ ।'

बक्सा ज्यादा भारी नहीं था, फिर भी हम दोनों उसे ड्राइंग-रूम तक उठा कर लाये । धूल की एक मोटी तह बक्से के चारों तरफ और ऊपर जमी हुई थी । रफत मियां ने एक कपड़ा लेकर उसे साफ किया और फिर खोलते हुए बोले, 'मेरे ख्याल से इसी में होनी चाहियें सब ।'

बक्से में सबसे ऊपर एक तरफ एक काफी पुराना प्रोजेक्टर रक्खा हुआ था । रफत मियां ने उसे उठाकर उस पर जमी गर्द को झाड़ते हुए कहा, 'तीस साल हो गये, सोचो इस प्रोजेक्टर को । और वो तो यार-दोस्तों ने यह हालत कर दी वर्ना बेहद नफीस चीज थी । कोडक है । अब्बा ने खास तौर पर हम लोगों के लिए मंगवाया था । बाकायदा स्क्रीन वगैरह सब था । लेकिन हमारे एक यार हैं, वो ले गये थे और फाड़ कर वापिस किया ।'

रफत मियां उसका स्पूल वगैरा फिट करने की कोशिश कर रहे थे । आखिरकार उसे पास वाली टेबुल पर रखते हुए वे बोले, 'चलो, काम तो चलेगा । जरा पकड़ना पड़ेगा हाथ से ...।'

उसके बाद मूवीज के डिब्बों को उलट-पलट कर देखने लगे । मैंने देखा बक्सा मूवीज के डिब्बों से भरा हुआ था । ज्यादातर फिल्में बच्चों के मतलब की कार्टून या फेयरी-टेल्स की फिल्में थीं, जो शायद उसी जमाने में अब्बा हुजूर ने खरीदी होंगी ।

काफी देर बाद रफत मियां ने छः मूवीज छांट कर अलग निकालीं और बक्से

को एक तरफ सरका दिया। तभी भाभीजान कमरे में दाखिल हुईं, 'चलिये, खाना तैयार है,' उन्होंने कहा। फिर प्रोजेक्टर को देखते हुए बोलीं, 'क्या अब फिल्में देखी जायेंगी ?'

'खाने के बाद प्रोग्राम है,' मैंने मुस्करा कर जवाब दिया।

'चलिये, आइये फिर....,'

और हम लोग डाइनिंग रूम में आ गये।

डाइनिंग टेबुल बड़े करीने से सजी हुई थी। सफेद, कलफ लगा हुआ मेजपोश, चांदी के गिलासों में, फूलों की शकल में मोड़ कर लगे हुए नैपकिन्स। क्रॉकरी अलबत्ता पुरानी थी लेकिन बहुत अच्छे किस्म की थी। शायद ब्लू-बैड—मैंने अंदाजा लगाया। चांदी की कटलरी, कायदे से तीन प्लेटों के आस-पास रक्खी हुई थी। मेरे मुंह से अनजाने ही सवाल निकल गया, 'बच्चे नजर नहीं आ रहे हैं ?'

'ये लोग अपनी मुमानी के यहां गये हुए हैं। कल आयेंगे,' भाभी ने जवाब दिया। फिर मुस्करा कर बोलीं, 'उसी वजह से तो थोड़ा सकून है, नहीं तो कसम खुदा की, इन लोगों के रहते खाना पकाना तो दूर, ठीक से खाना खाना भी दुश्वार हो जाता है।'

रफत मियां टेबुल के एक सिरे पर मेजबान वाली कुर्सी पर बैठ गये थे। मैं उनके दायीं तरफ वाली कुर्सी पर बैठ गया। भाभीजान मेज पर खाना लगा रही थीं। मेरी नजरें मेज पर रक्खी कटलरी को देखने लगी थीं। चांदी की चीजों के बीच दो चम्मच स्टील के थे जो बिल्कुल अलग चमक रहे थे। मैंने जल्दी से नजरें हटा कर रफत मियां की तरफ देखा। उनकी नजरें अनजाने ही उन्हीं चम्मचों पर टिकी हुई थीं। मैं बेमकसद अपने सामने रक्खी प्लेट को घुमाने लगा।

'लीजिये, शुरू कीजिये,' कुछ देर बाद भाभीजान मेरे सामने वाली कुर्सी पर बैठते हुए बोलीं।

मैंने नजरें उठाईं तो देखता रह गया। टेबुल बिल्कुल भरी हुई थी तरह-तरह की चीजों से। भाभीजान ने सचमुच काफी मेहनत की होगी।

'अब तो लगता है रोज यहीं खाना खाना पड़ेगा,' कुछ देर बाद मैंने मुस्कराते हुए भाभीजान की तरफ देख कर कहा।

'रहने दीजिये, उसके लिए तारीफ की जरूरत नहीं है,' उनका चेहरा खिल उठा था।

'तारीफ तो इसलिए भी मुश्किल है कि आप सामने मौजूद हैं,' मैं हंस पड़ा।

'नहीं भई, खाना आज वाकई कमाल का पका है बेगम,' इस बार रफत मियां ने हड्डी से बोटी अलग करते हुए कहा।

'अच्छा बस, रहने दीजिये,' भाभीजान के चेहरे पर एक गुलाबी, नाजुक सी मुस्कराहट छा गई थी। कुछ देर बाद उन्होंने धीरे से कहा, 'दरअसल अब आदत छूट गई है, नहीं तो पहले तो सचमुच मजा आता था खाना पकाने में। इनके दोस्त-अहबाब अक्सर आते थे···और सब लोग इन सब चीजों में ···'

बीते दिनों की बात करते हुए भाभीजान की आंखें और ज्यादा काली हो चली थीं।

खाने के बाद हम लोग ड्राइंग-रूम में वापिस आ गये। भाभीजान पान लगाने लगी थीं। रफत मियां प्रोजेक्टर के पीछे वाले सोफे पर बैठ कर उसमें फिल्म वगैरा लगाने में मशगूल हो गये। काफी देर तक सामने वाली दीवार पर प्रोजेक्टर की रोशनी का एक चौकोर टुकड़ा कांपता रहा। आखिरकार फोकस ठीक हुआ और रफत मियां ने पान मुंह में रखते हुए कहा, 'हां भाई, अब जमा मामला। मियां तुम इधर आ जाओ।' फिर भाभीजान से बोले, 'बेगम, तुम भी उधर ही आ जाओ।'

हम तीनों अब एक ही सोफे पर बैठ गये। प्रोजेक्टर ऑन करके रफत मियां ने बत्ती बुझा दी और सामने की दीवार पर फिर वैसा ही रंगीन सा धुंधलका उभर आया। उसके बाद उसकी जगह एक तस्वीर ने ले ली। हल्के पीले रंग की दीवार पर तस्वीरों का अक्स ज्यादा अच्छा नहीं था लेकिन फिर भी चेहरे वगैरा साफ-साफ नजर आ रहे थे।

'अच्छा, शादी वाली है,' भाभीजान ने कहा। फिर धीरे से बोलीं, 'अरे इसे क्या दिखा रहे हो।'

'भई ये शादी पर कहां थे?' रफत मियां ने जवाब दिया और फिर मुझसे कहने लगे, 'ये देखो···पहचानते हो इन्हें, नवाब रामपुर हैं, ये भी आये थे शादी में···ये असद भाई हैं, रिसीव कर रहे हैं ···'

मेरी आंखें तस्वीर पर टिक गईं। असद भाई गहरे नीले रंग की शेरवानी पहने, हंसते हुए नवाब साहब की अगवानी कर रहे थे। बिल्कुल किसी फिल्मी हीरो की तरह।

दीवार पर तस्वीरें बदलती जा रही थीं। रफत मियां तबसरा करते जा रहे थे···'ये जफर भाई को देखो···और वो उनके पीछे अब्बा खड़े हैं, किसी बात पर नाराज थे अब्बा उस वक्त···और वो देखो··· अब्बा के साथ वे खड़े हैं,

क्या नाम है उनका···अरे बड़े भारी तोप थे उस जमाने के, अब्बा के बड़े जिगरान थे···और ये पार्टी की तैयारियां हो रही हैं, यहीं सामने हुई थी···बाग में···ये फव्वारा देख रहे हो न···।' मेरी नजरें सचमुच फव्वारे पर ठहर गई थीं। नीचे बने हौज में बत्तखें तैर रही थीं··उसी हौज में, जिसमें खड़े होकर गजाला··फव्वारे की ऊंचाई के बीचों-बीच एक छतरी सी बनी हुई थी, जिसकी वजह से पानी एक खास ढंग से नीचे गिर रहा था। छतरी के नीचे, जैसे उसको संभालते हुए, पत्थर में तराशे गये फरिश्ते थे, जिनके परों पर छतरी टिकी हुई नजर आ रही थी।

फव्वारे की छतरी अब टूट चुकी थी। साथ ही फरिश्तों के पर भी···

'ये बेडरूम देखिये···असद भाई ने सजाया था···मियां ने गुलाब की पूरी फस्ल खरीदी थी किसी काश्तकार से, सिर्फ सजावट के लिए···'

सामने रफत मियां का सुहागरात वाला बेडरूम नजर आ रहा था। वही कमरा था जिसमें मैं कुछ देर पहले गया था। लेकिन बेइंतहा फूलों और गजरों से सजा हुआ। सारे फर्श पर गुलाब की पंखड़ियां बिछी हुई थीं।

····'ये बेगम हैं···साथ में लुबना और वो अर्शी···अब तो दोनों बिचारी पाकिस्तान में हैं··अच्छा, ये शायद वलीमे वाले दिन की है, इसी कमरे में ली थी···देखो यहीं बैठी हुई हैं जहां तुम बैठे हो··'

सामने भाभीजान की तस्वीर थी। ठीक इसी जगह बैठी हुई। लाल जरी की साड़ी पहने, बेहद खूबसूरत, पतली दुबली; नाजुक सी भाभीजान! उनके सामने वही ग्लास-टॉप टेबुल रक्खी हुई थी और उस पर वही बेल्जियन ग्लास का खूबसूरत गुलदान, जिसमें बड़े-बड़े लंबी टहनियों वाले सुर्ख और पीले गुलाब लगे हुए थे। ताजे, खूबसूरत फूल।

गैरइरादी तौर पर मेरी नजरें अपने सामने, कुछ दूर पर रक्खी हुई, ग्लास-टॉप टेबुल पर चली गईं। वही टेबुल थी। ऊपर लगे हुए शीशे में, दीवार पर पड़ती तस्वीरों का एक धुंधले, टेढ़ा-मेढ़ा सा अक्स पड़ रहा था। तस्वीरें बदलती जा रही थीं, साथ ही उनकी परछाइयां भी। और धुंधले, भागते, एक दूसरे में घुलते हुए रंगों के फैलाव के बीच घिरा हुआ, वही गुलदान रक्खा हुआ था··बेल्जियन ग्लास का बिल्कुल खाली गुलदान। एक लम्हे के लिए मुझे लगा जैसे इतने इन सालों में भाभीजान का चेहरा भी, उसी गुलदान की तरह खाली हो गया था। खूबसूरत वो अब भी थीं, वही नाक-नक्शा था, वही गोरा रंग, लेकिन कोई चीज थी, जो नहीं रही थी।—लंबी टहनियों वाले सुर्ख और पीले गुलाबों जैसी कोई चीज···

···और ये वलीमे की हैं···', रफत मियां कह रहे थे, 'ये देखो, वो निजाम हैदराबाद खड़े हैं, असद हैं उनके साथ····और वो उधर सर रोबर्ट हैं ·· और वो···'

बहुत से मशहूर नाम रफत मियां बताते जा रहे थे। कुछ के चेहरे मेरी पहचान में भी आ रहे थे क्योंकि उनकी तस्वीरें पहले कभी अखबारों वगैरा में देखी हुई थीं। असद भाई का चेहरा बार-बार भीड़ के बीच अलग नजर आ जाता था। तीनों भाइयों में, अब्बा की शख्सियत अपनी पूरी तेजी और मिजाज के साथ असद भाई में मौजूद थी।

'और ये दरख्त लगवा रहे हैं अब्बा, बेगम से···यहीं बाग में···बहुत से दरख्त लगवाये थे अब्बा ने · हम सबने लगवाये थे···बस एक ही ठीक से लग पाया, वो उधर देखा होगा तुमने···तुम्हारी तरफ पीछे एक आम का दरख्त है न··· बस वो ··असद मियां ने लगाया था···'

कुछ देर तक सिर्फ प्रोजेक्टर चलने की एक अजीब सी आवाज होती रही फिर रफत मियां की आवाज आई, 'ये भी बाग की है ··

तस्वीर में रफत मियां और बेगम बाग में टहल रहे थे।

' ··भई कसम से, क्या उम्दा बाग था ये उन दिनों। विलायती घास थी मियां बिल्कुल जैसे गालीचा · अब तो जब से इन साले म्युनिसिपलिटी वालों ने पानी के मीटर लगाये हैं···तबाह कर दिया····'

मैं चुपचाप सुन रहा था।

उसके बाद और कई मूवीज थीं। पिकनिक्स की, मेहमानों की, शिकार की। एक शॉट था जिसमें रफत मियां मुर्दा शेर के ऊपर एक पैर रक्खे खड़े थे, राय-फल टिकाये।

'ये मियां, आखिरी शेर मारा था,' रफत मियां ने बताया।

'जी', मैंने कहा।

और साथ ही भाभीजान की एक तन्जिया सी 'ऊं ह ह' उभर आई। उसके साथ ही बत्ती जल गई।

'लीजिये मियां···,' रफत मियां मुस्करा रहे थे।

'बहुत जोरदार मूवीज है,' मुझे कहने के लिए और कुछ नहीं सूझा।

रफत मियां प्रोजेक्टर और फिल्मों को संभालने लगे। मैंने भाभीजान की तरफ देखा। वे मेरी तरफ ही देख रही थीं। एक लम्हे के लिए वे चौंक सी गईं और फिर एक शर्मीली सी अफसुर्दा मुस्कराहट उनके चेहरे पर फैल गई।

कुछ देर तक रफत मियां बहुत सी और बातें करते रहे। उसी जमाने की। भाभीजान ज्यादातर वक्त चुपचाप ही बैठी रहीं। मैं भी चुपचाप रफत मियां

की बातें सुनता रहा। धीरे-धीरे उन्हें भी जम्हाइयां आने लगीं। मैंने घड़ी की तरफ देखा। बारह बज चुके थे।

'अच्छा फिर,' मैंने धीरे से कहा, 'अब चलूं, काफी देर हो गई।'

'हां, वैसे भी बहुत दिनों बाद इतनी फुर्सत से बैठना हुआ आज,' रफत मियां ने खड़े होते हुए कहा, 'अच्छा फिर···'

मैं उन दोनों को शब-ब-खैर कह कर कमरे से बाहर आ गया।

बाहर चांदनी फैली हुई थी। बेहोश सी।

मैंने एक बार सोचा कि कमरे की तरफ चलूं। लेकिन फिर लगा कि अभी नींद नहीं आयेगी। मैं धीरे-धीरे पोर्च के सामने, कुछ हट कर, फव्वारे के पास आकर खड़ा हो गया। सामने जमीन में धंसी हुई सी ब्यूक खड़ी थी, पोर्च के अंधेरे में। बायीं तरफ, नीचे, सड़क के उस पार, झील नजर आ रही थी। दूर तक फैली हुई, चांदी की चमकती हुई चादर की तरह। दायीं तरफ वाले लंबे बरामदे में थोड़ी-थोड़ी दूर पर चांदनी के टुकड़े बिछे हुए थे। मुर्दा जानवरों की नर्म, रोएंदार खाल की तरह। बरामदे में ही एक खंभे के पास एक डैकचेयर पड़ी थी। बिल्कुल खाली···जहाज पर, ऊपर वाली डैक पर एक बूढ़ा जर्मन हमेशा ऐसी ही डैकचेयर पर बैठा रहता था। दूर-दूर तक फैले हुए समंदर की तरफ देखता हुआ। कुछ दिनों बाद हम दोनों में पहचान हो गई थी। अपनी टूटी-फूटी अंग्रेजी में वह अक्सर बड़ी खूबसूरत बातें किया करता था। एक बार समंदर के बदलते हुए रंगों को लेकर मैंने कुछ कहा था क्योंकि पूरे दिन भर में समंदर के कई रंग बदलते थे। कभी हरा, कभी नीला, कभी स्लेटी, कभी आसमानी और कभी बिल्कुल काला। जवाब में बूढ़े जर्मन ने मुस्कराते हुए, मेरी तरफ देखकर अपनी उसी अंग्रेजी में कहा था, 'इट इज डा कलर ऑफ डा स्काई डैट चेन्जस्, यंग मैन, नॉट ऑफ डा सी···'

छुट्टी का दिन था। जफर भाई और रफत मियां सवेरे से ही किसी मैय्यत में शिरकत करने के लिए चले गये थे। अब दोपहर हो चली थी। सर्दी कुछ ज्यादा ही थी या शायद कमरे में रहने की वजह से ज्यादा महसूस हो रही थी। नावल लेकर, बाहर धूप में बैठने के इरादे से मैं कोठी के पिछवाड़े की तरफ निकल आया था। कुछ दिनों पहले यूं ही बेमकसद घूमते हुए मैंने यह हिस्सा देखा था। आपा बेगम और गजाला वाले हिस्से के ठीक पिछवाड़े यह एक उजाड़-सा हिस्सा था, जिसमें एक तरफ कोने में, किसी जमाने के अस्तबल की टूटी हुई दीवारों और शहतीरों वगैरा का एक ढेर था। उससे कुछ दूर पर घोड़ों

को नहलाने के लिए एक छोटा सा तालाब था, जिसमें अब कूड़े-करकट का एक बड़ा-सा ढेर था। और उससे कुछ दूर पर एक पुराना, बहुत बड़ा इमली का दरख्त था। जिसके चारों तरफ एक पक्का, गोल चबूतरा बना हुआ था, पास ही एक कटे हुए दरख्त का काफी भारी-भरकम तना पड़ा हुआ था। मैं उसी पर बैठा नावल पढ़ रहा था। कुछ देर बाद एक मुनासिब-सा हिस्सा ढूंढ़ कर मैं उसी तने पर अधलेटा-सा हो गया। धूप बेहद अच्छी लग रही थी। कुछ देर के लिए मेरी नजरें आसमान पर टिक गई। बिल्कुल साफ, नीले रंग का फैलाव।

नावल पढ़ते-पढ़ते ही कुछ देर बाद महसूस हुआ जैसे आसपास कुछ हरकत-सी हो रही है। मैंने गर्दन घुमाई तो देखा, सामने काफी दूर पर आपा बेगम वाले हिस्से के पिछले दरवाजे को खोलकर गजाला बाहर निकली थी। शायद वह नहा कर आई थी। क्योंकि फिर वह पास ही एक बड़े पत्थर पर इस तरफ पीठ करके अपने बालों को फैला कर बैठ गई। गजाला के बाल बेहद लंबे थे।

गजाला से इस बीच बस एक बार और मिलना हुआ था। आपा बेगम ने उस रोज खाने पर बुलाया था तो गजाला भी मौजूद थी। उसी तरह की मामूली रस्मी बातचीत उस रोज भी हुई थी। गजाला का अंदाज बिल्कुल वही था। और उसका नतीजा यह हुआ कि ज्यादातर वक्त मैं आपा बेगम और फरयाल से ही बातचीत करता रहा था।

अलबत्ता इस बीच गजाला को देखा कई बार था। दो-तीन बार उसकी आवाज भी सुनाई दी थी। बल्कि पिछली रात, जब गजाला की आवाज मेरे कानों में पड़ी थी तो काफी देर तक भारी खामोशी जैसे मेरी नसों में घुल गई थी और देर तक खून के साथ-साथ बहती रही थी। गजाला ने शायद आपा बेगम से कहा था, ऊंची आवाज में, तकरीबन चीखते हुए, 'तो तुम क्या समझती हो तुम्हारी सिलाई-मशीन के जरिये घर चलता है? और फिर तुम तो जैसे सचमुच मेरा निकाह पढ़वा दोगी जो तुम्हें मेरे चलन की अब इतनी फिक्र हो गई है···'

गजाला का वह जुमला जैसे मेरे जहन में बहुत सी तस्वीरों के नीचे एक इबारत की तरह चिपक गया था। पिछले इन दिनों में कई बार ऐसा हुआ था कि काफी रात गये कोई गाड़ी मुराद मंजिल के बाहर आकर रुकती थी और उसमें से गजाला उतर कर चुपचाप घर में दाखिल हो जाती थी। हर बार कोई नई गाड़ी···

बहरहाल रात को जैसे उस जुमले में मुझे गजाला के मुतल्लिक अपने सारे

सवालों के जवाब मिल गये थे। उसके बाद भी काफी देर तक आवाजें आती रही थीं ! चीखती हुई आवाजें···

यह एक अजीब बात थी लेकिन इतने दिनों के दौरान मैंने यह कई बार महसूस किया था कि मुराद मंजिल के ज्यादातर लोग अक्सर बात करते हुए चीखने लगते थे ! जफर भाई और रफत मियां से लेकर मामीजान, गजाला, यहां तक कि हलीमा बुआ को भी अक्सर मैंने जरा-जरा सी बातों पर चीखते हुए सुना था ! कोई भी आपसी बातचीत बस कुछ ही देर तक लोग इत्मीनान से कर पाते थे ! फिर अचानक आवाजें तेज हो जाती थीं और बेसाख्ता मुझे जहाज की जिंदगी याद आ जाती ! समंदर में जब कभी तूफान आ जाता या लहरें तेज हो जातीं तो अक्सर जहाज के क्रूमैन को, एक दूसरे से जोर-जोर से, चीखते हुए बातें करनी पड़ती थीं ! तेज, तूफानी हवा और जहाज से टकराती हुई लहरों के जबर्दस्त शोर के बीच वे लोग बुरी तरह चीखते थे, लेकिन अल-फाज बीच में ही टूट कर बिखर जाते थे···

मैंने नावल फिर खोल लिया लेकिन पढ़ने में मन नहीं लगा ! नजरें अन-चाहे ही गजाला की जानिब उठ कर उसके लंबे-लंबे बालों पर ठहर गई थीं !

कुछ देर बाद गजाला अचानक ही उठ बैठी। और उसी दौरान उसकी नजरें इस तरफ उठ गईं। कुछ लम्हों तक वह वैसे ही खड़ी मेरी तरफ देखती रही ! फिर धीरे-धीरे वह इसी तरफ बढ़ने लगी !

'यहां कैसे बैठे हो ?' उसने नजदीक आकर अपने उसी खास इत्मीनान से पूछा !

'यूं ही ! कमरे में जरा सर्दी लग रही थी···'

'हूं अ अ !'

यह पहला मौका था जब मैं गजाला को सादे, घरेलू से लिबास में देख रहा था। वह नहा कर निकली थी जिसकी वजह से उसके चेहरे पर एक घुला हुआ, हल्कापन निखर आया था ! मुझे पहली बार बचपन की उस सुर्ख गालों वाली गोल-मटोल सी लड़की और इस गजाला में एक खास यक्सानियत नजर आई !

'तुम्हारी नौकरी कैसी चल रही है ?' गजाला पूछ रही थी।

'ठीक है !'

और अचानक मेरा मन हुआ कि मैं उससे भी यही सवाल पूछूं ! न जाने क्यों, एकाएक मैं गजाला को, यह पूछ कर तकलीफ पहुंचाना चाहता था ! बावजूद इसके कि आज पहली बार वो मुझे इतनी अच्छी लग रही थी !

'कहीं गये नहीं आज···?' कुछ देर बाद एक और सवाल !

'हां। कुछ तबियत नहीं हुई !'

'हूं अ अ।'

वह कुछ देर खामोश खड़ी जमीन की तरफ देखती रही !

'एक बात कहूं ?' कुछ देर बाद अपने आप ही मेरे मुंह से निकल गया !

'क्या ?'

'बुरा तो नहीं मानोगी ?'

'नहीं !' उसके चेहरे पर वह चौकन्नापन अनजाने ही लौट आया था !

'यहां आने से पहले सोचा था कि···न मालूम क्यों तुमसे मिल कर एक खुशी सी होगी···'

वह चुपचाप वैसे ही खड़ी रही। फिर उसी सधी हुई आवाज में उसने जवाब दिया, 'मैंने यह नहीं सोचा था !'

हवा के एक तेज झोंके ने माहौल में एक हल्की सी सरसराहट पैदा कर दी थी ! इमली की सूखी, नाजुक पत्तियां आहिस्ता-आहिस्ता नीचे गिर रही थीं ! मेरी नजरें ऊपर की तरफ उठ गई और मैं देखता रह गया ! इमली का यह वही पुराना दरख्त था जिसके नीचे बचपन में हम दोनों भरी दोपहरी में खेला करते थे ! बेहद घना दरख्त था जिसके नीचे दोपहर में भी एक ठंडा अंधेरा छाया रहता था ! लेकिन अब ? बहुत थोड़ी पत्तियां बची थीं और उधड़ी हुई शाखों के बीच-बीच में से धूप और रोशनी की मोटी-मोटी गुआएं, नीचे बने चबूतरे और आस-पास की जमीन पर पड़ रही थीं···

फैक्ट्री की कॉलोनी में फ्लैट मिलने की बात हालांकि जॉइन करते वक्त ही हुई थी लेकिन इतनी जल्दी फ्लैट मेरे हक में आ जायेगा, यह मैंने नहीं सोचा था। मेरा ख्याल था कि कम से कम दो-तीन महीने तो लग ही जायेंगे। लेकिन आज पूरा हफ्ता हो चुका था फ्लैट खाली हुए। पंद्रह दिन के अंदर-अंदर वहां जा कर रहना शुरू करना लाजमी था। पिछले दिनों मैं करीब-करीब रोजाना ही सोचता कि आज जफर भाई या रफत मियां से इस बारे में जिक्र करूंगा लेकिन हर रोज मैं अपने-आप ही यह तज्करा अगले दिन के लिए टाल देता। अब धीरे-धीरे मुझे अपने आप पर ही गुस्सा आने लगा था। आखिर कहना तो होगा ही मुझे, और फिर उसमें शर्म किस बात की थी ?

दरवाजे पर दस्तक हुई। मैंने आरामकुर्सी पर बैठे-बैठे ही कहा, 'कौन ? खुला है दरवाजा।'

'हुजूर, मैं हूं···,' जफर भाई का नौकर दरवाजा खोल कर अंदर दाखिल हुआ, 'आपको याद किया है।'

अच्छा, कहना आता हूं अभी ।'

जी हुजूर ।'

एकबारगी मेरी आंखों के सामने जफर भाई का ड्रॉइंगरूम घूम गया । उनके दोस्तों के आने का वक्त हो गया था । न जाने क्यों इधर कुछ दिनों से मुझे इन मजलिसों से एक वहशत-सी होने लगी थी । अधेड़ और बूढ़े लोगों की एक खास तरह की जमात जिसमें बातचीत हमेशा कुछ खास चीजों के गिर्द ही घूमती रहती थी । शराब, सियासत, भद्दे लतीफे और एक बहुत बड़ा, बीता हुआ जमाना । या फिर गैर-मौजूद लोगों के बारे में अजीब तरह की बातें । दरअसल जफ़र भाई के दोस्तों में सिर्फ एक सलीम मियां ही ऐसे थे जो वहां हमेशा आते थे । वर्ना हर बार दो-तीन चेहरे नये होते थे जो कुछ दिनों तक तो मुतवातिर नजर आते थे, फिर एकाएक गायब हो जाते थे । जहाज के परिंदों की तरह । मुझे कई बार याद आया था कि जहाज जब बर्तानिया से चला था तो उस पर बेशुमार परिंदे बैठे हुए थे । सफर के दौरान मैंने अक्सर देखा था कि सुबह ही ज्यादातर परिंदे दूर समंदर की तरफ उड़ जाते थे और सारा दिन न जाने कहां गायब रहते थे । लेकिन शाम होते ही वे फिर वापिस लौट आते थे । रात बिताने के लिए । बाद में उसी बूढ़े जर्मन ने मुझे बताया था कि बहुत से परिंदे मौसम बदलने पर जगह बदल लेते है और जहाज भी उसका एक जरिया है···

मैंने उठकर कपड़े बदले और बाहर निकल आया । पोर्च में गाड़ियां खड़ी हुई थीं । मैं आहिस्ता-आहिस्ता ड्राइंग-रूम की तरफ बढ़ा । जब मैं अंदर दाखिल हुआ तो मुझे थोड़ी-सी हैरत हुई क्योंकि अंदर चार-पांच साहबान बैठे हुए थे । बिल्कुल खामोश । सलीम मियां नहीं थे । मैं सलाम करता हुआ एक तरफ सोफे पर जाकर बैठ गया ।

शायद जफर भाई अंदर चले गये थे । मुझे एक अजीब-सा अहसास हो रहा था । जिस तरह से सब लोग चुपचाप बैठे थे मुझे लगा जैसे किसी मजार पर लोग बैठे हैं, फातिहा पढ़ते हुए, खामोश । कमरे में धीमी रोशनी थी । जर्द, बीमारी की सी हरारत लिये हुए । मैंने ऊपर की तरफ देखा, फानूस जल रहा था । शायद उसके शीशे पीले पड़ गये थे, मैंने अंदाजा लगाया । जहाज का डाइनिंग-रूम अनचाहे ही फिर दिमाग में घूम गया । कितनी तेज रोशनी होती थी उसकी, बिल्कुल सफेद, बुर्राक, जिंदगी की सी चमक लिये हुए ।

मेरे सामने की तरफ पास-पास बैठे दो आदमियों ने धीमी आवाज में बात-चीत शुरू कर दी थी ।

कुछ देर बाद जफर भाई मुस्कराते हुए कमरे में दाखिल हुए । मेरे सामने बैठे

हुए दोनों लोग उठ कर खड़े हो गये और अपना तार्रुफ कराने लगे। मैंने सुना कि वे लोग नेशनल आर्काइव्स से आये थे।

'अच्छा, अच्छा··· बैठिये,' जफर भाई कह रहे थे।

उसके बाद जफर भाई ने सब लोगों से मेरा तार्रुफ कराया और फिर अपने दोस्तों से इजाजत लेकर उन दोनों आदमियों से बात करने लगे। पता चला कि उन लोगों को इत्तला मिली थी कि जफर भाई व रफत मियां वगैरा के पास कुछ बहुत पुराने, सियासी अहमियत रखने वाले खतूत व दूसरे कागजात मौजूद थे, जिनको आर्काइव्स वाले देखना या खरीदना चाहते थे।

'हां जनाब, हैं तो सही, बहुत सी चीजें,' जफर भाई कह रहे थे, 'आप लोग किसी भी दिन फुर्सत से आयें तो देख लीजियेगा। असल में हमारे पास तो बेइंतहा चीजें हैं। खतूत वगैरा तो हजारों में समझिये। मेरा मतलब है सब इतने अहम तो नहीं होंगे लेकिन बहरहाल बहुत सारे हैं। कुछ तो अब्बाजान को ही लिखे थे जिन्नाह साहब ने,···मलिका एलिजाबेथ का भी एक खत है···, फिर गांधी जी और नेहरू जी के भी हैं। मेरे छोटे भाई हैं, रफतुल्लाह खान, उनके पास भी बहुत सी चीजें हैं, आप देख लीजियेगा।'

'जी बहुत अच्छा।'

कुछ देर के लिए खामोशी छा गई। फिर जफर भाई ने धीरे से पूछा 'अच्छा आप लोग, मेरा मतलब है आर्काइव्स वाले, क्या बाकायदा इन चीजों को खरीदते है!'

'जी हां, जो इम्पोर्टेन्ट चीजें या डाक्यूमेंट्स होते हैं उन्हें हम लोग खरीदते हैं।'

'हूं अ अ···मेरे ख्याल से जिस तरह से म्यूजियम वाले लोग खरीदते हैं।'

'जी हां, वैसे ही समझिये, लेकिन म्यूजियम वाले लोग पैसा बहुत ज्यादा देते हैं क्योंकि चीजें उसी लायक होती हैं, जैसे पेंटिंग्स वगैरा। जाहिर है उनकी कीमत ज्यादा होती है।'

'हां, हां···जाहिर है,' जफर भाई ने जल्दी से कहा। फिर कुछ रुक कर मेरी तरफ और अपने दोस्तों की तरफ देखते हुए, मुस्करा कर बोले, 'भई, हम लोगों के पास तो न जाने कितनी चीजें पड़ी हैं। और कोई पैसे के ख्याल से तो हम लोग इन्ट्रेस्टेड हैं नहीं। वो तो बस ये लगा कि इतनी अहम चीजें हैं तो अवाम के सामने आनी चाहियें, वर्ना हमारे लिए तो····'

'जी, जाहिर है।'

'आप देखेंगे तो आपको पता चलेगा। जनाब, कुछ खत तो ऐसे हैं जिनकी वजह से आधी तवारीख गलत साबित हो सकती है···'

'जी।'

थोड़ी देर तक जफर भाई उसी बारे में और बातचीत करते रहे। फिर वे दोनों आदमी बाद में किसी और दिन आने का वायदा करके चले गये।

'भई माफ करना। ये लोग आ गये तो···,' जफर भाई उन्हें बाहर छोड़ कर कमरे में वापिस आते हुए बोले।

'नहीं, ठीक है मियां····,' उनके एक दोस्त ने जवाब दिया। जफर भाई ने नौकर को आवाज दी और उससे ग्लास वगैरा लाने को कहा।

जाम तैयार हो चुके थे। जफर भाई ने कहा, 'लो भई, उठाओ।' बहुत सी मिली-जुली आवाजों के बीच मैंने भी जाम उठा कर एक घूंट लिया।

सामने बैठे हुए एक साहब जफर भाई से कह रहे थे, 'अरे मियां, हां, मैं तो भूल ही गया। वो अब्बास मियां है न, अरे वो, अरे अपने मौलाना के छोटे भाई, वो रायफल की फिराक में हैं आजकल। तुम अपनी थर्टी स्प्रिंगफील्ड निकालना चाह रहे थे न ··कहो तो बात करूं?'

मैं उनके चेहरे की तरफ देखता रह गया। कितनी आसानी से कुछ लोग बात कह देते हैं। किसी भी तरह की बात। फैक्ट्री वाला फ्लैट, मुझे ध्यान आया। मैंने गिलास उठा कर एक और घूंट लिया।

जफर भाई दूसरा पैग बना रहे थे। उनकी आंखें चमकने लगी थीं।

वेटर दूसरी बियर डाल रहा था। थकान घुलने सी लगी थी। यहां आकर बैठना अच्छा साबित हुआ था।

ऑफिस में अचानक ही लंच के बाद छुट्टी हो गई थी। उस वक्त तो बेहद गुस्सा आया था क्योंकि आज सवेरे जब नौकर ने जगाया था तो आफिस जाने की बिल्कुल तबियत नहीं थी। फिर किसी तरह अपने आप को तैयार किया था। बहरहाल ऑफिस में छुट्टी हो जाने के बाद दिन का बाकी हिस्सा बिताना अच्छी खासी परेशानी हो गई थी। आखिर में फैसला किया था कि यहां आकर बियर पी जाय। यह पहली बार था कि इस शहर के किसी रेस्ट्रां में मैं अकेला आया था।

दरअसल सुबह जब नींद खुली थी तो महसूस हो रहा था जैसे थकान की एक भारी चट्टान के नीचे जिस्म दबा पड़ा था। कल सारी रात नींद नहीं आई थी। बस अलस्सुबह किसी लम्हे आंखें बंद हो गई थीं।

काफी रात गये तक गजाला और आपा बेगम की आवाजें आती रही थीं। साफ-साफ कुछ भी नहीं सुनाई दिया था लेकिन इतना जरूर महसूस हुआ था कि

किसी बहुत ही अहम मसले को लेकर काफी देर बातचीत चलती रही थी। बीच-बीच में आपा बेगम की गालियां सुनाई देने लगती थीं या फिर उन्हीं के रोने की आवाज आने लगती थी। शुरू में तो मैंने ज्यादा तवज्जो नहीं दी थी क्योंकि मेरा ख्याल था कि शायद भाभीजान और रफत मियां को लेकर बातचीत चल रही थी। भाभीजान कल दिन में अपने मैके चली गई थीं।

दरअसल पिछले तीन-चार दिनों में मुराद मंजिल की जिंदगी में एक अजीब-सी मनहूसियत आ गई थी। बिल्कुल जैसे खामोश, ठहरे हुए समंदर में एकाएक तूफान आ जाता है। जुमे की रात को भाभीजान और रफत मियां में झगड़ा हो गया था। नौबत यहां तक पहुंच गई थी कि आखिरकार जफर भाई वहां तक पहुंचे थे और उन्होंने उन लोगों को समझाया था। मैं बस इतना ही समझ पाया था कि सारा मामला भाभीजान और रफत मियां के किन्हीं दोस्त को लेकर था। बहरहाल वह रात और अगला दिन इन्हीं बातों में बीता था। घंटों जफर भाई ने उन दोनों से अलग-अलग बैठ कर बातचीत की थी लेकिन नतीजा कुछ नहीं निकला था। कल यानी इतवार को भाभीजान काफी भारी भरकम सरो-सामान के साथ अपने मैके चली गई थीं।

कल रात रफत मियां भी जफर भाई के ड्राइंग-रूम में बहुत से लोगों के साथ आखिर तक बैठे रहे थे।

बारह बजे के करीब मैं अपने कमरे में लौट आया था। काफी देर तक बराबर से बातचीत की भनभनाहट आती रही। लेकिन जब आपा बेगम के रोने की आवाज आई तो मैं चुपचाप खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया था। काफी देर खड़े रहने पर भी मैं बस सिसकियों में फंसी चंद भद्दी गालियों के सिवाय कुछ नहीं सुन पाया था।

सुबह का नाश्ता जफर भाई के साथ ही हुआ था। ज्यादा बातचीत नहीं हुई थी। जब मैं ऑफिस के लिए चलने लगा तो जफर भाई भी बाहर तक आये थे और फिर आपा बेगम की तरफ चले गये थे।

पांच बज रहे थे। चलना चाहिये, मैंने सोचा और वेटर को चेक लाने का इशारा करके मैंने बची हुई बीयर के कई लंबे-लंबे घूंट लिये।

मुराद मंजिल तक पहुंचने में शाम घिर आई थी। टैक्सी मैंने गेट पर रुकवा ली और फिर धीरे-धीरे कम्पाउण्ड में दाखिल हुआ। सामने ही, पोर्च के कुछ आगे जफर भाई खड़े थे। और उनके आगे, दायीं तरफ आपा बेगम वाले दरवाजे के बाहर एक टैक्सी खड़ी हुई थी, जिस पर सामान रक्खा जा रहा था। मैं कुछ नहीं समझ पाया लेकिन उसके बावजूद मेरे भीतर जैसे कहीं कुछ कांप सा गया।

मैं जफर भाई की तरफ बढ़ा। बजरी पर मेरे कदमों की आवाज सारे माहौल में गूंज रही थी।

'कहो···, आ गये···,' जफर भाई ने धीरे से कहा।

'जी···लेकिन ये क्या?' मेरे मुंह से निकल पड़ा।

'कुछ नहीं···गजाला जा रही है,' उन्होंने आवाज को संभालते हुए जवाब दिया।

'कहां?'

'बम्बई,' और वे चुप हो गये।

अंधेरा हर लम्हे गहरा होता जा रहा था।

तभी दरवाजे से गजाला बाहर निकली और उसके साथ फरयाल सिसकियां लेती हुई। गजाला की एक बांह फरयाल के कंधे पर थी। बाहर जाकर उसने फरयाल को एकबारगी अपने से चिपटा कर धीरे से कहा, 'अरी, रो मत··· पागल,' और फिर उससे अलग होकर वह इस तरफ बढ़ी। जफर भाई के पास आकर उसने एक बार मेरी तरफ देखा और उसके बाद जफर भाई से बोली, 'अच्छा बड़े अब्बा···।'

'अच्छा बेटे,' जफर भाई ने अपना हाथ उसके सिर पर रख लिया और धीरे से बोले, 'खुदा खुश रक्खे तुझे··'

गजाला ने एक बार फिर मेरी तरफ देखा और चुपचाप सलाम के लिए हाथ उठाया।

अंधेरा अब इतना बढ़ गया था कि गजाला का चेहरा मुझे साफ-साफ नजर नहीं आ रहा था। एक जबर्दस्त बेचैनी मुझ पर तारी हो गई थी कि किसी तरह उसकी आंखों को मैं देख सकूं···उसके चेहरे को···क्या तआस्सुर था उसके चेहरे पर इस वक्त?

'अच्छा···खुदा हाफिज,' गजाला मुड़ गई।

वह सीधी टैक्सी में जाकर बैठ गई। फरयाल अब भी दरवाजे के पास खड़ी सिसकियां भर रही थी। टैक्सी स्टार्ट होते ही वह अंदर भाग गई। कुछ देर तक टैक्सी के एक्जहास्ट की आवाज कानों में आती रही। और फिर थकी हुई, स्याह पड़ती शाम एकदम से निढाल होकर गिर पड़ी।

हम दोनों पोर्च में घुसे। मैंने हाथ बढ़ा कर पोर्च की लाइट जलाई। जर्द रोशनी जैसी एकबारगी ठिठक कर खड़ी हो गई। सहमी हुई सी। जफर भाई ने एक बार चौंक कर मेरी तरफ देखा। पोर्च की कमजोर रोशनी में उनके चेहरे का रंग अजीब सा हो गया था। मटमैला-सा जर्द। किसी बहुत पुरानी किताब के सफों जैसा रंग। यहां तक कि दाढ़ी की सुर्खी भी एक जंग-खुर्दा-से

रंग की नजर आ रही थी। मुझे पहली बार अहसास हुआ कि जफर भाई काफी बूढ़े थे।

जफर भाई अब सर झुकाये पोर्च की सीढ़ियां चढ़ रहे थे। मैं वहीं खड़ा उन्हें ड्रॉइंग-रूम में दाखिल होते देखता रहा और उसके बाद अपने कमरे की तरफ चल पड़ा।

कमरे में आकर मैंने लाइट जलाई और खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया। बराबर से रोने की आवाज आ रही थी। शायद आपा बेगम ही थीं। सामने कुछ दूर पर, अंधेरे में आम का वही अकेला दरख्त झुका खड़ा था। मैंने खिड़की बंद कर दी और आरामकुर्सी पर आ कर बैठ गया। बंद आंखों में एक मूवी सी चलने लगी थी—पिछले दिनों की एक-एक बात, एक-एक तस्वीर··· रफत मियां, भाभीजान, गजाला, जफर भाई···

पता नहीं कितनी देर मैं उसी तरह बैठा रहा। जब घड़ी की तरफ देखा तो सात बज रहे थे। जफर भाई शायद अकेले होंगे, मुझे ध्यान आया। हालांकि उनके दोस्तों के आने का वक्त हो रहा था। मैंने उठकर कपड़े वगैरा बदले और बाहर निकल आया। रफत मियां के हिस्से में बिल्कुल अंधेरा था। उसके अलावा भी चारों तरफ अंधेरे में लिपटी हुई खामोशी छाई थी। बस पोर्च की लाइट जल रही थी। ड्राइंग-रूम में भी उजाला था। मैं अंदर दाखिल हुआ तो देखा जफर भाई दीवान पर बिल्कुल सीधे लेटे हुए थे। छत की तरफ देखते हुए। कमरे में अगरबत्तियों की भीनी सी महक भरी हुई थी। एक लम्हे के लिए मुझे महसूस हुआ जैसे मैं किसी बहुत पुराने शाही महल के तहखाने में खड़ा हूं और सामने हजारों साल पहले की, किसी बादशाह की ममी रक्खी हुई है।

कदमों की आवाज सुनकर जफर भाई का ध्यान टूटा। वे उठकर बैठ गये, 'आओ मियां··'

मैं उनके पास वाले सोफे पर जा कर बैठ गया।

हम दोनों के सामने वाली टेबुल पर एक ट्रे में चार-पांच ग्लास रक्खे हुए थे। एक आइस-बकेट और एक ह्विस्की की बोतल।

जफर भाई कुछ देर तक खामोश बैठे गालीचे की तरफ देखते रहे, फिर धीरे-धीरे उनकी नजरें उठीं। हालांकि उनका चेहरा अब काफी संभल गया था लेकिन फिर भी मैं उनकी तरफ देख नहीं पाया।

'और सुनाओ···,' उन्होंने बोतल उठाते हुए कहा। फिर कुछ रुक कर बोले, 'आज तुम्हारे अब्बा का खत आया था।'

'जी,' मुझे कहने के लिए और कुछ नहीं सूझा।

जफर भाई ने दो जाम तैयार किये और मेरी तरफ बढ़ाते हुए बोले, 'अगले हफ्ते आ रहा है यहां,' और उन्होंने जाम लेकर ऊपर उठाया।

मैंने भी एक घूंट लिया, 'जी हां, मुझे भी लिखा था उन्होंने।'

'और हां आं···', सुना है तुम्हें फैक्ट्री की तरफ से मकान मिल गया है। कब जा रहे हो ?' उनकी आवाज अब बिल्कुल सधी हुई थी।

मैं सोच ही रहा था कि क्या जवाब दूं कि बाहर किसी गाड़ी के रुकने की आवाज आई।

'शायद सलीम आये···', जफर भाई ने कहा।

सलीम मियां ही थे। साथ में दो और साहबान, जिनको मैंने पहले कभी नहीं देखा था।

सलीम मियां ने तार्रुफ कराया और उसके बाद अपना जाम लेकर मेरे पास वाले सोफे पर बैठते हुए बोले, 'और मियां इमरोज··· क्या खबरें है ?'

'जी दुआ है,' मैंने मुस्कराने की कोशिश की।

'यार तुम्हारा नाम बहुत खूब है,' सलीम मियां ने एक लंबा घूंट लेकर, पीछे की तरफ टिकते हुए कहा।

'हां हां आं···,' जफर भाई ने अपने गिलास की तरफ देखते हुए धीरे से कहा, 'इमरोज यानी आज···न बीता हुआ न आने वाला···बस आज', जफर भाई अपने आप से ही कह रहे थे।

'इस पर मियां, एक शेर याद आ गया,' सामने बैठे हुए साहब ने कहा और फिर शेर सुनाने लगे।

एक और शाम शुरू हो चुकी थी। या इतनी ही देर में एक पूरी मनहूस और बेइंतहा तकलीफदेह शाम बीत चुकी थी। कल बन चुकी थी। और एक नयी, दूसरी शाम शुरू हो चुकी थी। जफर भाई का चेहरा गुजर चुकी शाम के साथ जा चुका था। रात भर के लिए। और उसकी जगह फिर जहाज के कैप्टेन का चेहरा आ गया—कैप्टेन'स बॉल वाली रात वाला चेहरा···

जहाज जब सफर का आखिरी हिस्सा तय कर रहा था तो बम्बई पहुंचने के पहले कैप्टेन'स बॉल हुआ था। कैप्टेन की तरफ से सफर सलामती से खत्म होने का खास जश्न। जहाज का बड़ा डाइनिंग-हॉल बिल्कुल भर गया था। सब कुछ कैप्टेन की तरफ से था—शराब, खाना, सिग्रेट्स, सिगार्स ··और सब मुसाफिरों के बीच कैप्टेन का मुस्कराता हुआ चेहरा···

जफर भाई के गिलास में थोड़ी-सी शराब और बची थी। मैंने उनके चेहरे की तरफ देखा। उनके ठीक पीछे, आतिशदान के बराबर, एक स्टैंड पर, एक काफी बड़ा, कद्दावर चीता रक्खा हुआ था। उसकी आंखों को देख कर लगता

था जैसे वह किसी भी लम्हे जफर भाई के ऊपर छलांग मार देगा। एक झूठी छलांग।

अचानक आतिशदान के अंदर से एक बड़ा-सा चूहा निकल कर दरवाजे की तरफ भागा।

मुझे एक झुरझुरी सी आ गई।

... जहाज पर उसी बूढ़े जर्मन ने मुझे एक बार बताया था कि जब कोई जहाज डूबने लगता है तो चूहे बुरी तरह से भागते हैं...बाहर निकलने की कोशिश में...

नैनसी का धूड़ा

स्वयं प्रकाश

सूनी, काली, पानीदार, बड़ी-बड़ी आंखें टग-टग आसमान को ताक रही हैं। उनमें कोई ऊष्मा, कोई जीवन, कोई हरकत नहीं है। एक त्रासद याचना है सिर्फ। "मुगती दिराओ!" बस···बहुत हो चुका···अब मुक्ति दो।

मुक्ति कहां है? मुक्ति का रंग शायद हरा है। डंडों की मार में···भूख में···अपमान में··उपेक्षा में· हर अनसुनी फरियाद में हरहमेस हरा रंग दिखाई दिया है। हरा कच्च! सुग्गे की पांखड़ी जैसा।

उस हरियाली में एक चितकबरा धब्बा है···अक्सर अचल··वह मां है। और एक झक्क सफेद बिंदु है··कूदता फांदता···फिर-फिर पलटता···कुदकता··· वह उसका बचपन है। खुद का।

खेत के बीच मचान पर खड़ी "बाई" की तरह·· चारों तरफ नजरें दौड़ाती···कान खड़े करती···सारे परिदृश्य पर नजर रखती···देर हो जाने पर बुलाती···संकट देखकर दौड़ी आती·· कानों को, पुट्ठों को, बदन को प्यार से चाटती···यह मां है।

मां के गुलाबी तने हुए थन हैं। दूध से लबालब भरे हुए··। वे दौड़ते हुए आते हैं और एक टहोके में अमृत की धार छोड़ने लगते हैं। एक नहीं···चार-चार। सबके सब भरे हुए। हरहमेस। कभी एक से पीता है··फिर उसे छोड़ दूसरे पर लटूमता है···फिर तीसरे को जांचता है। है। सबमें। क्या-क्या पी ले! जल्दी-जल्दी। और मां पुट्ठे चाटती रहती है···प्यार से···ममता से···तृप्ति से। लेकिन बहुत जल्दी उसे खींचकर परे कर दिया जाता है। विरोध में टांगें फटकारती मां के पैर बांध दिये जाते हैं। उसे थनों से फुटेक भर की दूरी पर रखा जाता है···तरसता हुआ···और मां की आंखें अटूट कातरता में नम हो जाती हैं·· और दोनों की आंखों के सामने उसके हिस्से का आहार दूसरे छीन ले जाते हैं।

यह अन्याय से उसका पहला परिचय था। और विवशता से भी।

लेकिन बचपन के दुखों की उम्र छोटी होती है। फिर कुदानें शुरु हो जाती हैं। नैनिया उसे चुहल में लगा लेता है। कभी गरदन पर हाथ फेरता है, कभी पीठ पर धप्प लगाता है··· कभी सामने बैठकर मुंह में पत्तियां ठूंसता है, कभी अपनी भाषा में जाने क्या-क्या बातें करता है। उसके स्वर में प्यार है। अतः वह दोस्त है। दोस्त उसे अपने पीछे दौड़ाता है। चकमा देकर पीछे पलटता है। ··· वह दोस्त को देखते हुए ठिठक कर खड़ा हो जाता है। मानो थक गया हो। और नैनिया किलकारियां मारते हुए तालियां बजाता है। अचानक वह सिर आगे झुका तेजी से लपकता है··· और सीधे नैनिया के ढूंगों में टकराता है। धीरे से। नैनिया खिलखिल हंस पड़ता है और उसकी गरदन से लिपट जाता है।

दोस्त और भी कई हैं। उनके नाम नहीं हैं। उन्हें "केड़ा-केडा" के सामूहिक नाम से पुकारा जाता है। वे अभी छोटे हैं। उसके हम उम्र। जब वे कुछ बड़े हो जायेंगे तब उनके नाम रखे जायेंगे।

वे सब सुबह घूमने जाते हैं। खूब सारे। साथ-साथ। जुलूस की तरह। पीछे-पीछे छोटी-छोटी लकड़ियां लिये, मुंह से टर्रटिटिक आवाजें निकालते दो-तीन नन्हे रबारी होते हैं। बड़ों की तरह पगरखी पहने, पोतिये पहने (जबकि हो सकता है अंगरखी तो हो, नीचे धोती जैसी चीज सफा गायब हो।) पहले नैनिया भी साथ आता था। उसकी आवाज ··उसकी हंसी···उसकी किलकारियां दूर से ही पहचान में आती थीं। नैनिया बुलाता तो वह कान खड़े कर, पूछ उठा फौरन भागता। जरूर कोई मजेदार बात होगी। पर अब नैनिया नहीं आता। वह स्कूल जाने लगा है।

रबारी लोग पेड़ों के नीचे पसर जाते, सोतामार खेलते, गप्पें ठोकते, मोरचंग बजाते, ऊलजलूल तानें भरते···सो जाते·· इस बीच तुम मस्ती से टहलते रहो, कच्ची दूब ढूंगते रहो, एक-दूसरे से माथे लड़ाते रहो···एक-दूसरे की पीठ पर चढ़ते रहो···थक जाओ तो बैठ जाओ और आंखें मींचकर जुगाली करते रहो। मस्ती से। सिंजारे वे टिरिक-टिरिक करते सबको समेटकर घर ले जायेंगे···जहां किसी दूसरी जगह से मां आयेगी···अपने गुलाबी, तने हुए, दूध भरे थनों के साथ ····और नैनिया···और अंधेरा···विभिन्न आवाजें···और एक खूटे के पास की ठंडी जमीन।

घर बहुत बड़ा था। और उसमें बहुत सारे जने थे। कुछ नैनिया जैसे, और कुछ बहुत बड़े-बड़े। एक खूब बड़ी लुगाई थी जो खूब बड़ा काले रंग का घाघरा पहनती थी। और उसके हाथ भी खूब बड़े-बड़े थे। उसका खूब रौब था। पर वह भी दोस्त थी। वह बाजरी के सोगरे खिलाती थी, कभी राबड़ी, कभी

लापसी, और कभी मौज में आती तो गुड़। वह बहुत जोर से बोलती थी और सब लोगों पर रुआब छांटती थी। उसे सब "बाई" कहते थे। एक खूब बड़ा आदमी था। वह सिर्फ सिंजा के बाद दिखाई देता था। कभी-कभी उसके मुंडे से खूब सारा धुंआ निकलता था। और भी बहुत जने थे।

एक दिन घूमने जाते समय में रास्ते में एक खेत में उसे खूब बड़ी-बड़ी घास दिखाई दी। लाइन से लगी हुई। टांगों तक ऊंची। वह रुक गया। टोले से अलग हो गया और खाने लगा। यह मीठी घास थी। खूब रसदार। उसने सोचा वह रोज यहां रुककर यह घास खाया करेगा। लेकिन तभी एक रबारी दौड़ता हुआ आया और उसकी पीठ पर कसकर चार-छह लकड़ी जमा दीं। वह हड़बड़ा गया और भाग छूटा। काफी आगे जाकर रुका और सोच में पड़ गया। क्यों? क्यों मारा उसने? तुम मुझे दूध भी नहीं पीने दोगे और घास भी नहीं खाने दोगे। क्यों? वह उस रबारी से नाराज हो गया। उसके जी में आया उसने सोचा जब वह बड़ा हो जाएगा तो जरूर इस रबारी के ढूंगे में सींगड़े मारेगा।

समय आने पर सींग भी आये···लेकिन वह अपना बचपन का निर्णय भूल गया। और भी बहुत सारी बातें थीं···एक से एक नयी और दिलचस्प, कि वह बात याद न रहना स्वाभाविक ही था। मां का दूध उससे एकदम छुड़ा दिया गया था। और कुछ दिन बाद मां ने दूध देना ही बंद कर दिया। अब मां की नांद खाली पड़ी रहती थी और उसके बदन की चिकनाई खत्म हो चुकी थी--बल्कि हड्डियां निकलने लगी थीं। अब न मां उसे देखकर कोई प्यार जताती थी न उसे मां के प्रति पहले जैसा उछाह महसूस होता था। न मां में पहले जैसी व्याकुलता थी···न उसमें पहले जैसी ललक। नैनिया रोज दफ्तर–पट्टी लेकर स्कूल चला जाता था और शाम को इस-उस काम में लगा दिया जाता था। उसके दोस्त भी दूसरे हो गये थे और खेल भी दूसरे। वह कभी-कभी ही उसके पास आता। आता भी तो पहले की तरह बातें या खिलवाड़ नहीं करता··· चुपचाप इधर-उधर से उसका बदन टटोलता-सहलाता पुट्ठे ठपकारता, पूंछ मरोड़ता मुंह खोलकर दांत देखता···और चला जाता। उसका नाम भी नैनिया से बदलकर नैनसीं हो गया था।

नैनिया के व्यवहार में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह भी था कि अब वह उसे "धूड़ा" कहकर पुकारता था, और यह बात वह सचमुच काफी कोशिश और वक्त के बाद ही समझ सका कि धूड़ा कहकर उसे ही पुकारा जा रहा है, उसी का नाम धूड़ा है।

समय आने पर वह यह भी समझा कि उसके टोले के केड़े "जिनावर" होते हैं। और सब केड़े एक जैसे नहीं हैं। कुछ केड़े हैं कुछ केड़ी हैं। दोनों के शरीर-

वैज्ञानिक अंतर को उसने लक्षित किया। अब तक उसके साथियों में से कइयों के दांत और सींग निकल आये थे और टोले में कई नये केड़े आ मिले थे। छोटे-छोटे। जिनकी वह उपेक्षा करना ही ज्यादा पसंद करता था। जिस अनुपात में उसकी भूख बढ़ती जा रही थी उसी अनुपात में दूब-घास-हरियाली कम होती जा रही थी। हरियाली सिर्फ खेतों में थी। और खेतों में मुंह मारने की मनाही थी। पानी पीने के बेरे पर जाते···हरियाली के ऐन बीच···पर हरियाली में मुंह कोई नहीं मारता। भूख की कसर घर पर सूखे भूसे-चारे से किसी हद तक पूरी होती, पर उस सूखे-पीले-निर्जीव पदार्थ को मुंह में भरना, लार से गीला करना, चबाकर नरम करना और सटकना भी वह काफी मेहनत और कष्ट से सीख पाया। उसे मनपसंद खूराक नहीं मिलती थी, लेकिन उसके रग-पुट्ठों में चढ़ती जवानी की ताकत थी और वह चलता तो दबंग की तरह सिर उठाए··आंखों में विश्वास और चाल में मस्ती। नदी की उठती हुई लहरों की तरह मगरूर और मसरूर। वह यह भी समझा कि दुनिया का सबसे बलिष्ठ, सबसे स्वाभिमानी, सबसे प्रभावशाली और मस्त कोई प्राणी है···तो वह सांड है···। जिसका डकारना एक विजय घोष है··और जिसके लिए अच्छे-अच्छे रास्ता छोड़ देते हैं। उसने तय किया कि वह बड़ा होकर सांड ही बनेगा।

लेकिन समय ने उसे यह भी समझा दिया कि घर उतना बड़ा नहीं है जितना वह समझता था, न उतना सम्पन्न। और लोग तो कत्तई उतने बड़े नहीं हैं। कि मां सिर्फ ममतामयी, दूधदात्री नहीं है···वह फुसकारती भी है, पूंछ भी फटकारती है और पास जाओ तो सींगड़े भी घुमाती है। एकदम जिनावरों की तरह। कि नैनसी एक लंबी काली टांगों और सिकुड़े मुंहासेदार चेहरे तथा खड़े बालों, पीले दांतों वाला कमजोर-सा मिनख बनता जा रहा है जिसे आदमी हरदम गालियां बकता रहता है और बाई तो ठोक भी डालती है। कि हरियाली दिन ब दिन सिकुड़ती जा रही है और भूसे का-सा पीला-उदास रंग धरती पर फैलता जा रहा है। कि भूख और भोजन जीवन का सबसे बड़ा सत्य है और खूंटा एक तकलीफदेह चीज का नाम है। उसे मिनखों की भाषा और उनके स्वर संघात थोड़े-थोड़े समझ में आने लगे थे—और उसे लगता था कि घर की आवाजों में से किलकारियां दिन ब दिन घटती जा रही हैं और लाचारियां दिन ब दिन बढ़ती जा रही हैं। बाहर प्रोल में लोग आते-जाते रहते हैं, झगड़े-झंझट होते रहते हैं, आदमी मुंडे से धूंआ निकालता ही रहता है और भीतर घर में बाई दिन भर झींकती रहती है और इस-उस पर हाथ छोड़ती रहती है।

फिर भी मां मां थी, बाई बाई थी और घर घर था।

फिर ऐसा समय भी आया कि मां गुम हो गयी, बाई "डोकरी" बन गयी और घर···घर भी छिन गया। लेकिन इस दुर्भाग्य का अध्याय शुरू होने में अभी देर थी।

जब वह पांच साल का हुआ, मान लिया गया कि वह जवान हो गया है. गबरू तो वह था ही। अपनी भूख और रहस्यमयी जिज्ञासाओं के बावजूद। हर आता-जाता यही कहता कि धूड़ा अब जवान हो गया है। कुछ के स्वर में लालच होता, कुछ में ईर्ष्या और कुछ में चिढ़। कुछ तो मोलाने तक लगते। चार हजार। नहीं, तीन हजार। यह सही है कि उसने दो-चार बार ऊटपटांग हरकते करने वाले, खामखां डंडा मारने वाले और पोटे के लिए पुट्ठों से चिपके रहने वालों को सींग मारा था, दस-पांच बार (अपने हिसाब से) मौका देखकर खेतों में मुंह मारा था और कुछ डरपोक और बेवकूफ केड़ियों के पीछे भी पड़ा था। तो कहा यह जाता था कि अब वह जवान हो गया है। नाथो और जोतो।

एक दिन उसके दांत गिने गये, एक हाटिया को बुलाया गया, उसे टांगड़े बांध कर जमीन पर पटक दिया गया, नाक में रस्सी डाल दी गयी और खस्सी कर दी गयी। वह छटपटा रहा था, मुंह से झाग फेंक रहा था, लेकिन बेबस कर दिया गया था। हाटिया के हाथ में ब्लेड थी। सिर्फ ब्लेड। उसने धूड़ा के अंडकोषों की चमड़ी में चीरा लगाया, अंडकोष निकालकर फेंक दिये और चमड़ी को अंगूठे-उंगली के बीच रखकर दबा दिया और बस। दो मिनिट में सारा काम हो गया। धूड़ा को बिल्कुल नहीं पता चला कि उसे किस प्रकृति प्रदत्त अधिकार से, किस सुख से, किस संभावना से वंचित किया जा रहा है। किस आफत के तहत उससे सहज जीवन का उसका अधिकार छीना जा रहा है। मानो कहा जा रहा हो कि न सोचो न सपना देखो। क्योंकि उन्हें हम कभी पूरा नहीं होने देंगे।

एक उत्सव की तरह उसे एक जोड़ीदार के साथ हल में जोत दिया गया। और पीठ पर चाबुक छिटकने लगे। उसने कभी अपनी पीठ पर मक्खी तक नहीं बैठने दी थी। वह दुम उठाकर भाग रहा था—यथाशक्ति—छूटने के लिए। और उसकी प्रशंसा की जा रही थी। जोड़ीदार उसकी इस हरकत से खुश नहीं था—लेकिन वह भी कर कुछ नहीं सकता था—भागना तो उसे भी था ही।

धीरे-धीरे वह इसका भी अभ्यस्त हो गया। और जोड़ीदार का भी। यहां तक कि उसे अपने गले में पड़ी घंटी और उसका टुनटुनाना अच्छा लगने लगा। पीठ की संवेदनशील थिरकन बुझ गयी। पैर चलने और गरदन जुतने की

अभ्यस्त हो गयी। अब सामने जुआ आता तो जरा-सी टिचकारी मिलते ही वह जुए के नीचे गरदन घुसेड़ लेता।

एक दिन उसे नहलाया गया, उसकी पीठ पर रंगीन ठप्पे लगाये गये, बदन पर रंगीन झूल डाली गयी, सींगों को रंगकर उन पर रंगीन फुंदने लटकाये गये, पैरों में झालर बांधी गयी, गले में कोड़ियों की माला पहनायी गयी और गाड़ी में जोतकर कहीं ले जाया गया। वह एक नयी दुनिया थी, नया अनुभव था और नया मजा। गाड़े पर बना-ठना नैनसी बैठा था। जहां गये वहां खूब बढ़िया हरी घास खाने को मिली, खूब आराम करने को मिला। जोड़ीदार के पास दिन भर छाया में बैठे-बैठे जितना मन करे खाते रहो और जुगाली करते रहो और बस्स। और तीसरे दिन एक गोरी झक्क टमकेदार लुगाई को नैनसी के साथ बैठाकर वे वापस आ गये।

कुछ दिनों जैसे रूठी हुई बहारें घर में लौट आयीं। बाई बीमारी और बुढ़ापे के बावजूद थिरकने और रुआब मारने लगी। नैनिया लाड़ करने लगा। उसकी लुगाई कुछ न कुछ खाने को देने लगी। आदमी के मुंह से धुंआ निकलना कम हो गया। पौ फटने से पहले उनका दिन शुरू हो जाता। बाई चूल्हा जलाकर रोटी पकाती, नैनिया की लुगाई जानवरों के आगे भूसा-पानी डालती, छाछ-बिलौना करती, झाड़ू-बुहारू करती, सुबह से पहले वे रवाना हो जाते, दिन भर खेत में खटते, बीच दोफेरी के क्षणिक आराम के सिवा, और सिंजारे घर आते, खा-पीकर पड़ रहते। बेहद व्यस्त और थकाने वाले दिन। फिर भी कोई गा लेता था, कोई हंस लेता था। दुर्भाग्य से यह इस घर की आखिरी हंसी थी। इसे फिर कभी नहीं हंसना था।

काल पड़ गया।

बुआई के बाद एक छींट पड़ी और बस। अंकुर फूटे और बस। थोड़ा चारा हुआ और बस। बेरों का पानी नीचे उतर गया। जहां बेरों पर मोटर लगी थीं वहां हरियाली थी और बस !

भूसे की मात्रा कम होने लगी। मां डकराती रात में। कोई नहीं सुनता। झगड़े-झंझट फिर चालू हो गये थे। अब उसका कहीं कोई काम नहीं था। उसे खिलाना घरवालों को भारी पड़ रहा था। नैनसी ने दूसरों के खेतों पर काम करना शुरू कर दिया। जहां बेरों पर मोटरें लगी थीं। जहां हरियाली थी। जहां अकाल केन्द्र में नहीं, हाशिए पर था।

फसल पकने पर आदमी के मुंह से निकलने वाला धुंआ और गाढ़ा हो गया। उसमें गालियां आ मिलीं। घर में खाने का टोटा पड़ा था। वे लोग कर्ज

डूबे हुए थे। जमीन टुकड़ हुई जा रही थी। टुकड़े बोहरा की दाढ़ में सरकते जा रहे थे।

एक दिन आदमी ने किसी बात पर नैनसी को ठोक डाला। बाई बीच-बचाव करने गयी। उसे भी दो हाथ पड़ गये। नैनसी की लुगाई रोने लगी। बाई भी। धूड़ा बड़ी-बड़ी आश्चर्य से फटी-फटी आंखों से सारा घटनाक्रम देख रहा था। चुपचाप। मां भी। मानो झगड़े की जड़ में यही हो। मानो अभी ये भी पिट सकते हैं। उस रात नैनसी ने उसे खूब लाड़ किया। गर्दन से लिपटा। पीठ पर हाथ फेरा। धूड़ा-धूड़ा करता रहा।

दूसरे दिन उसे—यानी धूड़ा को—किराये पर दे दिया गया। गाड़े में जोतने के लिए।

सुबह-सुबह आदमी उसे एक अजनबी मकान में छोड़ गया। जुतने में उसे कोई परेशानी नहीं थी। खेत के भुरभुरे ढगलों में या कच्ची नम जमीन में चलना उसे आता था। पर यहां दशा और थी। गाड़े पर खूब सारा भार था। जोड़ीदार नया था। काला कलूटा और ठिगना। एकदम। सारा भार धूड़ा पर आ रहा था। और तिस पर हांकने वाला ऐसा उल्लू ···जिसे चाबुक फटकारते रहने की बीमारी। बार-बार लगाम खींचता। बार-बार चाबुक मारता। बिना वजह। धूड़ा जोर लगाकर आगे बढ़ता, जोड़ीदार की नानी मरने लगती। जबकि उसे पूरे रास्ते एक भी चाबुक नहीं पड़ा। जमीन पत्थर की तरह सख्त और काली। बड़े-बड़े चढ़ाव-उतार और तीखे घूम। एक चढ़ान पर हांकने वाले ने चिल्लाते-गलियाते हुए धूड़ा की पीठ में डंडा घोंप दिया। धूड़ा गुस्से से बिफर गया। वह जोर से फुसकारा और उसने जोड़ीदार की कनपटी में सींग मार दिया। गाड़ी हचक-मचक हो गयी। इस उपलक्ष में और मार पड़ी।

रात ढले घर लौटे। लेकिन यह घर अपना घर नहीं था। यह खूंटा वह खूंटा नहीं था। न मां थी, न बाई, न नैनिया, न उसकी लुगाई। धूड़ा चुपचाप खड़ा हो गया। उसके आगे कोई भूसा डाल गया। उसने सूंघकर छोड़ दिया। पानी पिया दो-चार घूंट पी लिया, सिर ऊंचा किये खड़ा रहा। उसकी गर्दन पर गट्टा पड़ गया था। दुख रहा था। पर क्या किया जा सकता था? सहानुभूति के···प्यार के दो झूठे बोल बोलने वाला भी वहां कोई नहीं था। धूड़ा इनका कौन लगता है? धूड़ा मर भी जाये तो इनको क्या फर्क पड़ेगा? सब सो गये। वह खड़ा रहा। हर आहट पर उसके कान खड़े होते। आंखें चारों तरफ टग-टग देखतीं। अभी कोई आयेगा और छुड़ाकर ले जायेगा। ···शायद नैनिया आ जाये···शायद बाई···लेकिन कोई नहीं आया। रात भर कोई नहीं आया। उसकी आंखों से आंसुओं की काली लकीरें निकलने लगीं। नथुने फुफकार छोड़ते

रहे। मन में ढेरों गुस्सा इकट्ठा होता रहा। सुबह जो सामने आयेगा उसकी खैर नहीं।

वहां धूड़ा खटता रहा और पिटता रहा और घर के लिए तरसता रहा। और गुस्सैल हो गया। मौका मिलते ही लोगों के सींग मारता। जहां मर्जी आती अड़ जाता। एक बार एक छोरे को उसने सींग पर उठाकर पीछे फेंक दिया। तबसे उसके पास कोई नहीं आता। हांकने वाले के सिवा। जो दोस्त नहीं है। अब भी। धूड़ा को उसकी खूराक के हिसाब से खाने को नहीं दिया जाता। वह रास्ते चलते अंड-बंड चीजों में मुंह घुसेड़ता रहता है। उसके पुट्ठों का सारा मांस सूख गया है। चोट के निशान पक्के हो गये हैं। अब वह निसरड़ा और मार का अभ्यस्त हो गया है। एक बार उसे डाम भी चेंटाया जा चुका है। जिसको काम की कदर नहीं उसके लिए क्यों खटो ? खामखां सताते रहने वाले के लिए कौन अपने हाड़ गलाएगा ? इसका वास्ता या तो कभी अच्छे जिनावर से पड़ा ही नहीं होगा, या ये इस काबिल ही नहीं कि कोई अच्छी तरह इसके पास काम करे। प्यार के दो बोल नहीं। पेट भर खाना खूराक नहीं। मार कभी रुकती नहीं। धूड़ा··· गुस्सैल धूड़ा सिर्फ कभी-कभी सोचता अब पुराने घर की। अधिकतर तो यही सोचता कि खूंटा तुड़ाकर भाग जाये···एकदम आजाद और मस्त हो जाए···सांड की तरह। और एक दिन खूंटा तुड़ाकर भाग भी गया··· रस्सी, खूंटे समेत ··पर काफी देर मस्ती मारने के बाद उसे घर की याद आयी और "अपने" घर पहुंच गया। लेकिन वहां किसी की आंखों में उसके लिए पहले का-सा स्वागत भाव नहीं था और बावजूद उसके डकराते रहने के आदमी फिर इसी राक्षस के यहां छोड़ गया।

दूसरे साल भी पानी नहीं बरसा। तीसरे साल भी नहीं। काल। गांव के आसमान में चीलें चक्कर काटने लगीं। भांय··भांऽऽय ! चौफेर सरणाट सुनसान ! हरियाली का कहीं छिटका तक नहीं। आंखों में धूल और धूप की करकती फुलझड़ियां और गले में खुभे प्यास के गरट-कांटे··· !

जमीन गयी। बाई गुजर गयी। नैनसी नौकरी करने रामनगर चला गया। उसकी लुगाई पीर चली गयी। घर में कौन ? धुंआ छोड़ता आदमी। मां··· एक कोने में भूख से रम्भाती···और धूड़ा···दूसरे कोने में···खुरों से सूखी जमीन खूंदता··मिट्टी चाटता।

कोई ले ले। कोई हमारे जिनावर खरीद ले। ऐसे ही ले ले। बेचारे मरेंगे

तो नहीं। पर कौन लेगा ? मिनख भूखे–तिरसे फिर रहे हैं ··जिनावर की हत्या कौन लेगा ?

सारा घर मारे दिन निचाट सूना पड़ा रहता। सुबह का गया आदमी सिंजारे घर लौटता और हांफता या धुंआ छोड़ता या करवटें बदलता "दाता····दाता" करता रहता। मां और धूड़ा उसे कातर देखते रहते। चुपचाप और अहिल। क्या बात है ? क्या तकलीफ है ? क्या हम तुम्हारे काम नहीं आ सकते ?

चारुंमेर लोग बीमार पड़ रहे थे और मर रहे थे। जिनावर पड़ते···खून उगलते, और खतम। लोग ·· ये बंजर और कड़ियल लोग···बरसात न होने के आदी थे···सूखे के अभ्यस्त थे। वर्षा के लिए याचना करने वाला कोई गीत उनकी भाषा में नहीं था। वे पशुधन, बल्कि पशुबल के बूते पर पीढ़ियों से प्रकृति के आगे छाती खोले खड़े थे। जमीन ऐसी थी कि दो बरसात ठीक टैम पर हो जातीं तो खूब सारा नाज हो जाता था जिसे वे बरस-दो बरस-तीन बरस तक भी कंजूसी के साथ बरतते रह सकते थे। इसके अलावा ज्यादा चीज की उन्हें दरकार भी नहीं थी। उनकी रीढ़ का, उनकी हेकड़ी का राज था उनका पशुधन। बैल, गाय, ऊंट, बकरी-भेड़ ··। लेकिन अगर पशुओं को देने के लिए ही पानी न मिले ? ये तो सीधे पेट पर लात है बापजी ! पेट के निचले हिस्से पर ।....हुख।

और ईश्वर ? हां, ईश्वर। ईश्वर कितना क्रूर है।

लोग टोले बनाकर गांव छोड़ने लगे। जानवरों के साथ। अपनी छोटी-मोटी गिरस्तियों के साथ। इलाके में कसाइयों ने फिरना शुरू कर दिया था। गाय की कीमत—बीस रुपये। बैल की तीस।···मरो जल्लाद ! कौन बेचेगा इनके हाथों अपना लाड़-कोड़ से पाला जानवर ! लेकिन कोई तो बेचता होगा। वरना ये आते ही क्यों ?

आदमी की हंफनी में, उसकी अंतहीन करवटों में, उसकी दाता-दाता की गुहार में ऐसे ही न जाने कितने हाहाकार चकराती आंधी की तरह घुमेरे मार रहे थे।

एक दिन कहीं से आटा लाकर आदमी ने टिक्कड़ बनाये। अपने हाथों से मां को खिलाये। गुड़ खिलाया। सब करते हुए हांफता रहा। दरअसल वह रो रहा था। अंदर से रोली लाकर मां के भाल पर टीका किया···उसके हाथ जोड़े···और रस्सी खोलकर उसे बाहर हकाल दिया। प्रोल का दरवाजा खूंट दिया और वहीं जमीन पर धप्प से बैठकर विलाप करने लगा।

मां जोर-जोर से रम्भा रही थी। अनिष्ट की आशंका से उठाकर उसे आतंक के भुतैले गह्वरों में धकेल दिया गया था। यकबयक। एक केड़ी के रूप में वह

इस घर में आयी थी। अपनी मां के साथ। चार बार वह ब्याई। वह इस परिवार की सदस्य थी। है। जिंदा। नहीं है क्या ? कोई कहे तो ? और कैसी निर्ममता के साथ उसे हकाल दिया गया ! ! उसकी करुण और कातर बां ऽऽ बां ऽऽ न जाने कब तक बंद दरवाजे पर बिलखती रही। कौन सुनता ? आदमी ····आदमी पत्थर की तरह। जड़ और निस्पंद।

और एक दिन एक तेली धूड़ा को खरीद ले गया। सिर्फ पचास रुपये में।

धूड़ा की आंखों पर पट्टी बांध दी गयी और उसे कोल्हू में जोत दिया गया। और चल भई। ऐसी रात धूड़ा की जिंदगी में कभी नहीं आयी थी जिसमें कहीं कोई संध भी न दिखाई दे। एक ही गंध। एक ही मारग। एक ही जुआ। रात दिन। खाने को सूखा भूसा और थोड़ी-सी खली। पांवों के नीचे गीला पुआल। घानी के बाहर पानी की नांद। वहीं खाना। वहीं सोना। जो भी थोड़ा बहुत तेली सोने दे। पर तेली क्यों सोने दे ?

चला। चला। चक्कर आ गये। गिर पड़ा। मार पड़ी। चला। फिर लड़खड़ाया। फिर मार पड़ी। नहीं चला। नहीं चलेगा। मार ले कितना मारना है।

लेकिन मार की भी हद होती है। भागा। पर कहां भागेगा ? वहीं गोल-गोल-गोल। आने दो। किसी को नजदीक आने दो। वह ऐसा सींगड़ा मारेगा ···। और सींग उसने मारा। लेकिन मार तो जो पड़ी सो पड़ी सितम यह कि उसके सींग ही कटवा दिये गये।

पूरी जिंदगी यंत्रणा बनकर रह गयी। नरक। और वह बुझता गया, बुझता गया। उसकी आंखों की रोशनी ही नहीं ·· आत्मा की रोशनी भी बुझने लगी। सारा उत्साह, सारा विद्रोह, सारा स्वाभिमान···बूंद-बूंद निचुड़ गया। कुछ भी खा लेना है···कुछ भी सह लेना है··· कैसे भी मर लेना है। कोई अरमान नहीं, कोई सपना नहीं, कोई स्मृति नहीं। अत्याचार ही होता ·· अगर अब कोई उसकी आंख पर बंधी पट्टी खोल देता और उसे आजाद कर देता।

लेकिन उसके साथ यही किया गया।

चार साल अच्छी तरह रगेदने के बाद, हड्डियों का सारा सत निचोड़ लेने के बाद भी न काम बंद हुआ न मार। उसकी गरदन पर जख्म हो गया। जख्म पर दिन भर मक्खियां बैठतीं ·· जिन्हें वह खड़ा-खड़ा न पूंछ से उड़ा पाता न सींग····सींग तो थे ही कहां ? जख्म में पीव पड़ गयी····वह गंधाने लगा···और फैलने लगा···और नासूर बन गया···और उसकी दशा ऐसी हो गयी कि वह

सिर भी नहीं उठा पाता। रात-दिन मोटे-मोटे, गाढ़े आंसू रोता रहता और खटता रहता। बीमारी-कष्ट-मार-आतंक-मृत्यु सबके प्रति उसका बाहरी ही नहीं, भीतरी प्रतिरोध भी नष्ट होता चला गया और वह लाश बनता चला गया।

सारी घाणी जख्म-मवाद की बदबू से भर गयी। बदबू तेल में भी उतरने लगी। ग्राहक चिड़चिड़ाने, भड़कने और कतराने लगे। लेकिन तेली—जो दिवाली के दिन भी बैल को नहीं बख्शता, उसे रगेदता रहा। रगेदता ही रहा।

एक दिन धूड़ा ऐसा गिरा कि उठा ही नहीं। लाख कोशिशें की उठाने वालों ने। आखिर उसकी आंख की पट्टियां खोली गयीं। पेट के नीचे डंडा फंसाकर, रस्सियों से बांधकर, खींचकर उसे खड़ा किया गया, खोला गया, बाहर लाया गया, और छोड़ दिया गया। जा····जहां तेरा भाग तुझे ले जाये।

एक बिमार, मरियल, बूढ़ा जानवर···मक्खियों, कौवों और कीड़ों से घिरा ···रो रहा है और घिसट रहा है। वह भूखा है ···और किसी ने उसके सामने घास डाल दी है···हरी घास···और उसमें इतनी शक्ति भी नहीं है कि उसे जबड़ों में ठूंस ले···या चबा ले। प्यासा है···और पानी है ··और पानी में मुंह डाल लिया है···पर उसे नीचे नहीं उतार पा रहा है। ऐसे जीव को मौत आ जाये···इससे अच्छा और क्या हो सकता है।

लेकिन बदसूरत से बदसूरत जिंदगी, खूबसूरत से खूबसूरत मौत से ज्यादा अच्छी होती है। धीरे-धीरे अपने मरियल बीमार शरीर और उसके उपजीवियों को ढोते हुए न जाने किस चेतना···किस अंतर्प्रेरणा किस आवेग के सहारे··· उसने अपने गांव की डगर ढूंढ़ ली। जानवरों की जो बहुत-सी बातें मनुष्य कभी नहीं समझ पायेगा, उनमें से यह भी एक थी। चलता रहा। घिसटता रहा। निरुद्वेग। रुकता। चलता। जाना ही है।

अब गांव सामने था। ····पहले की तरह लहलहाता हुआ···हरा कच्च···· सुग्गे की पांखड़ी की तरह ! आह ! यह देखने के लिए उसकी आंखें कबसे तरस रही थीं। रुक गया। टग-टग देखता रहा। बस, अब ठीक है। फिर चल पड़ा। धीरे-धीरे। चाल में जरा भी उतावली नहीं थी। आंखों से आंसू बह रहे थे। काली लकीरें। गरदन नीचे झुकी हुई थी। भारी पैर सप्रयत्न धीरे-धीरे सरक रहे थे।

गांव पर सुबह की चंदेरी धूप फैली हुई थी। ठंडी हवा चल रही थी। फसलें लहलहा रही थीं। केड़े-केड़ियों का सफेद कूदता-फांदता झुंड चरने जा रहा था। पीछे-पीछे टर्र-टिरिक करते रबारियों के दो-तीन बच्चे। कोई मोरचंग भी बजा रहा था। पता नहीं····शायद नहीं बजा रहा होगा। सिर्फ भ्रम हुआ होगा।

एक सूने-हरे-ऊंचे टीले पर पहुच गया। हरियाली अनंत तक फैल गयी। केड़े-केड़ी सफेद धुंधले धब्बे बन गये। वह अपने बचपन के चारागाह से कितना पास था। लेकिन कितना दूर। गांव से बाहर...एक आजाद जमीन पर...जैसा कुदरत ने उसे बनाया होगा। पहुंचा और गिर पड़ा। गिरा और मर गया। आंखें खुली रह गयी। टग-टग आसमान को देखतीं।

अब कौओ आयेंगे काली-पनीली-खाली आंखों में चोंचें घुसेड़कर मांस की नरम-नरम लोरिया खींचेंगे। फिर गिद्ध आयेंगे। डरावने और मनहूस। और उनके लिए आंखों के नरम रेशे छोड़कर कौओ खुरों के नीचे के नरम मांस को नोचना शुरू करेंगे। चारों तरफ दुर्गंध फैल जाएगी। जिससे आकर्षित होकर फिर कुत्ते आयेंगे और अपने पैने दांतों से उसका पेट चीथकर उसकी आंतें चबायेंगे। फिर गिद्धों का एक पूरा झुण्ड होगा और वे इतना खा चुके होंगे कि उनसे उड़ा भी नहीं जाएगा और वे फिर-फिर खायेंगे। चमड़ी गिरती-चिरती-उतरती जाएगी ...... मांस बीतता जाएगा और पंजर झलकने लगेगा...हालांकि अब भी उस पर जगह-जगह गुलाबी सफेद मांस चिपका होगा। फिर धीरे-धीरे सिर्फ सफेद पंजर रह जाएगा...और इससे पहले कि वह भुर-भुराकर मिट्टी में मिल जाए...कोई उसे किसी के हाथ बेच देगा।

रामनगर की कच्ची बस्ती के बाहर कूड़े के ढेर पर एक लाश मिली है। हालांकि जीते जी उसे किसी ने आदमी नहीं समझा हो, पर कहना तो यही पड़ेगा कि वह एक आदमी की लाश है। मरने वाले की उम्र कोई ज्यादा नहीं। पर फोड़े-फुंसियों और खून-मवाद ने चेहरे को एकदम विकृत कर दिया है। सुनते हैं कोई मजदूर था। कई बरस पहले चढ़ती जवानी में गांव से आया था और रिक्शा चलाने लगा था। फिर तालाचाबी के कारखाने में लग गया। उन दिनों शहर में एक अभियान चल रहा था जिसके तहत निस्संतान होने के बावजूद उसकी नसबंदी कर दी गयी। फैक्ट्री के सेठ ने धीरे-धीरे करके उस पर काफी कर्जा चढ़ा दिया, उसे एक तरह से बंधुआ मजदूर बना लिया और उससे चोरियां करवाने लगा। एक बार इसने वापस गांव भागने की भी कोशिश की, पर कामयाब नहीं हो सका। जब उसके हाड-गोड़ कमजोर हो गये, एक दिन उसने चोरी करने से इंकार कर दिया। उसी दिन उसे चोरी के इल्जाम में पकड़वा दिया गया। थाना-कचहरी-जेल का चक्कर एक बार चला तो चला।

नाम मुजरिमों में आ गया। वह करे या न करे, अब जब कहीं, जहां कहीं चोरी हो उसे पकड़ लिया जाये। हारकर सचमुच चोरियां करने लगा और बार-बार अंदर-बाहर होता रहा। बार-बार की इस आवाजाही से उसे एक विचित्र बीमारी लग गयी। उसके सारे शरीर पर फोड़े-फुंसी हो गये और उनमें मवाद पड़ गया। उसने शराब पीना शुरू कर दिया और धीरे-धीरे पक्का शराबी हो गया। हर जगह से दुत्कारा जाता, कुत्ते की तरह दुरदराया जाता··· सड़क पर पड़े रद्दी कागजों से अपने जख्मों की पीप पोंछता रहता और मौका मिलते ही चोरी करता··· शराब पीता···जी भरकर खाना खाता···और कहीं भी औंधे मुंह पड़ जाता।

आखिर मर गया।

लोग कह रहे हैं उसका नाम घूड़ा था। लेकिन मैं आपसे जोर देकर कहना चाहता हूं कि उसका नाम घूड़ा नहीं है। नैनसिंग है।

और सच बात तो यह है कि वह मरा भी नहीं है।

रमजान में मौत

मंज़ूर एहतेशाम

असद मियां की आंखें बंद थीं। एक पल के लिए मैंने सोचा, वापस चला जाऊं। दूसरे ही पल असद मियां आंखें खोले देख रहे थे। उन आंखों में कोहरा भरी सुबह सी रोशनी थी।

--खुदा के लिए अयाज···सीना दर्द से टूटा जा रहा है !

सुहेला भाभी आईने के सामने खड़ी हुई ड्रेसिंग करके चेहरे के धब्बे मिटा रही थीं। कमरे में जलते हुए बल्ब की रोशनी धीरे-धीरे बाहर फैलते अंधेरे के साथ उभरने लगी थी। सूरज डूबने में कुछ ही देर थी।

—जमील ! अरे जमील ! सुहेला भाभी ने आवाज़ दी।

असद मियां के पलंग की चादर सफेद थी। पलंग के नीचे दो फटी हुई चप्पलों में उलझी हुई एक सलाबची थी, जिसे शायद वह पिछले कई घंटों से लगातार इस्तेमाल करते रहे थे। उनके पैर गंदे थे और एड़ियों की खाल चटकी हुई थी। बिस्तर पर चादर का वह हिस्सा, जहां उनके पैर थे, दागदार हो चुका था।

जफर भाई आ रहे हैं, मैंने असद मियां से आंखें बचाते हुए कहना चाहा। लेकिन फिर मैंने देखा, आंखें तो वह खुद ही बंद कर चुके थे, सुहेला भाभी ने मजाक उड़ाती हुई-सी नजरों से मेरी तरफ देखा और फिर आवाज देने लगीं— जमील···अरे, कहां गारत हो गया ?

—अरे आ रहा हूं ! कहीं बाहर से आवाज आयी।

दूर आसमान में चमक-सी फैली। एक सकते के बाद धमाका हुआ।

असद मियां की आंखों के पपोटे हल्के-से हिले, लेकिन आंखें बंद ही रहीं।

···दो···तीन···चार···तोपें चल रही थीं। इफ्तार का वक्त हो गया था।

—लेकिन यार, तोपें ही क्यों ? ये तो बिल्कुल ऐसा लगता है, जैसे किसी को सलामी दी जा रही हो। सायरन भी तो बजाया जा सकता है ! एक बार मेरे एक दोस्त ने मुझसे पूछा था और मैं हंस कर रह गया था।

—अगर खुद साफ नहीं रह सकते, तो दूसरों को तो चैन से मरने दें ! खुद के पलंग पर नहीं लेट सके, सारी चादर का सत्यानाश कर दिया ! सुहेला भाभी खुद को एक खूबसूरत सिंगार-मेज में लगे आईने में देखते हुए बुदबुदा रही थीं – और अगर चांद दिख गया, तो कल ईद है····कोई धुली चादर भी न होगी !

मैंने देखा, आईना बिल्कुल बेदाग था, लेकिन लकड़ी के बने मेज के फ्रेम की पॉलिश जगह-जगह से उड़ गयी थी और कई जगह पड़े हुए गड्ढों से लकड़ी का अपना रंग झांकने लगा था। आईने के नीचे बेगिनती शीशियां रखी हुई थीं··· कॉजमेटिक्स, परफ्यूम्स और स्प्रेज की सुंदर शीशियां, जिनमें से, मैंने अंदाजा लगाया, ज्यादातर खाली होंगी।

जमील तेजी से कमरे में दाखिल हुआ। हाथ उठाकर उसने सलाम किया। फिर अजीब तरह से मुस्करा कर अपने बाप असद मियां की तरफ देखने लगा।

—क्या कह रही थीं, अम्मी ? फिर जैसे मुझसे छुपाते हुए, असद मियां की तरफ इशारा करके उसने आंखों-ही-आंखों में कोई सवाल अपनी मां से पूछा।

सुहेला भाभी ने होंठ सिकोड़ कर गरदन हिला दी– बुलाने के लिए तुम्हें घंटों आवाजें देनी पड़ी थीं ! उनके लहजे में तेजी थी।

—मुझे क्या मालूम, आप आ गयीं ! बगैर कहे तो चली गयी थीं ! जमील ने दूबदू जवाब दिया।

—चांद दीखा ?

—ऊंहूं।

—देखो, तुम कहीं जाना मत। अभी थोड़ी देर बाद तुम्हें मेरे साथ चलना है।

—अम्मी ! जमील ने शिकायती स्वर में कहा—शन्नो और दूसरे लड़के मेरा इंतजार कर रहे हैं। मुझे उनके साथ जाना है।

—जाना-वाना कहीं नहीं है, आप मेरा इंतजार कीजिए ! कहते हुए सुहेला भाभी भीतरी कमरे में चली गयीं।

केवल असद मियां के सांस लेने की आवाज। जफर मियां अभी तक नहीं आये थे। क्या वह आयेंगे ?

—यार, तुम चलो, मैंने इफ्तार पर कुछ दोस्तों को बुलाया है। असद मियां

के तीसरे बुलावे पर उन्होंने मुझसे कहा था। मैं शहनाज आपा के पास बैठा ईद के शीर-खुर्मे की लिस्ट बना रहा था—तुम चलो, मैं आता हूं।

असद मियां के सिरहाने कैलेंडर के पन्ने कई महीनों से नहीं बदले गये थे। कमरे के एक हिस्से में काली अपहोलस्ट्री के गहरे सोफे बिछे हुए थे। कोने में लंबे-से बुकशेल्फ पर तरतीब और बेतरतीबी के साथ बहुत-सी किताबें थीं··· इन्साइक्लोपीडियाज, बिजनेस डाइरेक्टरीज वगैरा। दायीं तरफ दीवार पर एक बिदकते घोड़े की पेंटिंग टंगी हुई थी। सेंटर-टेबल के नीचे का कालीन फट चुका था। वैसे भी कालीन का डिजाइन ज्यादा इस्तेमाल की वजह से डल हो गया था। केवल कुछ उड़े-उड़े-से रंग थे, जिनमें बुनियादी यक्सानियत शायद धूल की शिद्दत की वजह से थी।

—जफर नहीं आये अब तक? असद मियां की झिलमिलाती-सी आंखें मेरी तरफ देख रही थीं।

—कुछ दोस्तों को खाने पर बुलाया है। आते ही होंगे। मैंने धीरे-से कहा—कब से तबीयत खराब है?

ऐं ? तबीयत ··? चार-पांच दिन से खराब है। सीने में सख्त दर्द है। दिल बिल्कुल बैठा जा रहा है। उनकी सांस ऊपर-नीचे हो रही थी।

—तमाशाबाजी है! निरी ऐक्टिंग! और सारे मर्जों की एक ही दवा है··· पैथिडीन! असद मियां के दूसरे बुलाने पर जफर मियां ने झुंझला कर कहा था—कुछ और काम भी करने हैं। चांद दिख गया, तो कल ईद है। मजाक बना लिया है उन्होंने तो!

उस समय मुझे गांव से आये कोई एक घंटा हुआ था।

—किसी डाक्टर को दिखाया? मैंने असद मियां की कलाई थामते हुए पूछा।

सब कुछ फिर से खामोशी में डूब गया। असद मियां छत की तरफ मुस्कराती-सी नजरों से देख रहे थे। उनकी निगाहें, जाने या अनजाने, छत के उसी हिस्से पर टिकी थीं, जहां पंखा लगाने का हुक था। बिजली की फिटिंग वहां तक बाकायदगी से जा कर एकदम दो नंगे वायरों की आंखों से झांकने लगी थी।

—तुम मेरा एक काम कर दो।

जी।

—मेरी तबीयत ठीक नहीं है, और मैंने कल से इंजेक्शन भी नहीं लिया है। कल दोपहर से। शायद उससे तबीयत कुछ बेहतर हो जाये। उनके स्वर में बला की मिन्नत थी—तीन इंजेक्शन पैथिडीन के। मदन के यहां मिल जायेंगे।

मैंने धीरे-से ठंडी सांस ली। असद मियां बिना पलकें झपकाये उन्हीं मिन्नत भरी नजरों से मेरी ओर देख रहे थे। उसी समय हाथ में काले चमड़े का बैग थामे, प्याजी रंग की साड़ी पहने सुहेला भाभी कमरे में दाखिल हुई।

—मुझे जरा बाहर जाना है! जैसे उन्होंने अपने आप से कहा—ये जमील कहां चला गया? फिर बिना किसी जवाब की प्रतीक्षा किये वह परदा उठाकर बाहर निकल गयीं।

सीढ़ियां उतरते-उतरते मैं, न चाहते हुए भी जफर मियां के घर की ओर मुड़ गया। फलक मंजिल के बाहरी हिस्से में जफर मियां और उसके पीछे उनकी छोटी बहन शाहिदा रहती थी। पिछले टुकड़े में सबसे बड़े भाई असद मियां का खानदान था। घूम कर मैं जफर मियां के कमरे में पहुंचा।

शहनाज आपा तन्नू को उसका ईद का जूता दिखा रही थी।

—मामू आ गये! देखिए मामू, अब्बू हमारा नया जूता लाये! तन्नू बहुत खुश था।

--और बेटा, मामू को नहीं बताया कि तुमने शेर कैसे मारा था? और तुम्हारी बंदूक कहां है? जफर मियां बाहर के कमरे से अंदर आ गये थे। तन्नू नकल करके बता रहा था कि झाड़ी में से "हाऊं" करता कैसे शेर निकला और कैसे उसने अपनी कार्क वाली बंदूक से उसे ढेर कर दिया। फिर दीवान पर बिछी शेर की खाल की तरफ इशारा करके उसने ठेठ शिकारियों वाले लहजे में कहा—उसी की खाल है। जफर मियां हंस-हंस कर लोटे जा रहे थे।

—भई, खाना तैयार हो गया? रियाज का तो रोजा था, सूख गये होंगे! उन्होंने शहनाज आपा से कहा और दोनों बावरचीखाने की तरफ चले गये।

तन्नू अपनी बंदूक लटकाये शायद दादी-मां को शेर का शिकार सुनाने चला गया और मैं अकेला दीवान पर बैठा रह गया। कमरे के दो कोनों में रखे लैंप्स के शेड्स में से रोशनी छन-छन कर अंधेरे में घुल रही थी और कुल मिलाकर ऐसा लग रहा था कि सूरज निकलने के थोड़े पहले या डूबने के बिल्कुल बाद का समय हो। बीच में महोगनी के सिरहाने की खूबसूरत दोहरी मसहरी थी, जिसके लिए ऊपर छत में मच्छरदानी के धागे लटक रहे थे। बाजू में दीवार से लगी हुई गहरे काले रंग की वार्डरोब्ज थीं और उसके बाद लगभग कोने में लैंप के पास ड्रेसिंग टेबल बिल्कुल वैसी ही, जैसी असद मियां के घर में थी। इसमें पालिश की चमक अब भी बाकी थी। दूसरी तरफ जूते रखने का स्टैंड था, जिसमें बहुत-से जनाना और मर्दाना जूते रखे हुए थे। पलंग से अटैच्ड,

सिरहाने एक छोटा-सा बुकरेक था, जिसमें कायदे से किताबें जमी हुई थीं, पूरे कमरे में गहरे लाल और काले रंग से मिले-जुले पैटर्न का बुना कालीन बिछा हुआ था।

नहीं, जफर मियां भूल नहीं सकते थे। फिर क्या जान कर वह असद मियां के जिक्र को टाल गये थे? पंद्रह दिन पहले भी जब मैं गांव से आया था, असद मियां की तबीयत खराब चल रही थी। बल्कि रमजान से पहले तो एक दिन उनकी हालत नाजुक हो गयी थी तब मैंने जफर मियां से कहा था — किसी डाक्टर को दिखा दें?

—तुम भी यार कमाल करते हो! हर तीसरे दिन किस डाक्टर को दिखाया जा सकता है? फिर कुछ बीमारी हो, तब ना! सड़क पर कोई पहचान वाला मिल जाये, तो टांग में चोट लगने से फ्रैक्चर तक की कहानी उसे सुना देते हैं। दवा के पैसे मांग लेते हैं और जा कर वही पैथिडीन! किसी जान-पहचान वाले के यहां अगर मुर्गियां पली हैं, तो जा कर कहेंगे—बच्चों ने बहुत दिनों से अंडे नहीं खाये हैं। जो कुछ मिल गया, सिंधी को बेच देंगे और फिर वही पैथिडीन! जीना हराम कर दिया है! इंशोरेंस वालों से जो कुछ मकान का किराया मिलता है, वह भी इन्हीं घपलों में उड़ाते हैं। जमील चोरी के अलावा अब सट्टे से भी शौक करने लगे हैं! इधर भाभी की हरकतें देखो! नसीरन भी उन्हीं के रास्ते पर जा रही है! पता नहीं, किन-किन हरामजादों के साथ खुली हुई जीपों में घूमती फिरती है! यही सब दोनों छोटी बेटियां भी करेंगी! वह तो बहुत गनीमत है कि साराह और समीना की शादियां हो गयीं। मियां, हमने तो उधर फटकना भी छोड़ दिया। अम्मी की जिंदगी तो हराम हो ही गयी। तुम खुद सुनते रहते हो, दुनिया की कौन-सी जलालत बची है, जो अब फलक मंजिल के नाम से न जोड़ी जा सके? और फिर मेरी अपनी प्राब्लम्स हैं। आखिर कब तक?

—और असद मियां की मां?

—बदनसीब हैं! उन्होंने फूट-फूट कर रोते हुए कहा था—जिंदगी और मौत, दोनों की तरफ से बदनसीब! जैसे जिया है, वैसे ही मरेगा! रमजान के मुबारक महीने में तो उस गुनहगार को मौत तक नसीब नहीं हो सकती…!

मैं जफर मियां से कुछ कहे बगैर कमरे और फिर फलक मंजिल से बाहर आ गया।

खुली सड़क पर हलकी-सी खुनकी का एहसास हो रहा था। बहुत आगे स्ट्रीट लैंप जल रहा था और वहां तक घुप अंधेरा था। मेन रोड तक पहुंचने के लिए मुझे काफी पैदल चलना था। पीछे से आते हुए स्कूटर की रोशनी और

आवाज से सड़क पर छाया हुआ अंधेरा जैसे धड़का, फिर खामोशी और अंधेरा एक दूसरे में घुल कर दूर तक फैलते चले गये।

—जिंदगी में लेन-देन के कुछ कानून शायद लिखे ही नहीं गये! यह भी क्या कि जो कुछ हमें तर्के-विर्से में मिल जाये, हम उसे अपना समझ, जरब देने के तरीके ढूंढने लगें। वे न लिखे गये कानून उन लोगों के लिए हैं, जो सिर्फ उस चीज को छूते हैं, जिस पर अपना हक तसलीम करते हों, जो उन्होंने दांव पर लगा कर वसूल की हो। बाकी सब तो जमाने की तरफ से लादा गया बोझ है! एक बार काफी ज्यादा शराब पीने के बाद मेरे सामने असद मियां ने लोगों से कहा था, उस रात जुए में वह कोई बीस हजार रुपया हारे थे। तब जफर मियां और शहनाज आपा की शादी को दो साल हुए थे और मैं अलीगढ़ से छुट्टियों में कुछ दिन के लिए शहनाज आपा के पास ठहरा हुआ था। मुझे पता नहीं क्यों असद मियां अच्छे लगते थे। मेरे उनसे ज्यादा मेल-मिलाप को देखते हुए शहनाज आपा ने समझाया था कि मैं उनके पास न जाया करूं, क्योंकि वहां लोग जुआ खेलने और शराब पीने के लिए इकट्ठे होते थे।

फिर तो धीरे-धीरे सब सामने आ गया था। असद मियां ने फलक मंजिल दो-तीन अलग-अलग पार्टियों को रेहन रख दी थी · इंशोरेंस कंपनी और कुछ दूसरे मालदार सेठों को। देखते-ही-देखते डिग्रियां आने लगी थीं और फलक मंजिल के एक बड़े हिस्से को फ्लैटों में तबदील करके किराये पर उठा दिया गया था····उधार वालों की किस्तें चुकाने के लिए असद मियां की मां ने पहले काफी बरदाश्त किया, क्योंकि असद मियां कैसे भी थे, उनके सबसे लाड़ले बेटे थे—नवाबों से ज्यादा लाड़ से पाला है मैंने इसे! आंखों में आंसू भर कर वह कहा करती थी। लेकिन फिर उन्होंने इस बात को ले कर मुकदमा दायर कर दिया था कि जायदाद क्योंकि उनके नाम थी, इसलिए उनके जीते जी उसे रेहन रखने का हक असद मियां को नहीं था। हाईकोर्ट में मुकदमा चल रहा था और उम्मीद थी कि असद मियां के हिस्से को छोड़कर जफर मियां और शाहिदा को उनका हक मिल जायेगा।

शाहिदा के खयाल से मेरे मुंह में कड़वाहट फैल गयी। अलीगढ़ जाने के पहले मैं शाहिदा के बहुत करीब आ गया था और मेरी आने वाली जिंदगी के ज्यादातर प्लानों में मैंने शाहिदा को शामिल समझ लिया था। मैं प्रि-मेडिकल में इतने नंबर नहीं ला पाया था कि किसी मेडिकल कालेज में मेरा दाखिला हो पाता। जब तीन साल बाद मैं मुस्तकिल तौर पर शहर लौटा था, तो शाहिदा घर में बच्चों को पढ़ाने वाले एक मास्टर, साजिद से शादी कर चुकी थी। साजिद एक गरीब घर का लड़का था और खानदान के उन तेजी से बिगड़ते

हालात में शायद शाहिदा को वही एक सहारा नजर आया था। बहरहाल इस बात को भी अब पांच साल हो चुके थे। शाहिदा और साजिद को एक बच्चा था और अब असद और जफर मियां की मां भी अपनी बेटी और दामाद के साथ ही रहती थीं।

सड़क के अगले मोड़ का बल्ब भी किसी ने फोड़ दिया था। अंधेरा उसी तरह छाया हुआ था। सिर्फ पास की कोठी की हलकी-सी रोशनी नजर आ रही थी। मेरे कदम धीरे-धीरे उठते रहे।

जफर मियां ने हालात से लड़ने के लिए हाथ-पैर मारे थे। अब उनके दोस्तों की महफिलें कम हो गयी थीं। तफरीहें कम हो गयी थीं, यहां तक कि कभी-कभी तो ब्यूक में पेट्रोल डलवाना भी मुश्किल हो जाता था। शहनाज ... अच्छे कल की ख्वाहिश में लाटरियों के टिकट खरीदती थीं, लेकिन फि... उनकी बदहाली एक खास स्टेज तक आ कर रुक गयी थी। शाहिदा भी ... हरी-भरी बेल की तरह अपने सबसे करीब की दीवार का सहारा लेने पर ... हो गयी थीं। लेकिन असद मियां बिना किसी तबदीली के, वक्त के साथ-साथ नीचे बैठते गये थे, जैसे उनकी नजरों में जो कुछ हो रहा था, सिर्फ वही हो सकता था, शहर के विभिन्न हिस्सों में न जाने कितने लोगों से उन्होंने झूठ बोल कर पैसे लिये थे···किसी को नायाब नारतूस ला के देने और किसी को कोई और जरूरी चीज दिलाने के बहाने, किसी से बीमारी, किसी से भूख का बहाना करके, लेकिन किसी शर्म का तआस्सुर उनके चेहरे पर कभी नहीं रहा था। यहां तक कि पिछले दिनों तो वह पीर-फकीरों की मजारों पर बैठने लगे थे···नजर और चढ़ावे मिल जाने की उम्मीद में। जमील चोरी करना सीख गया था। लेकिन उसके चोरी करने पर मियां ने कभी कोई ऐतराज नहीं किया था। सारा घर उनको भूल कर, उनकी तबीयत की तरफ से आंखें बंद कर ईद की तैयारियों में लगा हुआ था। जफर मियां के यहां एक हफ्ते से घर की लिपाई-पुताई चल रही थी। शाहिदा और जफर मियां के यहां बच्चों के कपड़े सिले जा रहे थे। शीर-खुर्मे के लिए सूखे नारियल घिसे जा रहे थे। बादाम-पिस्ते काट-धो कर सुखाये जा रहे थे।

असद मियां को इन सब लोगों—बहन, भाई, मां और दोस्तों के बीच देख कर पता नहीं क्यों मुझे हमेशा ऐसा लगता था, जैसे सिर्फ एक असद मियां ही अपने मुकाम पर थे, और सारी दुनिया बदल गयी थी।

फलक मंजिल का बाहरी हिस्सा गहरे अंधेरे में डूबा हुआ था। चारदीवारी में जगह-जगह रखने पड़ गये थे और कई जगह आसानी के खयाल से लोगों ने

दाखिले के लिए दीवार को तोड़ डाला था। दाखिले के दरवाजे की जगह दोनों तरफ सिर्फ सिमेंट के पिलर्स रह गये थे। सामने पोर्च में जफर मियां की ब्यूक खड़ी हुई थी। दायीं तरफ शाहिदा और साजिद का हिस्सा था, जिसके बाहर एक साइकिल खड़ी हुई थी। उसके ऊपर और आगे दूर तक फलक मंजिल का हिस्सा और जमीन किराये पर उठा दी गयी थी। अपने वकील, दोस्तों के मशवरे और मदद से जफर मियां जमीन का कुछ हिस्सा मार्टगेज से बचाने में कामयाब हो गये थे। इस हिस्से पर शहनाज आपा ने अपना जेवर गिरवी रखकर एक छोटा-सा फ्लैट बनवा दिया था, जिसमें किरायें से कोई मिलिटरी के मेजर रहते थे। दायीं तरफ कंपाउंड में घास-ही-घास थी, जो बीच में बने खूबसूरत हौज और फव्वारे को जैसे निगल गयी थी।

पोर्च से गुजर कर घुसने के बाद फलक मंजिल का वह हिस्सा था, जहां असद मियां रहते थे। उनके कमरे की हलकी-हलकी रोशनी मुझे दूर से ही नजर आ रही थी। दूर, सामने लगभग पचास फीट नीचे, लहरें मारता हुआ तालाब था। कमरे के बाहर लगे यूक्लिप्टस के नीचे खड़े होकर बरसात की खामोश तेज हवा की रातों में मैंने अकसर पानी की लहरों और यूक्लिप्टस की पत्तियों की थर-थराहट का मिला-जुला कोरस सुना था। इस वक्त दोनों चीजें चुप थीं।

सीढ़ियां चढ़ने के पहले एक लमहे के लिए रुका। दूर, दायीं तरफ दरख्तों और जंगली घास में घिरे लकड़ी के अध-टूटे शेड्स नजर आ रहे थे। उस हिस्से में, जहां की छत गिर चुकी थी, या टीन की छत उतार कर बेची जा चुकी थी, किसी ऊपरी कमरे की रोशनी एक आरा-मशीन पर पड़ रही थी, जो नामालूम कैसे अपनी जगह रह गयी थी। ऐसा लग रहा था कि कोई झुकी कमर की शबीह पनाह ढूंढ़ने के लिए वहां जा छुपी हो, या वहां से पनाह पाने के लिए सिर उठाये खड़ी हो। मेरी आंखों में वर्कशॉप का पुराना नक्शा घूम गया। असद मियां के बाप अपने जमाने में सूबे के सबसे बड़े लकड़ी के व्यापारी और फर्नीचर-डीलर थे। एक ही वक्त में कोई डेढ़ सौ कारीगर उनके शेड में काम किया करते थे।

दरवाजा खुला हुआ था। असद मियां की बेचैन निगाहें मुझ पर ठहर गयीं। वह बिस्तर पर उठ कर बैठ गये थे। एक पल के लिए वह कुछ सोचते-से रहे, फिर उन्होंने इंजेक्शन मेरे हाथ से ले लिये।

—लगायेगा कौन ? मैंने थोड़ी हिम्मत करके पूछा।

जवाब में असद मियां मुस्कराते हुए बिस्तर से उठे। खड़े होने की कोशिश में पहले तो वह डगमगाये, फिर संभल कर नंगे पैर ही अंदर के कमरे में चले गये। थोड़ी देर बाद वह सिरिंज हाथ में लिये वापस आये और देखते-ही-देखते

वे तीनों इंजेक्शन उन्हीं के हाथों उनके खून में दाखिल हो गये। पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूंदें उनके माथे पर जगमगाने लगी थीं और उनके मुंह से "सी-सी" की आवाज निकल रही थी। थोड़ी देर आंखें बंद किये, गरदन अकड़ाए वह बिल्कुल खामोश बैठे रहे। फिर जब उन्होंने आंखें खोलीं, तो उनमें दर्द और तकलीफ का तआस्सुर खत्म हो चुका था।

मुझे एकदम लगा, जैसे मैं किसी चीज का इंतजार कर रहा हूं · किसी ऐसी चीज का, जो मैं चाहता था कि न हो, लेकिन फिर भी उसका इंतजार था··· असद मियां के अगले सवाल का।

—यार, क्या किसी के पास तीन सौ बोर के कारतूस मिल सकते हैं ? आबिद मियां को चाहिए। सुना है, पीस-कोर में कोई आदमी बेच रहा है। इसके बाद थोड़ी देर के लिए खामोशी रही। असद मियां अब बिस्तर पर लेट कर मेरी तरफ करवट ले चुके थे। मैंने पहली बार देखा कि असद मियां के सिर पर बाल बहुत कम रह गये थे। उनके सिर की खाल बालों में से तकरीबन साफ नजर आने लगी थी। बालों का रंग न सफेद, न काला, बिल्कुल राख का-सा हो गया था।

—और तुम्हारी खेती के क्या हाल हैं ? मुझे लगा, जैसे लहजे में कुछ छिपा हुआ था। मजाक, तंज या कुछ और, लेकिन क्या, मैं समझ नहीं पाया ?

—ठीक है। ट्रैक्टर चल रहा है। मैंने जवाब दिया।

—मेरा मशविरा तो यह है कि तुम अब भी संजीदगी के साथ पढ़ डालो। क्या रखा है इस तरह की खेती-वेती में ! आज तो बहन है। कल भांजे बड़े हो जायेंगे, तो क्या करोगे। यह सब कुछ तुम्हारे बस का नहीं है। अभी तो सब खुश हैं कि बहनोई की मौत के बाद भाई, बहन और भांजों के लिए कितना कर रहा है, लेकिन धीरे-धीरे सब बदल जायेगा। अरे हां, यह तो बताओ, क्या तुमने कभी किसी जिन को देखा है ?

—जी ? मुझे यकीन नहीं आया।

—जिन···मेरा मतलब जिन्नातों से है। लोग नमाजे-वजीफे पढ़ कर जिनों को अपने कब्जे में कर लेते हैं। क्या कहते हैं उन्हें ? मवक्किल। मवक्किल जिसके कब्जे में हो, उसकी हर ख्वाहिश पूरी करता है। हर काम करता है। किसी भी तरह का। आज एक साहब कह रहे थे कि उन्होंने एक जमाने में जिनों को देखने और कब्जे में करने के लिए बड़े जतन किये। वीरानों में जा-जा कर इबादतें कीं, उजाड़ और गैरआबाद मसजिदों में अजानें दीं, लेकिन उन्हें कभी कोई जिन इनसानी शक्ल में नजर नहीं आ सका। हां, एक सांप के रूप में जरूर नजर आया। कोई डेढ़ बालिश्त लंबा, बहुत ही खूबसूरत लाल रंग का। वैसे खुदा

मालूम उन्हें यह कैसे पता चला कि वह जिन ही था। कभी तुम्हारा दिल भी चाहता है जिनों को देखने के लिए ?

—जी नहीं। मुझे झुरझुरी-सी आ रही थी।

—एक जमाने में शहर में एक पहुंची हुई औरत थी। सुना है, उसके कब्जे में मवक्किल था। जाहिर है, वह उसकी हर ख्वाहिश पूरी कर सकता था। लेकिन बेचारी मरी बहुत गरीबी में। क्या पता, कभी कब्जे में आये, तो पता चले! और असद मियां हंसने लगे—तुम गांव कब वापस जाओगे ? उन्होंने पूछा।

—बासी ईद को, या उसके अगले दिन।

—खेतों के लिए खाद का कोई इंतजाम हुआ ?

—अभी तक तो नहीं।

—ओह हां, वो फर्टलाईजर कार्पोरेशन के शर्माजी मेरी पहचान के हैं। एकदम असद मियां मेरे चेहरे की बजाय कहीं और देखने लगे थे, जैसे उनकी आंखें मुझसे बचना चाह रही थीं—मैंने यूं ही बताया। तुम चाहो, तो मैं खाद दिलवा···और उन्होंने जुमला पूरा नहीं किया। अब असद मिया छत की तरफ देखने लगे थे। फिर एक ठंडी सांस ले कर वह बड़ी थकी आवाज में बोले—बस, अब तुम जाओ। मैं बिल्कुल ठीक हूं। और उनकी आंखें झिलमिला गयीं।

सब लोग अपने आपको जैसे इस हादसे के लिए तैयार कर चुके थे। कमरे में पूरी फलक मंजिल जमा थी।

असद मियां के हल्क से अजीब-सी आवाजें निकल रही थीं और उनका मुंह फट कर खुल गया था। गरदन और माथे की रगें खिच कर उभर आयी थीं और चेहरे पर नीलाहट दौड़ने लगी थी···बिल्कुल वैसी ही नीलाहट, जैसी बर्फ में दबे गोश्त में पैदा हो जाती है। सुहेला भाभी उसी प्याजी साड़ी में उनका सर अपनी गोद में रखे बैठी थी और उनके चेहरे पर एक अजीब-सी वीरानी घिर आयी थी। उनकी खूबसूरत साड़ी में असद मियां का मैला चेहरा बड़ा आउट आफ प्लेस लग रहा था।

—यासीन शरीफ पढ़ो, मियां ! सैयदानी बुआ ने जफर मियां से कहा और जफर मियां झपट कर भागे। कुछ ही लमहे बाद वह पंचसूरा हाथ में लिये कमरे में लौटे। टोपी लगाने से उनके चेहरे पर एक अजीब-से सीधेपन या बेवकूफी का तआस्सुर पैदा हो गया था। चश्मे के पीछे उनकी आंखों में बेचैनी थी। असद मियां के सिरहाने बैठकर वह धीमी-धीमी आवाज में यासीन शुरु कर चुके

थे ···मौत की तकलीफ को कम करने के लिए। कहीं से किसी की हिचकियों की आवाज उभर रही थी। मैंने देखा, असद मियां की मां अपना सर उनके पैरों पर रखे रो रही थी।

पल भर के लिए मानो सब कुछ रुक गया। असद मियां का जिस्म बेहरकत हो गया था। लेकिन सुहेला भाभी की चीख के पहले ही असद मियां ने आंखें खोल दीं और बड़े मासूमाना अंदाज में उन्होंने अपने चारों तरफ इकट्ठी भीड़ पर नजर डाली।

जफर मियां यासीन शरीफ पढ़ना बंद कर चुके थे। सुहेला भाभी के चेहरे पर वही तंजिया-सी मुस्कराहट फिर खेलने लगी थी। वह एक चमचे से असद मियां के हलक में पानी टपका रही थी। मैंने घड़ी की तरफ देखा, रात के साढ़े बारह बज चुके थे।

— कुछ बोलो, बेटा···? कैसी तबीयत है···? क्या हो गया था? असद मियां की मां कह रही थीं। उनकी आवाज ऐसी लग रही थी, जैसे किसी ग्रामोफोन रिकार्ड को कम स्पीड पर बजा दिया गया हो। आंखों से आंसू बहे जा रहे थे, जिन्हें वह दोपट्टे के पल्लू से पोंछ रही थीं। मैंने देखा, उनके एक जमाने के नरम और नाजुक हाथों में दूर ही से नजर आ जाने वाला खुरदरापन आ गया था।

जफर मियां खड़े हुए सर पर टोपी के एंगिल को लगातार बदल रहे थे। पंचसूरा अब भी उनके हाथ में ही दबा हुआ था। फिर सुहेला भाभी ने असद मियां का सिर तकियों पर रख दिया। असद मियां की निगाहें चारों तरफ गर्दिश कर रही थीं। सब कुछ गहरी खामोशी में डूब गया था। सिर्फ असद मियां की मां की सिसकियां थीं, जो धीरे-धीरे धीमी होती जा रही थीं।

असद मियां थोड़ी कोशिश के बाद तकियों के सहारे बैठ गये। उनके चेहरे की मुस्कराहट हर पल गहरी होती जा रही थी। कमरे में कोई अपनी जगह से हिला तक नहीं। अचानक, अपने कमजोर जिस्म के बावजूद असद मियां ने खनकती-सी आवाज में कहा — नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूं! घबराइए मत, कुछ नहीं होगा···कम-से-कम रमजान की कल शाम तक तो नहीं! आप यकीन कीजिए? खुदा मालूम, असद मियां किससे कह रहे थे, लेकिन उनकी उस मुस्कराहट में मुझे लगा, हजारों कहकहे घिर आये थे।

फिर धीरे-धीरे लोग असद मियां के कमरे से रुखसत होने लगे। थोड़ी देर बाद मैं अकेला वहां रह गया। सुहेला भाभी शायद अंदर कपड़े बदल रही थीं और बच्चे सोने के लिए लेट चुके थे। मैं खामोश बैठा जमीन पर बिछे कालीन

को घूरता रहा। उसके डिजाइन, उसके रंग के बारे में मैं सोचता रहा। यहां तक कि असद मियां को नींद आ गयी और फिर थोड़ी ही देर में वह खर्राटे लेने लगे।

उठते वक्त मैं सोच रहा था कि उस रात असद मियां के कमरे से शायद हर आदमी मायूस हो कर वापस लौटा था।

अगली शाम साढ़े चार बजे मैं जफर मियां के कमरे में बैठा ईद की खरीदारी का बजट सोच रहा था। शहनाज आपा और जफर मियां आखिरी रोजे के इफ्तार पर कहीं इनवाइटेड थे और तन्नू शाहिदा के यहां चला गया था। सवेरे मैं असद मियां को देखने गया था और खिड़की में से उन्हें कोई किताब पढ़ते देख कर वापस आ गया था। मैं लिस्ट बना ही रहा था कि जमील भागता हुआ कमरे में दाखिल हुआ।

—आपको अब्बू बुला रहे हैं! उसकी सांस फूल रही थी।

—अम्मी घर पर हैं? मैंने पूछा।

—कोई भी नहीं है!

—तबीयत कैसी है उनकी?

—वैसी ही है। सीने में दर्द हो रहा है। आपको जल्दी-से बुलाया है। जमील मेरे जवाब का इंतजार कर रहा था।

—तुम चलो, मैं आ रहा हूं। मैं जानता था, वह किस लिए बुला रहे थे। पैथिडीन! मैंने पांच रुपये का नोट अपनी जेब में रख लिया।

असद मियां की हालत फिर रात जैसी हो रही थी। रंग नीला पड़ गया था, आंखों की पुतलियां फिर गयी थीं और सांस बहुत तकलीफ से आ रही थी। एकदम, पता नहीं क्यों, मुझे डर-सा लगा, जैसे किसी सुनसान सड़क पर मैं अकेला खड़ा रह गया हूं।

थोड़ी देर में कमरे में लोग इकट्ठे होना शुरु हो गये और मैं भागता हुआ डाक्टर को बुलाने के खयाल से बाहर आ गया। काफी पैदल दौड़ने के बाद मुझे एक टैक्सी मिली। जब डाक्टर के साथ टैक्सी फलक मंजिल में दाखिल हुई, तो बहुत देर हो चुकी थी।

शाम के लंबे साये जमीन पर फैलने लगे थे।

कमरे में सिसकियां-ही-सिसकियां सुनायी दे रही थीं।

असद मियां की आंखें खुली हुई, अजीब ढंग से कहीं देख रही थीं। कम रोशनी में लग रहा था, जैसे उन आंखों में मिला-जुला गुस्सा और मुस्कराहट अब भी थी। सकते के आलम में मैं उनके चेहरे को देखता रहा, फिर आगे बढ़-

कर उन खुली आंखों को बंद कर दिया। डाक्टर ने उनका जिस्म सफेद चादर से ढंक दिया।

एकदम किसी चीज ने मेरा खयाल असद मियां के मुर्दा चेहरे से अपनी तरफ खींच लिया, जैसे दरोदीवार हिल गये थे। कोई गोला फलक मंजिल के बिल्कुल ऊपर आ कर फूटा था।

···दो, तीन, चार···तोपें चल रही थीं। रोजे के इफ्तार की···ईद के चांद की। रमजान अब खत्म हो रहे थे।

लेखक परिचय

मुक्तिबोध : (स्वर्गीय) गजानन माधव मुक्तिबोध। जन्म : 13 नवम्बर, 1917 श्योपुर मध्यप्रदेश। समकालीन हिन्दी साहित्य (विशेष रूप से कविता) के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और चर्चित कवि-आलोचक। प्रकाशित रचनायें : कामायनी एक पुनर्विचार, भारत: इतिहास और संस्कृति (जब्तशुदा), चांद का मुंह टेढ़ा है, एक साहित्यिक की डायरी, नयी कविता का आत्मसंघर्ष, काठ का सपना, सतह से उठता आदमी, विपात्र, भूरी भूरी खाक धूल, समीक्षा की समस्यायें, आखिर रचना क्यों और मुक्तिबोध रचनावली (छह खंड)। अपनी कथात्मक और औपन्यासिक चेतना के लिए प्रख्यात। कहानी में नये वस्तुविन्यास और रूपात्मक प्रयोगों के लिए उल्लेखनीय।

भीष्मसाहनी : जन्म : 8 अगस्त 1915 जाकिर हुसैन कालेज दिल्ली, और दिल्ली वि० वि० के अंग्रेजी विभाग में प्राध्यापक। सोवियत रूस में 57-63 तक अनुवादक, शिरोमणि लेखक सम्मान 1975। लोटस अवार्ड 1980। कुल प्रकाशन लगभग वीस। झरोखे : 67, तमस : 74 (साहित्य अकादेमी अवार्ड 75), भाग्यरेखा 53, भटकती राख 65। कहानियां, हानूश 77 (नाटक-मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् का पुरस्कार)। बलराज-माई ब्रदर-81 (अंग्रेजी में जीवनी) 25 रूसी क्लासिक्स का हिन्दी में अनुवाद। अनेक रचनाओं का पंजाबी और अंग्रेजी में अनुवाद। राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ के महासचिव। हिन्दी कहानी में प्रगतिशील चेतना के महत्वपूर्ण लेखक।

अमृत राय : जन्म : 15 अगस्त 1921 सम्पादक : हंस 42-52 तक, नई कहानियां 67-71 तक। कुल प्रकाशन लगभग पैंतीस। उल्लेखनीय कृतियां : बीज 53, धुंआ-77 (उपन्यास)। आदि विद्रोही, अग्निदीक्षा, समरगाथा (अनुवाद) सरगम (कहानियां 77), आनन्दम (ललित निबन्ध रम्य रचनायें)। प्रेमचन्द : कलम का सिपाही (जीवनी) शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार का सर्वोत्तम अनुवाद अवार्ड 1958। नेहरू फेलोशिप 77-79, साहित्य अकादेमी अवार्ड 63। सोवियत लैण्ड नेहरू अवार्ड 71 अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनूदित। हिन्दी कहानी में प्रगतिशील चेतना और यथार्थ-वादी सरोकारो के महत्वपूर्ण कहानीकार।

हरिशंकर परसाई : जन्म : 22 अगस्त 1924, जमानी, होशंगाबाद, मध्यप्रदेश। 1957 तक अध्यापन। फिर स्वतंत्र लेखन। 1956 से 'वसुधा' नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन सम्पादन। प्रकाशित पुस्तकें : हंसते हैं रोते हैं, भूत के पांव पीछे, तबकी बात और थी। जैसे उनके दिन फिरे, सदाचार का तबीज। पगडण्डियों का जमाना, रानी नागफनी की कहानी, वैष्णव की फिसलन, शिकायत मुझे भी है, अपनी अपनी बीमारी, ठिठुरता हुआ गणतंत्र, निठल्ले की डायरी, बोलती रेखाएं, एक लड़की पांच दीवाने, तिरछी रेखाएं, और अन्त में, तट की खोज, माटी कहे कुम्हार से, पाखण्ड का अध्यात्म, सुनो भाई साधो, विकलांग श्रद्धा का दौर और परसाई रचनावली (छह खंड)। जबलपुर वि० वि० से मानद डी० लिट्०। 1982 में साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत। मध्यप्रदेश शासन के 'शिखर सम्मान' से सम्मानित 1983। लगभग सभी भारतीय भाषाओं में अनूदित। मलयालम में चार पुस्तकें अनूदित। हिन्दी में व्यंग्य को एक सम्मानित और रचनात्मक दर्जा दिलाने वाले एकमात्र कथाकार। मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष। विश्वशान्ति सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के नाते रूस की यात्रा।

धर्मवीर भारती : जन्म 25 दिसम्बर 1926। प्रयाग के अतरसुइया मुहल्ले में। '60 तक प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग में अध्यापन। 'अभ्युदय', 'संगम', 'निकष' और 'आलोचना' का सम्पादन। लंबे समय तक 'धर्मयुग' का सम्पादन। इंग्लैण्ड, जर्मनी, इंडोनेशिया, थाइलैण्ड, बांग्ला देश की यात्रायें : 1972 में पद्मश्री। प्रकाशन : **कहानी संग्रह**—मुर्दों का गांव, चांद और टूटे हुए लोग, बन्द गली का आखिरी मकान। **कविता**—ठंडा लोहा, अंधायुग, सात गीत वर्ष, कनुप्रिया। **उपन्यास**–गुनाहों का देवता, सूरज का सातवां घोड़ा। **निबन्ध**—ठेले पर हिमालय, कहनी-अनकहनी, पश्यन्ती, **आलोचना**—प्रगतिवाद-एक समीक्षा, मानवमूल्य और साहित्य, **एकांकी**—नदी प्यासी थी। **शोध**—सिद्ध साहित्य। **अनुवाद**—आस्कर वाइल्ड की कहानियां, देशान्तर। **रिपोर्टिंग**—युद्ध-यात्रा। हिन्दी कहानी में नये प्रयोगों के लिए प्रख्यात।

कृष्ण बलदेव वैद : जन्म 27 जुलाई 1927। प्रकाशन—**उपन्यास** : उसका बचपन—57, विमल उर्फ जाएं तो जाएं कहां—1974, नसरीन—75, दूसरा न कोई—76, दर्द ला दवा—80, गुजरा हुआ जमाना—81। **कहानी संग्रह**—बीच का दरवाजा—62, मेरा दुश्मन—66, दूसरे किनारे से—70, लापता—73, उसके बयान—74, मेरी प्रिय कहानियां—78, वह और मैं—

80। **अनुवाद**—हिन्दी में : बैकेट का गोडो के इन्तजार में—70, आखिरी खेल—71 अंग्रेजी में निर्मल वर्मा—डेज आव लांगिग—72, श्रीकान्त वर्मा—बिटर स्वीट डिजायर—75 **समीक्षा**—अंग्रेजी में—टेक्नीक इन द टेल्स आव हेनरी जेम्स। **अंग्रेजी में प्रकाशन**—स्टेप्स इन डार्कनेस—62, विमल इज बोग (दो खंडों में) 72, साइलेन्स एण्ड अदर स्टोरीज —72। वर्षों तक अमरीका में अंग्रेजी के विजिटिंग प्रोफेसर। हिन्दी कहानी में नये प्रयोगों के लिए चर्चित और उल्लेखनीय।

रामकुमार : जन्म अक्टूबर, 1924 शिमला। दिल्ली वि० वि० से अर्थशास्त्र में एम० ए० शारदा उकील स्कूल आव आर्ट्स, दिल्ली में कला शिक्षा। पेरिस में आंद्रेल्होत और फरनांदलेज में कला शिक्षा। शिमला, दिल्ली, पेरिस, बम्बई, प्राहा, कोलंबो, वारसा, क्राकोव, कलकत्ता में कई एकल प्रदर्शिनियां। लंदन, न्यूयार्क, वेनिस, तोकियो की समूह प्रदर्शिनियों में शिरकत। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के चित्रकार। हिन्दी के प्रख्यात कथाकार। प्रकाशन : **कहानी-संग्रह**—हुस्ना बीबी, एक चेहरा, समुद्र, झींगुरों के स्वर, मेरी प्रिय कहानियां। **उपन्यास**—घर बने, घर टूटे, देर सवेर। **यात्रा** : योरप के स्केच। **कला** : ललित कला अकादेमी से अनेक मोनोग्राफ्स। 1976 में मेरी प्रिय कहानियां पर उ० प्र० का प्रेमचन्द पुरस्कार। 1972 में पद्मश्री। सहज प्रयोगशीलता के लिए प्रख्यात।

महीप सिंह : 15 अगस्त 1930। एम० ए० पी-एच० डी० खालसा कालेज, दिल्ली वि० वि० में वरिष्ठ प्राध्यापक। प्रकाशन : **कहानी संग्रह**—छह और एक उपन्यास—यह भी नहीं। इनके अतिरिक्त आलोचना, संपादन और अनुवाद की बीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। जापान के कान्साई विश्वविद्यालय में 1974-75 तक विजिटिंग प्रोफेसर, कनाडा, अमरीका और इंग्लैण्ड की साहित्यिक यात्रायें 1982। बैंकाक, सिंगापुर की यात्रा 1983। पिछले अठारह वर्षों से साहित्यिक पत्रिका 'संचेतना' का सम्पादन। नयी कहानी आंदोलन के बाद अकहानी और सचेतन कहानी आंदोलनों के सक्रिय हस्ताक्षर।

शानी : पूरा नाम गुलशेर खान शानी : जन्म 16 मई 1933। प्रकाशन : **उपन्यास**—काला जल, सांप और सीढी, फूल तोड़ना मना है, एक लड़की की डायरी, पत्थरों में बंद आवाज, कस्तूरी, नदी और सीपियां, **कहानी संग्रह**—बबूल की छांव, डाली नहीं फूलती, छोटे घेरे का विद्रोह, एक से मकानों का नगर, युद्ध, मेरी प्रिय कहानियां, सम्पूर्ण कहानियां-सब जग (दो भाग)।

संस्मरण—शालवनों का द्वीप, **निबंध** : एक शहर में सपने बिकते हैं। **संपादन**—पोट्टेकाट की श्रेष्ठ कहानियां, साहित्य अकादेमी की त्रैमासिक पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य'। मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् के सचिव। 'साक्षात्कार' पत्रिका के संस्थापक संपादक। अनेक भारतीय भाषाओं के अलावा रूसी, चैक, अंग्रेजी और लिथुवानी भाषाओं में अनूदित। उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। मध्यप्रदेश शासन द्वारा 'शिखर सम्मान' से सम्मानित। मध्यमवर्गीय मुस्लिम परिवारों के यथार्थवादी चितेरे। बस्तर के आदिवासी जनजीवन के प्रामाणिक कथाकार।

कामता नाथ : पूरा नाम कामता नाथ श्रीवास्तव : जन्म 22 सितम्बर 1935। प्रकाशन—**कहानी संग्रह**—छुट्टियां, तीसरी सांस, सब ठीक हो जाएगा। **उपन्यास**—समुद्र तट पर खुलने वाली खिड़की, सुबह होने तक, एक और हिन्दुस्तान, तुम्हारे नाम। **नाटक**—दिशाहीन। **सम्पादन**—कथान्तर (संकलन) और 'समांतर'-साहित्यिक पत्रिका। समांतर कहानी आन्दोलन के मुख्य प्रवक्ता-रचनाकार।

राजी सेठ : जन्म 4 अक्टूबर 1935। एम० ए० अंग्रेजी। भारतीय दर्शन और तुलनात्मक धर्म। प्रकाशन—**कहानी-संग्रह**—अंधे मोड़ से आगे - 1979, तीसरी हथेली—1981। **उपन्यास** तत्-सम-1983। एक कविता संग्रह, एक आलोचनात्मक लेखों का संग्रह और एक कहानी संग्रह शीघ्र प्रकाश्य। तीसरी हथेली का पंजाबी में अनुवाद। लिखना 1974 से शुरू किया। हिंदी कहानी और उपन्यास में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक ब्यौरों के लिए उल्लेखनीय।

रमेश बक्षी : 15 अगस्त 1936, मालवा मध्यप्रदेश में। 1964 तक मध्यप्रदेश के शासकीय महाविद्यालयों में अध्यापन। 'ज्ञानोदय' का सम्पादन। 'शंकर्स वीकली' (हिंदी) का सम्पादन। प्रकाशन-**कहानी-संग्रह**—मेज पर टिकी कुहनियां, दुहरी जिंदगी, कटती हुई जमीन, एक अमूर्त तकलीफ, मेरी प्रिय कहानियां, पिता-दर-पिता, शवासन, **उपन्यास**— हम तिनके, घिसा हुआ चेहरा, किस्से ऊपर किस्सा, अठारह सूरज के पौधे, बैसाखियों वाली इमारत, **व्यंग्य रचनाएं**—गुस्ताखी मुआफ, लतीफे अपने अपने, ललित क्रोध, एक और पंचतंत्र **नाटक**—देवयानी का कहना है। **फिल्म**—सत्ताइस डाउन। साहित्यिक पत्रिका 'आवेश' का सम्पादन। हिंदी कहानी में नये प्रयोगों के लिए चर्चित और उल्लेखनीय।

गिरिराज किशोर : 8 जुलाई 1937। प्रकाशन : **कहानी-संग्रह**—नीम के फूल-64, चार मोती-बे आब-64, पेपरवेट-67, रिश्ता-69, शहर-दर-शहर-76, हम प्यार कर लें-60, जगतारिणी-81। लहू पुकारेगा (संपादन) 81। **उपन्यास**—लोग 66, चिडियाघर-68, यात्रायें-71, जुगलबंदी-73, दो-74, इन्द्र सुने-78, दावेदार-78, तीसरी सत्ता-82, यथा प्रस्तावित-82, परिशिष्ट-84। **नाटक**—प्रजा ही रहने दो-77, घास और घोड़ा-80, चेहरे, चेहरे किसके चेहरे-83, केवल मेरा नाम लो-84, **एकांकी**—बादशाह गुलाम बेगम-79, **आलोचना**—संवाद सेतु-83। **बच्चों के लिए लेखन** : बच्चों के निराला, सोने की गुड़िया, पके सोने के पेड़, अंग्रेजी, जर्मन और अनेक भारतीय भाषाओं में अनूदित। साहित्यिक पत्रिका निरंतर का सम्पादन। हिन्दी कहानी में यथार्थ-वादी चेतना के लिए उल्लेखनीय।

रामनारायण शुक्ल (स्वर्गीय) जन्म—27 अक्टूबर 1937, हुसैनगंज, फतेहपुर, उ० प्र० शिक्षा-कलकत्ता विश्वविद्यालय। 1962 में 'कहानी' पत्रिका के सहायक संपादक। 1966 में सोवियत सूचना केन्द्र की पत्रिका 'युवक दर्पण' में। 1968 में दिल्ली में आकस्मिक निधन। 1971 में सरस्वती प्रेस इलाहाबाद से 'सहारा' कहानी संग्रह। तीन कहानी संग्रह—किसी शनिवार को, महेन्द्र का भाई और डाव शीघ्र प्रकाश्य। बंगला से कई अनुवाद प्रकाशित। हिन्दी कहानी में मध्य और निम्न मध्यवित्तीय परिवारों के संघर्षपूर्ण जीवन के प्रामाणिक कहानीकार।

ओमप्रकाश मेहरा : जन्म 16 दिसम्बर 1937, जबलपुर विश्वविद्यालय और बरमिंघम यूनिवर्सिटी में शिक्षा। भारतीय प्रशासनिक सेवा में सचिव। प्रकाशन : **कहानी-संग्रह** -फिर एक बार, अलाव, सीढ़ियों के बीच एक मच, पालवाली नाव, जिन्दगी एक मोड़ पर। "पालवाली नाव" म० प्र० साहित्य परिषद् से पुरस्कृत। नयी कहानी की शुरुआत से कहानी लेखन। अपनी जड़ों और परिवेश के यथार्थवादी कहानीकार के रूप में उल्लेखनीय।

गोविन्द मिश्र : जन्म 1 अगस्त 1939, प्रकाशन—**उपन्यास**—वह अपना चेहरा, उतरती हुई धूप, लाल पीली जमीन, हुजूर दरबार। **कहानी-संग्रह**—नये पुराने मां-बाप, रगड़ खाती आत्महत्याएं, अन्तःपुर, धांसू, खुद के खिलाफ, अपाहिज, मेरी प्रिय कहानियां, **यात्रा संस्मरण**—धुंध भरी सुर्खी, दरख्तों के पार शाम, **संपादन**—स्थितियां रेखांकित (कहानी संकलन), ख़ाक इतिहास। अंतःपुर,

धांसू, धुंधमरी सुर्खी पर उत्तर प्रदेश सरकार के पुरस्कार। लाल पीली जमीन आथर्स गिल्ड आव इंडिया द्वारा सम्मानित। अपनी जमीन और परिवेश के संघर्षों के यथार्थ चेतना के कहानीकार।

रमाकान्त श्रीवास्तव : जन्म 1942, एम० ए० पी-एच० डी० इन्दिरा कला संगीत विश्व विद्यालय, खैरागढ़ में हिंदी विभागाध्यक्ष। प्रकाशन : **कहानी-संग्रह**—मध्यान्तर, स्याही सोख्ते, खानदान में पहली बार। **उपन्यास**—टूटे पुल। **आलोचना**—उपन्यासकार भगवती चरण वर्मा। शीघ्र प्रकाश्य : बेटे को क्या बतलायेंगे—कहानी संकलन और उपन्यास—बाबाजी की जै। कहानी संकलन : स्याही सोख्ते मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् द्वारा पुरस्कृत। यथार्थवादी और प्रगतिशील चेतना के उल्लेखनीय कथाकार।

सत्येन कुमार : 20 अप्रैल 1944, सागर विश्वविद्यालय से फार्मेसी में शिक्षा। वर्षों तक गांधी मेडीकल कालेज भोपाल में अध्यापन। अब स्वतंत्र लेखन। प्रकाशन—**कहानी-संग्रह**—जहाज तथा अन्य कहानियां, बर्फ तथा अन्य कहानियां, एक नाम और तथा अन्य कहानियां। **नाटक**—एक था बादशाह (मंजूर एहतेशाम के साथ) वर्ष 1973 में। जहाज कहानी को 'कहानी' पत्रिका का प्रथम पुरस्कार। जहाज तथा अन्य कहानिया संग्रह, यशपाल पुरस्कार द्वारा सम्मानित। सूक्ष्म ब्यौरों और गहरे निरीक्षण के लिए उल्लेखनीय कहानीकार।

स्वयं प्रकाश : पुरा नाम स्वयं प्रकाश भटनागर। जन्म 20 जनवरी 1947. सम्प्रति राजभाषा अधिकारी। प्रकाशन : **कहानी-संग्रह**—मात्रा और भार, सूरज कब निकलेगा, आसमा कैसे कैसे, **उपन्यास**—ज्योतिरथ के सारथी, जलते जहाज पर, **नाटक**—फीनिक्स, **निबन्ध-संग्रह**—स्वान्तः दुखाय। परमाणु भाई की दुनिया में (वैज्ञानिक बाल उपन्यास)। **अनुवाद**—अनेक भारतीय भाषाओं में। **सम्पादन**—जनवादी पत्रिका 'क्यों'। सूरज कब निकलेगा राजस्थान साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत। हिन्दी कहानी की प्रगतिशील और यथार्थवादी धारा के उल्लेखनीय कथाकार।

मंजूर एहतेशाम : जन्म 3 अप्रैल 1948, स्वतंत्र लेखन। शिक्षा से इंजीनियर। प्रकाशन—रमजान में मौत तथा अन्य कहानियां, कुछ दिन और (उपन्यास) एक था बादशाह-नाटक (सत्येन कुमार के साथ) यथार्थवादी चेतना और गहन-सूक्ष्म निरीक्षण के लिए उल्लेखनीय कथाकार।

धनंजय वर्मा : इस संग्रह के संपादक, 14 जुलाई 1935, एम० ए० पी-एच० डी० मध्यप्रदेश के शासकीय महाविद्यालय में अध्यापन। सम्प्रति प्रोफेसर। प्रकाशन : निराला काव्य और व्यक्तित्व, आस्वाद के धरातल, अंधेरा नगर, हस्तक्षेप, निराला-काव्य : पुनर्मूल्यांकन, आलोचना की रचना-यात्रा, आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय। अंधेरे के वर्तुल। **संपादन**—प्रासंगिक कहानियां, आसपास की दुनिया। 1960 से लगातार कहानी-आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय। नयी कहानी की शुरुआत से कहानी आलोचना को एक रचनात्मक दिशा। "अंधेरा नगर" और "अंधेरे के वर्तुल" रम्य रचनाएं। शेष आलोचना "आस्वाद के धरातल" मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् और "हस्तक्षेप" उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत।

तरंग प्रिंटर्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली द्वारा मुद्रित